प्रवचन प्रभाविका विदुषी श्रमणी रत्न

साध्वी श्री उमरावकँवर जी 'अर्चना'

जन्म : वि० सं० १९७९ भाद्रपद
जन्माष्टमी (१५ अगस्त)
दादिया (किसनगढ़)

दीक्षा : वि० सं० १९९४
मृगसरवदि ११,
नौखा (चांदावतों का)

प्रकाशकीय

महासती उमरावकंवरजी 'अर्चना' का सरल सहज अन्तर्भेदी व्यक्तित्व अपने आप में अद्भुत है। वे कम बोलती हैं, पर सदा मधुर और सन्तुलित। ध्यान योग की विशेष रुचि व साधना के कारण भारत के अनेक जाने-माने साधकों व साधना प्रेमियों से आपके आध्यात्मिक सम्बन्ध हैं, समय-समय पर आप इस विषय की शिक्षा एवं अनुभूत सूचनाएँ भी ध्यान प्रेमियों को देती हैं।

आपश्री स्थानकवासी जैन समाज की एक चिन्तनशील विदुषी साध्वी हैं। महान मनस्वी स्व० मुनि श्री हजारीमल जी महाराज की सन्निधि में आपने गुरुणी श्री सरदार कंवर जी महाराज की नेश्राय में वि० सं० १९९४ में मिगसर बदी ११ (नोखा चांदावतों का) में संयम संकल्प ग्रहण किया था। प्रारम्भ से ही आप प्रखर प्रतिभाशालिनी थीं। गुरुणी जी के सान्निध्य में तथा गुरुदेव श्री हजारीमल जी महाराज, श्री मधुकर मुनि जी महाराज आदि के मार्गदर्शन में आपने जैन न्याय, दर्शन, साहित्य तथा अन्य भारतीय दर्शनों का गम्भीर अध्ययन किया। आपश्री की सौम्य प्रसन्न आकृति में एक साधिका का तेज परिलक्षित होता है। आपकी वाणी में हृदय को स्पर्श करने व प्रभावित करने की अद्भुत क्षमता है। राजस्थान, देहली, पंजाब, हिमाचल प्रदेश और जम्मू-काश्मीर तक आपश्री ने पदयात्राएँ कर सैकड़ों हजारों जनों को सात्विकता, सदाचार के पावन संस्कार प्रदान किये हैं।

प्रस्तुत पुस्तक में आपश्री के २२ प्रवचनों का संकलन है। इनका सम्पादन बहन कमला जैन जीजी तथा श्रीयुत श्रीचन्द जी सुराना ने किया है। इसके पूर्व भी आपश्री के प्रवचनों की अनेक पुस्तकें 'आम्रमंजरी' 'अर्चना और आलोक' आदि बहन कमला जीजी के द्वारा सम्पादित होकर प्रकाशित हुई हैं जिनका अच्छा स्वागत हुआ है।

इस पुस्तक के सम्पादन मुद्रण में निम्न उदार सज्जनों ने सहयोग प्रदान किया है—

(१) महावीर ड्रग हाऊस, बेंगलोर
(२) श्रीमांगीलाल जी सुराना, बुलारम
(३) श्री घेवरचन्द जी पारसमल जी, जोधपुर
(४) श्री फतहचन्द जी दुगड, मद्रास (कुचेरा)

हम भविष्य में भी आप सज्जनों के हार्दिक सहयोग की कामना करते हुए आशा करते हैं, पाठक इसे रुचिपूर्वक पढ़कर प्रेरणा लेंगे।

अमरचन्द मोदी
मन्त्री, मुनिश्री हजारीमल स्मृति प्रकाशन
व्यावर

'अर्चना के फूल' : मेरी दृष्टि में

'अर्चना के फूल' स्थानकवासी जैन समाज की प्रसिद्ध विदुषी महासती श्री उमरावकुँवरजी 'अर्चना' के जीवन और जगत् से सम्बन्धित भव्य, दिव्य आध्यात्मिक प्रवचन-पुष्पों का सुन्दर संकलन है।

मानव-जीवन का चरम लक्ष्य परमात्मा में मिलना है, परमात्मा के चरणों में अपने आपको समर्पित करना है। वास्तव में निष्कपट होकर परमात्मा के चरणों में अपने आपको समर्पित कर देना ही परमात्मा की अर्चना है। योगीश्वर आनन्दघनजी ने परमात्मा की अर्चना का वास्तविक रूप बताते हुए यही कहा है—

'कपट रहित थई आतम-अर्पणा रे,
……'पूजा अखण्डित एह।'

अर्थात् निष्कपट, निःशल्य या कषायरहित होकर आत्मा का परमात्मा के चरणों में अर्पण कर देने से ऐसी अखण्ड परमात्मपूजा, प्रभु की अर्चना होती है।

बहुत-से लोग परमात्मा की पूजा, अर्चा या भक्ति का दिखावा करते हैं, बड़े-बड़े समारोह करके वे परमात्मा की अर्चना की अखण्डितता बताने के लिए सामूहिक अखण्ड कीर्तन, अखण्ड जाप आदि करते हैं, परन्तु उसके साथ सच्चे माने में अर्पणता नहीं होती। या तो प्रसिद्धि या नामना की कामना होती है, या लोकरंजन करके परमात्मा की अर्चना की ओट में अपने किसी स्वार्थ की सिद्धि की जाती है। अतः किसी प्रकार के दम्भ, छल-प्रपंच, मायाजाल या प्रदर्शन आदि से दूर रहकर निष्काम-निःस्वार्थभाव से शुद्ध चेतना का परमात्म चेतना में अर्पित हो जाना—तल्लीन हो जाना ही परमात्मा की सच्ची अर्चना है। सच्चा समर्पण—अप्पाणं वोसिरामि'—अपने आत्मतत्त्व से भिन्न परभाव, जिनको कि साधक अभी तक अपने मानता आया है, उनका व्युत्सर्ग—अन्तःकरण से त्याग करने पर ही आता है।

हाँ, तो परमात्मा की अर्चना के लिए साधनाशील आत्मा को अपनी सुदीर्घ जीवन-यात्रा में किन-किन पुष्पों की साधना के रूप में आवश्यकता है? वे पुष्प किस प्रकार प्रभु के चरणों में प्रभु-अर्चना के हेतु चढ़ाए जाएँ? उन पुष्पों को प्रभु चरणों में चढ़ाने से पहले किस-किस प्रकार की सावधानी की आवश्यकता है? और ये पुष्प परमात्मा की अर्चना के लिए ले जाते समय सुदीर्घयात्रा में मुर्झा न जाएँ, उनकी महक कम न हो जाए, अर्पणता के रूप में प्रभु की अर्चना उन फूलों से भली-भाँति हो जाए, साधक इन सब बातों का विवेक कैसे रख सकेगा? इन सबका सांगोपांग विवेचन 'अर्चना के फूल' में हुआ है।

जैसा कि पुस्तक के नाम से ही प्रगट है कि इसमें 'अर्चना' के लिए कैसे भाव-पुष्पों की आवश्यकता है, इस विषय का तलस्पर्शी प्रतिपादन किया गया है।

प्रभु तक 'अर्चना के फूल' ले जाने की साधक की सुदीर्घ यात्रा उभयमुखी होती है, एक बाह्यमुखी और दूसरी अन्तर्मुखी। यात्रा चाहे बाह्यमुखी हो चाहे अन्तर्मुखी, साधक को सदैव इस बात की सावधानी रखनी होती है कि प्रभु के सान्निध्य में पहुँचने तक उसकी आत्मा इधर-उधर भटके नहीं, भयों और प्रलोभनों से विचलित न हो, अन्यथा उस यात्री की-सी दशा होती है, जो सुख-सुविधा देखकर अपनी यात्रा वहीं स्थगित कर देता है, वह ठिठक कर जम जाता है। ऐसा यात्री लक्ष्य तक पहुँच नहीं सकता। इसी दृष्टि को मद्देनजर रखकर प्रस्तुत प्रवचन संचय को लोक-यात्रा और अन्तर्यात्रा यों दो [illegible] अन्तर्यात्रा [illegible] भाजित करके दोनों ही प्रकार की यात्राओं में आने [illegible] मूलमन्त्र [illegible] के लिए [illegible] से यात्री को सावधान किया गया है।
लो[illegible] जीवन कोष के दिव्यरत्न [illegible] में ११-११ प्रवचन हैं। प्रत्येक प्रवचन
शिक्षा और दीक्षा
परमात्मा की अर्चना [illegible] एक फूल है, जिसको लेकर जीवनयात्री को बड़ी सावधानी से लेकर प्रभु तक पहुँचता है।

सर्वप्रथम लोकयात्रा के अन्तर्गत 'मानव के मूल्यांकन का आधार' शीर्षक प्रवचन है, जिसमें मनुष्य को अपने वास्तविक मूल्यांकन करने का अवसर प्राप्त हो जाता है। उसे यह भान हो जाता है कि मैं किस भूमिका पर हूँ, मेरा कर्तव्य क्या है? तत्पश्चात् जीवनयात्रा में आने वाले संघर्षों से साधक घबराए नहीं, अपनी यात्रा छोड़छाड़ कर बैठ न जाए, इसके लिए 'जीवनयात्रा में संघर्ष—विकास का स्रोत' प्रवचन है। तत्पश्चात् 'सफलता के मूलमंत्र' पर सांगोपांग विवेचन है। तदनन्तर 'जीवनकोष के दिव्यरत्न' से साधक को सुपरिचित कराया गया है। उसके बाद 'शिक्षा और दीक्षा' नामक प्रवचन से शिक्षा के साथ दीक्षा का महत्त्व बताकर साधक को अपने जीवन में सुसंस्कारों, सद्वृत्तियों एवं सत्कार्यों से दीक्षित होने की प्रेरणा दी है। उसके बाद का प्रवचन 'सँभल-सँभल पग धरिये' में साधक को अपनी लोक-यात्रा में प्रत्येक कदम सावधानी से फूंक-फूँककर रखने की प्रेरणा दी गई है। साधक को साधना-यात्रा करते-करते यह भ्रम न हो जाय कि मैं तो बहुत आगे बढ़ गया हूँ, महनीय और पूजनीय हो गया हूँ, मुझे इतने लोग मानते हैं, इन भुलावों में आकर साधक **'प्रगति की पहचान'** यथार्थ रूप में नहीं कर पाता। अतः इसके बाद इसी विषय पर मार्ग निर्देश दिया गया है। तत्पश्चात् 'उन्नति या अवनति?' शीर्षक प्रवचन से महासती जी ने उन्नति और अवनति का यथार्थ माप-दण्ड बताकर साधक को अहंता-ममता से दूर रहने की सलाह दी है। इसके पश्चात् लोकयात्रा में प्रतिदिन आवश्यक पदार्थ **'भोजन, भवन और वसन'** पर जीवनयात्री का क्या दृष्टिकोण रहना चाहिए? इसका सुन्दर विश्लेषण किया गया है। उसके बाद लोकयात्रा में रागद्वेष विजेताओं द्वारा प्ररूपित धर्म और आचार-विचार क्या और

कैसा होना चाहिए ? इस पर सारगर्भित विवेचन है। और अन्त में बाहर और अन्दर की आग के विषय में सुन्दर ढंग से समझाया गया है।

इसके पश्चात् अन्तर्यात्रा पर प्रवचनों का प्रारम्भ होता है—**'आत्मा को जानो'** से, किन्तु अहंकार-ममकार के रूप में **'अपने आपको भूल जाओ'** पर गहराई से विश्लेषण है। तत्पश्चात् दो प्रवचनों में 'अपनी पहचान' पर सम्यग्दर्शन का प्रकाश दिया है। पाँचवें प्रवचन में 'महावीर के अमर सिद्धान्त' पर सारगर्भित विवेचन है। इसके बाद अन्तर्यात्रा में विघ्न डालने वाले अष्टमदों पर **'आत्मविकास का अवरोधक : आठफना मदसर्प'** शीर्षक प्रवचन साधक की आँखें खोल देता है। फिर नाविक की भूमिका साधक को कैं [illegible] विश्लेषण करके [illegible] **'नाविक बनाम प्ररूपक'** नामक प्रवचन में सुन्दर [illegible] रस से ओतप्रोत हैं। केवल ज्ञानय [illegible] में तो साधक के मार्ग में सबसे जबर्दस्त बाधक मो [illegible] क, मनहूस और श्रद्धाहीन—एक [illegible] की दिशा स्पष्ट कर दी है। उसके बाद के [illegible] हुए यही कहा है— [illegible] और कर्मयोग (चरित्र) से साधक का जी [illegible] **अर्पणा रे,** [illegible] गी या स्वार्थी (आत्मार्थ के नाम पर) न बन जाए, इसलि [illegible] कर्मयोग भी आवश्यक है, ताकि तीनों का सन्तुलन बना रहे और साधक साधना से ऊब कर उसे छोड़ न बैठे। इसी दृष्टि से **'सुमिरै ज्यांरा है सांई'** एवं **'शीश में जगदीश देख्या'** ये दो प्रवचन प्रस्तुत हैं। और साधक जीवन में भूलों, गलतियों, दोषों या अपराधों का कदाचित् होना सम्भव है। किन्तु भूल हो जाने पर साधक उसे दोहराता न जाय, वहीं तत्काल उसका परिमार्जन करके आत्मशुद्धि कैसे करे ? इसका सांगोपांग विवेचन अन्तिम प्रवचन 'अपराध और आत्मशुद्धि' में किया गया है।

कुल मिलाकर दोनों यात्राओं के प्रवचन बहुत ही सुन्दर, क्रमबद्ध और सारगर्भित हैं। कहीं-कहीं तो विषय प्रतिपादन इतना अधिक सुन्दर हुआ है कि जीवन-यात्री के लिए सारी सामग्री वहीं प्रस्तुत कर दी है।

प्रवचनों का संकलन-सम्पादन कमला जैन 'जीजी' एवं जैन जगत् के जाने-माने सुप्रसिद्ध सिद्धहस्त लेखक श्री श्रीचन्दजी सुराना 'सरस' के सशक्त हाथों से हुआ है। प्रवचनों की भाषा में लालित्य है, ओज है और प्रवाह है।

जैसा कि विदुषी महासती श्री उमरावकुँवर जी का 'अर्चना' उपनाम है, सचमुच उन्होंने 'अर्चना' के लिए चुन-चुनकर प्रवचन पुष्पों का गुलदस्ता प्रत्येक जिज्ञासु एवं भावनाशील भाई-बहन के लिए प्रस्तुत किया है। प्रत्येक प्रवचन के विषय प्रतिपादन में वे सफल हुई हैं। भविष्य में उनसे और भी आशा है कि वे समाज को अपनी प्रवचनों की प्रभावना से लाभान्वित करेंगी। इसी शुभाशा के साथ—

जैनभवन
मोतीकटरा
आगरा-३ (उ० प्र०)

—मुनि नेमिचन्द्र

अनुक्रमणिका

लोक यात्रा

अन्तर्यात्रा

●●

१

अर्चना के फूल

लोक यात्रा

1

मानव के मूल्यांकन का आधार

क्या मनुष्य मनुष्यतन में मनुष्य ही रहता है ?

आज मैं मनुष्य-जीवन के एक खास पहलू की ओर आपका ध्यान आकृष्ट करना चाहती हूँ। आपसे सबसे पहले यह प्रश्न पूछती हूँ कि क्या मनुष्य मानवतन में रहते हुए मनुष्य ही रहता है, या वह पशु भी बन जाता है अथवा देव भी बन जाता है ? आप कहेंगे कि मनुष्य मानवतन में तो मनुष्य ही है। परन्तु शास्त्र कहते हैं कि मानवशरीर पाकर भी मनुष्य मनुष्य भी रहता है, कभी पशु भी बन जाता है और कभी देव भी बन जाता है। अब विचारणीय यह है कि मनुष्य इन्सान के चोले में देव कब बनता है और पशु कब बनता है ? और जब इन्सान के चोले में मनुष्य देव बन जाता है या पशु बन जाता है तो उसमें कहाँ अन्तर पड़ता है ? शरीर तो वैसा का वैसा ही रहता है, फिर अन्तर कहाँ पड़ता है ?

शास्त्रकार इसका समाधान करते हुए कहते हैं—जब मनुष्य मानव शरीर में रहते हुए पशु या देव बनता है, तब उसके तन में कोई अन्तर नहीं पड़ता, किन्तु उसके मन में अन्तर पड़ जाता है। जिस मनुष्य के मन में जैसे संकल्प-विकल्प उठते हैं, जैसे विचार आते हैं, उसी के अनुसार वह बनता चला जाता है। जैसा मन बनता है, वैसा ही तन पर भी प्रभाव पड़ता है और उसके आसपास के वातावरण पर भी असर पड़ता है। मनुष्य के मन के विचारों के अनुसार ही उसके आसपास स्वर्ग या नरक का वातावरण बनता है।

विचारों की संकीर्णता-विशालता के अनुरूप मानव का मूल्यांकन

जब मनुष्य के विचार अत्यन्त संकीर्ण होते चले जाते हैं, संसार से जब वह सिमटता चला जाता है, अपने उत्तरदायित्वों और कर्त्तव्यों से विमुख होकर केवल अपने शरीर में ही बन्द हो जाता है। इस शरीर की परिचर्या—भूख-प्यास, सर्दी-गर्मी आदि मिटाने में ही तल्लीन हो जाता है, अपने शरीर के सुख-दुःखों को ही सुख-दुःख समझता है, अन्य के दुःखों में संविभागी नहीं होता तो समझना चाहिए, ऐसा मनुष्य मनुष्य के चोले में रहते हुए भी पशु जगत् का प्रतीक है। वह कीड़े-मकोड़ों की-सी जिन्दगी व्यतीत कर रहा है। अपने देहपिण्ड के अलावा उसे किसी और प्राणी का

मान नहीं रहता। किसी अन्य के सुख-दुःख की उसे कोई चिन्ता नहीं है। ऐसा विचार जिस किसी भी मानव में हो, वह पशु है। उसका शरीर मानव का हुआ तो क्या हुआ? वह अकड़ कर या धन की गर्मी से अभिमान में चूर होकर निकले तो भी क्या उसे इन्सान कहा जा सकता है? उनकी आकृति तो मनुष्य की है, परन्तु उनकी प्रकृति पशु की है। वनमानुष भी तो मनुष्य की-सी आकृति के ही होते हैं। इससे क्या हुआ? क्या उनकी प्रकृति में मानुषत्व है? नहीं है।

नारकीय जीवों का आकार भी मनुष्य के आकार से मिलता-जुलता है परन्तु उनकी प्रकृति नारकीय होने से क्या वे मनुष्य कहे जा सकते हैं? मनुष्य की आकृति में रहते हुए भी कई मनुष्य नारकीय प्रकृति के—नारकीय जीवन जीते हैं।

मनुष्य में देवत्व का प्रकाश

देवों की आकृति भी मनुष्य की-सी बताई गई है। परन्तु सवाल तो यह है कि मनुष्य की आकृति में मनुष्य देव का जीवन कैसे बिताता है? जब मनुष्य अपने आप में बन्द नहीं होता, अपने शरीर और स्वार्थ की बात नहीं सोचता, अपने देह की कैद में बन्द नहीं रहता, अपना प्रकाश बाहर फैलाता है, उसके हृदय में करुणा, सहानुभूति, क्षमा, दया आदि दिव्यगुणों की लहरें उठती हैं, तब समझ लेना चाहिए कि मनुष्य के शरीर में रहते हुए भी वह देव है। उसमें देवत्व का प्रकाश हुआ है।

भगवद्गीता में दैवी सम्पदा और आसुरी सम्पदा के गुण बताये गए हैं। वहाँ दैवी सम्पदा के १६ गुण इस प्रकार बताए गए हैं—

> अभयं सत्त्वसंशुद्धिर्ज्ञानयोगव्यवस्थितिः।
> दानं दमश्च यज्ञश्च स्वाध्यायस्तप आर्जवम् ॥१॥
> अहिंसासत्यमक्रोधस्त्यागः शान्तिरपैशुनम्।
> दयाभूतेस्वलोलुप्त्वं मार्दवं ह्रीरचापलम् ॥२॥
> तेजः क्षमा धृतिः शौचमद्रोहो नातिमानिता।
> भवन्ति सम्पदं दैवीमभिजातस्य भारत! ॥३॥

अभय, अन्तःकरण की शुद्धि, ज्ञान-योग में निरन्तर दृढ़ स्थिति, सात्विक दान, इन्द्रियदमन, भगवान और गुरुजनों की पूजा, स्वाध्याय, तपस्या और सरलता, अहिंसा सत्य, क्रोध न करना, त्याग, शान्तिभाव, चुगली (निन्दा) न करना, प्राणियों पर दया, इन्द्रिय-विषयों के प्रति अनासक्ति, मृदुता, लोक एवं शास्त्र से विरुद्ध आचरण में लज्जा, चित्त की चंचलता का अभाव, तेजस्विता, क्षमा, धैर्य, पवित्रता, अद्रोह, अभिमान का त्याग, ये सब हे अर्जुन! दैवी सम्पदा को लेकर उत्पन्न हुए पुरुष के लक्षण हैं।

ये गुण देव बनने के गुण हैं। जो मनुष्याकृति में रहते हुए ही दैवी प्रकृति धारण कर लेते हैं, उनमें ये दिव्य गुण प्रगट हो जाते हैं। वे मनुष्य होते हुए भी देव कहलाते हैं।

परन्तु जब मनुष्य अपने विचारों को संकुचित—सीमित कर लेता है; अपने शरीर के कैदखाने में ही बन्द हो जाता है और जब उसके जीवन में कटुता, घृणा, द्वेष, अहंकार आदि दुर्गुण पैदा हो जाते हैं और जब उसका प्रकाश बाहर नहीं फैलता है, तब समझना चाहिए कि मानव की आकृति में वह पशु का जीवन जी रहा है। उसकी आकृति मनुष्य की है, पर प्रकृति पशु की है। वह दूसरे के लिए कुछ नहीं करता, दूसरों के सुख-दुःख में शामिल नहीं होता।

इमारत बहुमूल्य : पर एक कैदी और एक सम्राट

मान लीजिए—दो इमारतें हैं, एक जेलखाने की इमारत है और दूसरी राजमहल की। दोनों इमारतें बहुत विशाल हैं और गगनचुम्बी भी हैं। प्रत्येक के बनाने में दस-दस लाख रुपये खर्च हुए हैं। यानी दोनों समान कीमत की इमारतें हैं। परन्तु दोनों में रहने वाले दो तरह के मनुष्य हैं। एक में कैदी रहते हैं, एक में राजा रहता है—राजपरिवार रहता है। जो कैदखाने का मकान है, उसमें रहने वाला बन्दी है, कैदी है, पराधीन है। वह स्वतन्त्र नहीं है। राजमहल में रहने वाला स्वतन्त्र कहलाता है, वह बन्दी और कैदी नहीं कहलाता। परन्तु दोनों जगह बन्दूकधारियों का संगीन पहरा है। दोनों जगह पहरेदार तैनात हैं। वे कैदखाने में भी घूमते हैं और महल में भी घूमते हैं। जो लोहे के दरवाजे, राजमहल में हैं, वे ही कैदखाने में हैं। दोनों जगहें बन्दूकधारी पहरेदारों से घिरी हुई हैं। इस दृष्टि से राजा स्वतन्त्र है, क्योंकि वह राजमहल में रहकर भी बाहर रहे हुए मनुष्यों के सुख-दुःख का विचार करता है। राजमहल के सभी द्वार और खिड़कियाँ भले ही बन्द हो जायँ वह अपने मन-मस्तिष्क के द्वार बन्द करके नहीं बैठता। बस, इसी तरह से हमें सोच लेना चाहिए कि जो लोग मनुष्यरूपी श्रेष्ठ इमारत तो पा जाते हैं, बहुत ही मूल्यवान मानव-शरीर उन्हें मिल जाता है, लेकिन उसमें भी वे जेलखाने का-सा जीवन कैदी का जीवन बिता रहे हैं। अपने आप में बन्द होकर अपने शरीर के जेलखाने में बन्द होकर वे जीवन बिताते हैं। शरीर तो उन्हें विशाल मिल गया, लेकिन जिन्दगी बिता रहे हैं कैदी की-सी। जो मनुष्य अपने सीमित विचारों में हैं, जिनके जीवन में कोई महत्वपूर्ण चिन्तन जाग्रत नहीं है, जिनकी आत्मा में विचारों का प्रकाश जगमगाया नहीं है, वे शरीर के बन्दी हैं, कैदी हैं।

दूसरी ओर हम देखते हैं जेलखाने की तरह ही जो राजमहल की विशाल एवं कीमती इमारत है, उसमें भी सम्राट की तरह कई महामानव भी रहते हैं। राम, कृष्ण, बुद्ध और महावीर भी इस शरीर में रहे थे। संसार के विराट् पुरुष भी इस शरीर में रह गये हैं और रहते आए हैं, बताइए क्या वे इस शरीर में कैदी बनकर रहे थे, या राजमहल में रहने वाले सम्राट की तरह स्वतन्त्र रहे थे? आप कहेंगे, वे तो एक सम्राट की तरह शरीर रूपी विशाल राजमहल में रहते थे। जैसे सम्राट की दृष्टि राजमहल में रहकर भी समस्त प्रजा पर फैलती है। उसके विचार केवल अपने

शरीर तक ही सीमित नहीं रहते, बल्कि अपने राजमहल से बाहर सारी प्रजा के सुख-दुःख, हिताहित, कर्तव्याकर्तव्य के बारे में सोचते हैं। वे शरीर रूपी प्रासाद में रह कर भी बाहर फैलते हैं।

इसी विशाल मानवशरीर रूपी राजमहल में कभी-कभी मिथ्यात्व की काली घटाएँ छा जाती हैं, चारों ओर अंधेरा व्याप्त हो जाता है। वह मिथ्यात्व एवं अज्ञान का भयंकर तिमिर सम्यक्त्व रूपी सूर्य को, मानवता के दिनकर को, इन्सानियत की ज्योति को ढक देता है। स्वार्थ, क्रोध, अहंकार, छल, घृणा, द्वेष, वैर-विरोध आदि के भयंकर विचार उसके मन-मस्तिष्क में कोहरे की तरह जम जाते हैं। उस समय आत्मा का प्रकाश उस भयंकर अंधकार से घिर जाता है, जिसके कारण वह कदम-कदम पर ठोकरें खाता रहता है। रास्ता मालूम नहीं पड़ता। इसी अंधकार के दौरान जब विचारों की ज्योति जग उठती है, सत्य के दर्शन करने की लालसा साधक में बलवती हो उठती है, तब जीवन में विचारों का एक प्रकाश फैलता है। उससे जीवन का कोना-कोना जगमगा उठता है। वह प्रकाश केवल उसी तक सीमित नहीं रहता, अपितु बाहर भी फैलता है। वह प्रकाशमान आत्मा जिस परिवार, समाज या राष्ट्र में रहती है, वहाँ भी अपने सुविचारों का प्रकाश फैलाती है। उस उत्तम विचारों के प्रकाश में हजारों लोग यात्रा करते हैं और अपनी मंजिल तय करते हैं। तात्पर्य यह है कि मानवशरीर रूपी राजमहल में रहते हुए भी तथा पहरेदारों से घिरे होते हुए भी एवं उसकी खिड़कियाँ व दरवाजे बन्द होते हुए भी वे महान् पुरुष विचारों की शक्ति से राजमहल के बाहर विशाल विश्व के गगन मंडल में विचरण करते हैं, मुक्त पंछी की तरह विचारों की व्यापक उड़ान भरते हैं। निष्कर्ष यह निकला कि विचारों का ही मूर्त रूप मनुष्यत्व देवत्व या पशुत्व है।

कल्पवृक्ष की तरह विचारों का फल

आपने कल्पवृक्ष तो देखा नहीं है, परन्तु कल्पवृक्ष के बारे में सुना तो जरूर होगा। कल्पवृक्ष क्या है? पुराणों में बताया गया है कि कल्पवृक्ष एक ऐसा वृक्ष होता है, जिसके नीचे बैठकर जो भी विचार किया जाता है, तदनुसार अभीष्ट वस्तु मिल जाती है। वृक्ष का अर्थ तो वृक्ष ही होता है, किन्तु कल्प का अर्थ क्या है? कल्प का मतलब सामान्यतया होता है—कल्पना, विचार, इच्छाशक्ति, संकल्प या विकल्प। दर्शनशास्त्र या मनोविज्ञान का विद्यार्थी जानता है कि जैसा संकल्प होता है, तदनुसार ही मनुष्य बनता है। मनुष्य अपने विचारों का ही प्रतिबिम्ब है, संकल्पशक्ति का पिण्ड है। कल्पवृक्ष में भी तो कल्प शब्द यही द्योतित करता है कि जैसा अच्छा या बुरा कल्प—चिन्तन होगा, तदनुसार ही जीवन-वृक्ष फलित होगा। यानी वैसा ही जीवन बन जाएगा। उसके नीचे जैसी कल्पना करोगे, वैसे ही बन जाओगे। अगर आप कल्पवृक्ष के नीचे जाएँ तो अभीष्ट से अभीष्ट चीज मिल सकती है। सुन्दर स्वादिष्ट भोजन, सुन्दर वस्त्राभूषण आदि सब कुछ कल्पवृक्ष के नीचे चिन्तन करते ही

मिल जाती हैं, ऐसा भारतीय चिन्तन है। अर्थात् जीवन की जो इच्छाएँ हैं, वे वहाँ साकार हो जाती हैं। परन्तु क्या आपके ध्यान में यह बात नहीं आती है कि कल्पवृक्ष के नीचे बैठकर अगर किसी बुरी चीज के लिए इच्छा करेंगे तो वह नहीं मिलेगी ? कल्पवृक्ष के अनुसार तो अवश्य मिलेगी। वहाँ तो कल्प है—अच्छा या बुरा जैसा भी है, वहाँ तो कल्प के अनुसार फल मिलता है। अगर आप वहाँ आकर अच्छा कल्प (विचार) संकल्प करते हैं तो भी वह देगा, और दुर्विकल्प— बुरा कल्प करते हैं तो भी वह देगा। कल्पवृक्ष का काम तो आपके अच्छे या बुरे विचार के अनुसार आपको देना है। वहाँ जाकर किसी को दूध पीने की इच्छा हुई तो दूध भी मिल जाएगा और शराब पीने की इच्छा हुई तो शराब भी मिलेगी। मतलब यह है कि कल्पवृक्ष तो वही देगा, जो आपकी इच्छा है।

पुराणों में कल्पवृक्ष के सम्बन्ध में एक कथा आती है। एक व्यक्ति नन्दनवन में चला गया और कल्पवृक्ष के नीचे जाकर बैठ गया। वहाँ विचार करने लगा कि मुझे जोर की भूख लग रही है, अगर मिष्टान्न मिल जाए तो आज की समस्या तो कम से कम हल हो जाय। उसके मिष्टान्न का विचार करते ही मिष्टान्न आ गया। कुछ देर बाद उसने विचार किया कि यह सब तो ठीक हो गया, लेकिन मेरे कपड़े तो फटे-चिथड़े-से हैं, सुन्दर वस्त्र आ जायें तो अच्छा हो। एक क्षण बाद सुन्दर वस्त्र भी आ गए। उसके बाद उसने जो-जो विचार किया-विकल्प किया—वे सब कुछ पदार्थ उसे प्राप्त हो गए। फिर उसने विचार किया कि "अरे ! कहीं भूत तो नहीं है, जो यह सब लाकर देता है ! भूत होगा भी तो मुझे क्या ?" यह सोचते ही वहाँ भूत आ गया उसे खाने के लिए। वह हक्काबक्का होकर सोचने लगा 'अब क्या करूँ ? कहाँ जाऊँ ? इस कल्पवृक्ष को छोड़कर।' यह सोचते ही कल्पवृक्ष से उसका छुटकारा हो जाता है।

इस पौराणिक कथा में भूत का व्यंग्य हो सकता है। इसमें कथाकार का तात्पर्य यह है कि इस कथा में व्यंग्य जरूर है, पर वह जीवन पर व्यंग्य है। मानव-जीवन को लक्ष्य में रखकर यह व्यंग्य किया गया है। जब तक मनुष्य के मन में सुन्दर संकल्प आए, तब तक तदनुसार भोजन-वस्त्र आदि सब कुछ कल्पवृक्ष ने दिये। परन्तु ज्यों ही विकल्प बदले कि भूत का काम मालूम होने लगा। भूत भी खाने को आ गया। वह भूत विचारों का ही भूत है। खराब विचारों का भूत मन में आता है, तो वह मनुष्य के सुन्दर जीवन को खाने के लिए आता है। हमें शब्दार्थ पर न जा कर उसके भावार्थ पर जाना चाहिए। क्योंकि न तो कल्पवृक्ष आपने देखा है, न हमने। कल्पवृक्ष अज्ञात है, हमारे सामने प्रत्यक्ष नहीं है, तब हम उसके शब्दार्थ पर क्यों जायें ? भावार्थ पर ही हमें विचार करना चाहिए।

हाँ तो, कल्पवृक्ष का भाव क्या है ? यही कि जीवन रूपी नन्दनवन में तुम्हारे संकल्प या दुर्विकल्प की पूर्ति करने वाला कल्पवृक्ष है। अगर तुम्हारा कल्प—संकल्प जैसा है तो तुम्हारे जीवन का निर्माण भी तदनुसार ही होगा। तुम्हें अगर जीवन का

निर्माण करना है तो इस कल्पवृक्ष के नीचे आकर विचार करो कि मुझे क्या बनना है ? मान लो, आपको यह मानवशरीर मिल गया, हृष्टपुष्ट, सुन्दर, स्वस्थ, वज्र-ऋषभनाराच संहनन सरीखा सुदृढ़ ! परन्तु सिर्फ उसके मिलने से क्या हुआ ? आपको इच्छा तो करनी ही पड़ेगी कि मुझे क्या मिलना चाहिए। अगर आपने इच्छा की कि मुझे त्याग, तप मिले तो वह मिल जाएगा। और अगर कोई इच्छा करता है कि मुझे विश्व कल्याण का या सेवा का मार्ग मिले तो उसे तदनुसार मिल जाएगा। संसार के विराट् महापुरुषों को इसी कल्पवृक्ष के नीचे संकल्प करने से क्या नहीं मिल गया ? उन्हें आध्यात्मिक ऊँचाइयाँ मिलीं, विश्व के सभी प्राणियों के साथ आत्मोपम्यभाव मिला। इसके विपरीत रावण को क्या मिला ? वह भी तो इसी कल्पवृक्ष के नीचे बैठा था। उसने यह संकल्प किया कि मैं सीता को उड़ा लाऊँ और तदनुसार उसे सीता भी मिल गई। इसी प्रकार संसार में विशिष्ट शक्तियाँ—कंस, जरासंध दुर्योधन आदि भी आईं और उसी कल्पवृक्ष के नीचे रहीं। उन्होंने जैसा विकल्प किया, तदनुसार वे बन गए। विचारों के कल्पवृक्ष में दैवी शक्ति के भी विचार हैं, आसुरी शक्ति के भी। विचारों के कल्पवृक्ष के नीचे बैठकर मनुष्य चाहे तो देव भी बन सकता है, चाहे तो दानव और चाहे तो पशु भी बन सकता है। कल्पवृक्ष के नीचे बैठकर अगर आप दैवी संकल्प करेंगे तो देव बन जाएँगे और अगर आप दानवी संकल्प करेंगे तो दानव बन जायेंगे। अगर आपके संकल्प पाशविक होंगे तो पशु बन जाएँगे और मानवीय संकल्प होंगे तो मनुष्य हो जाएँगे। सिद्धान्त यह है कि अन्दर के विचारों के प्रकाश में—विचारों के कल्पवृक्ष के नीचे मनुष्य के जिस प्रकार के कल्प, संकल्प और विकल्प होंगे, तदनुसार ही उसके जीवन का उत्थान या पतन हो जाएगा। इस स्थिति पर अगर आप गहराई से सोचेंगे तो आपको विचारों के क्षेत्र का ठीक-ठीक अंदाजा हो जाएगा।

विचार के अनुसार ही आचार बनता है

कुछ लोग कहते हैं कि केवल विचारों से क्या होगा ? आचार भी तो चाहिए। मैं इस बात से सहमत हूँ। परन्तु आचार तभी होगा, जब विचार होगा। बिना विचार के अच्छा या बुरा कोई आचरण हो नहीं सकता। किसी के मन में सेवा के विचार आए, दीन-दुःखियों के प्रति करुणा के विचार आए। क्या आप उन सुविचारों का कुछ भी मूल्यांकन नहीं करेंगे ? माना कि आचार का बहुत बड़ा मूल्य है, किन्तु विचारों का मूल्य भी कम नहीं है। आचार की पवित्रता पर मुहर-छाप कौन लगाता है ? विचार ही तो आचार की पवित्रता को प्रमाणित करते हैं। जैसे विचार होंगे, वैसा ही आचार होगा। अनुभवसिद्ध बात यह है कि जब आप अपने जीवन में यह महसूस करते हैं कि यह मुझसे नहीं होगा तब वहाँ विचारों की शिथिलता ही आपके आचार क्षेत्र में प्रतिबिम्बित हो जाती है। 'विचार तो आते हैं—बीड़ी-सिगरेट छोड़ दें, परन्तु छूटते नहीं।' ऐसा जो कहते हैं—उनके विचार में ही बल नहीं है। अगर प्रबल विचार आए तो तदनुसार आचार बन ही जाता है। अगर एक मनुष्य किसी

मिल जाती हैं, ऐसा भारतीय चिन्तन है। अर्थात् जीवन की जो इच्छाएँ हैं, वे वहाँ साकार हो जाती हैं। परन्तु क्या आपके ध्यान में यह बात नहीं आती है कि कल्पवृक्ष के नीचे बैठकर अगर किसी बुरी चीज के लिए इच्छा करेंगे तो वह नहीं मिलेगी? कल्पवृक्ष के अनुसार तो अवश्य मिलेगी। वहाँ तो कल्प है—अच्छा या बुरा जैसा भी है, वहाँ तो कल्प के अनुसार फल मिलता है। अगर आप वहाँ आकर अच्छा कल्प (विचार) संकल्प करते हैं तो भी वह देगा, और दुर्विकल्प— बुरा कल्प करते हैं तो भी वह देगा। कल्पवृक्ष का काम तो आपके अच्छे या बुरे विचार के अनुसार आपको देना है। वहाँ जाकर किसी को दूध पीने की इच्छा हुई तो दूध भी मिल जाएगा और शराब पीने की इच्छा हुई तो शराब भी मिलेगी। मतलब यह है कि कल्पवृक्ष तो वही देगा, जो आपकी इच्छा है।

पुराणों में कल्पवृक्ष के सम्बन्ध में एक कथा आती है। एक व्यक्ति नन्दनवन में चला गया और कल्पवृक्ष के नीचे जाकर बैठ गया। वहाँ विचार करने लगा कि मुझे जोर की भूख लग रही है, अगर मिष्टान्न मिल जाए तो आज की समस्या तो कम से कम हल हो जाय। उसके मिष्टान्न का विचार करते ही मिष्टान्न आ गया। कुछ देर बाद उसने विचार किया कि यह सब तो ठीक हो गया, लेकिन मेरे कपड़े तो फटे-चिथड़े-से हैं, सुन्दर वस्त्र आ जायें तो अच्छा हो। एक क्षण बाद सुन्दर वस्त्र भी आ गए। उसके बाद उसने जो-जो विचार किया-विकल्प किया—वे सब कुछ पदार्थ उसे प्राप्त हो गए। फिर उसने विचार किया कि "अरे! कहीं भूत तो नहीं है, जो यह सब लाकर देता है! भूत होगा भी तो मुझे क्या?" यह सोचते ही वहाँ भूत आ गया उसे खाने के लिए। वह हक्काबक्का होकर सोचने लगा 'अब क्या करूँ? कहाँ जाऊँ? इस कल्पवृक्ष को छोड़कर।' यह सोचते ही कल्पवृक्ष से उसका छुटकारा हो जाता है।

इस पौराणिक कथा में भूत का व्यंग्य हो सकता है। इसमें कथाकार का तात्पर्य यह है कि इस कथा में व्यंग्य जरूर है, पर वह जीवन पर व्यंग्य है। मानव-जीवन को लक्ष्य में रखकर यह व्यंग्य किया गया है। जब तक मनुष्य के मन में सुन्दर संकल्प आए, तब तक तदनुसार भोजन-वस्त्र आदि सब कुछ कल्पवृक्ष ने दिये। परन्तु ज्यों ही विकल्प बदले कि भूत का काम मालूम होने लगा। भूत भी खाने को आ गया। वह भूत विचारों का ही भूत है। खराब विचारों का भूत मन में आता है, तो वह मनुष्य के सुन्दर जीवन को खाने के लिए आता है। हमें शब्दार्थ पर न जा कर उसके भावार्थ पर जाना चाहिए। क्योंकि न तो कल्पवृक्ष आपने देखा है, न हमने। कल्पवृक्ष अज्ञात है, हमारे सामने प्रत्यक्ष नहीं है, तब हम उसके शब्दार्थ पर क्यों जायें? भावार्थ पर ही हमें विचार करना चाहिए।

हाँ तो, कल्पवृक्ष का भाव क्या है? यही कि जीवन रूपी नन्दनवन में तुम्हारे संकल्प या दुर्विकल्प की पूर्ति करने वाला कल्पवृक्ष है। अगर तुम्हारा कल्प—संकल्प जैसा है तो तुम्हारे जीवन का निर्माण भी तदनुसार ही होगा। तुम्हें अगर जीवन का

निर्माण करना है तो इस कल्पवृक्ष के नीचे आकर विचार करो कि मुझे क्या बनना है ? मान लो, आपको यह मानवशरीर मिल गया, हृष्टपुष्ट, सुन्दर, स्वस्थ, वज्र-ऋषभनाराच संहनन सरीखा सुदृढ़ ! परन्तु सिर्फ उसके मिलने से क्या हुआ ? आपको इच्छा तो करनी ही पड़ेगी कि मुझे क्या मिलना चाहिए। अगर आपने इच्छा की कि मुझे त्याग, तप मिले तो वह मिल जाएगा। और अगर कोई इच्छा करता है कि मुझे विश्व कल्याण का या सेवा का मार्ग मिले तो उसे तदनुसार मिल जाएगा। संसार के विराट् महापुरुषों को इसी कल्पवृक्ष के नीचे संकल्प करने से क्या नहीं मिल गया ? उन्हें आध्यात्मिक ऊँचाइयाँ मिलीं, विश्व के सभी प्राणियों के साथ आत्मौपम्यभाव मिला। इसके विपरीत रावण को क्या मिला ? वह भी तो इसी कल्पवृक्ष के नीचे बैठा था। उसने यह संकल्प किया कि मैं सीता को उड़ा लाऊँ और तदनुसार उसे सीता भी मिल गई। इसी प्रकार संसार में विशिष्ट शक्तियाँ—कंस, जरासंध दुर्योधन आदि भी आईं और उसी कल्पवृक्ष के नीचे रहीं। उन्होंने जैसा विकल्प किया, तदनुसार वे बन गए। विचारों के कल्पवृक्ष में दैवी शक्ति के भी विचार हैं, आसुरी शक्ति के भी। विचारों के कल्पवृक्ष के नीचे बैठकर मनुष्य चाहे तो देव भी बन सकता है, चाहे तो दानव और चाहे तो पशु भी बन सकता है। कल्पवृक्ष के नीचे बैठकर अगर आप दैवी संकल्प करेंगे तो देव बन जाएँगे और अगर आप दानवी संकल्प करेंगे तो दानव बन जायेंगे। अगर आपके संकल्प पाशविक होंगे तो पशु बन जाएँगे और मानवीय संकल्प होंगे तो मनुष्य हो जाएँगे। सिद्धान्त यह है कि अन्दर के विचारों के प्रकाश में—विचारों के कल्पवृक्ष के नीचे मनुष्य के जिस प्रकार के कल्प, संकल्प और विकल्प होंगे, तदनुसार ही उसके जीवन का उत्थान या पतन हो जाएगा। इस स्थिति पर अगर आप गहराई से सोचेंगे तो आपको विचारों के क्षेत्र का ठीक-ठीक अंदाजा हो जाएगा।

विचार के अनुसार ही आचार बनता है

कुछ लोग कहते हैं कि केवल विचारों से क्या होगा ? आचार भी तो चाहिए। मैं इस बात से सहमत हूँ। परन्तु आचार तभी होगा, जब विचार होगा। बिना विचार के अच्छा या बुरा कोई आचरण हो नहीं सकता। किसी के मन में सेवा के विचार आए, दीन-दुःखियों के प्रति करुणा के विचार आए। क्या आप उन सुविचारों का कुछ भी मूल्यांकन नहीं करेंगे ? माना कि आचार का बहुत बड़ा मूल्य है, किन्तु विचारों का मूल्य भी कम नहीं है। आचार की पवित्रता पर मुहर-छाप कौन लगाता है ? विचार ही तो आचार की पवित्रता को प्रमाणित करते हैं। जैसे विचार होंगे, वैसा ही आचार होगा। अनुभवसिद्ध बात यह है कि जब आप अपने जीवन में यह महसूस करते हैं कि यह मुझसे नहीं होगा तब वहाँ विचारों की शिथिलता ही आपके आचार क्षेत्र में प्रतिबिम्बित हो जाती है। 'विचार तो आते हैं—बीड़ी-सिगरेट छोड़ दें, परन्तु छूटते नहीं।' ऐसा जो कहते हैं—उनके विचार में ही बल नहीं है। अगर प्रबल विचार आए तो तदनुसार आचार बन ही जाता है। अगर एक मनुष्य किसी

परिस्थितिवश किसी चीज को छोड़ नहीं सकता तो कोई बात नहीं, अगर वह प्रतिदिन यह विचार ही करता है कि मुझे एक न एक दिन इस चीज को अवश्य ही छोड़ना है, तो यह भी ठीक है। पर मनुष्य विचार तो छोड़ने का करे नहीं, और बात चलने पर कहता रहे कि मैं विचार तो करता हूँ, इस चीज को छोड़ने का, पर यह छूटती नहीं है। तो समझ लेना चाहिए कि वह विचार नहीं करता, विचारों का बहाना मात्र करता है।

समाज, राष्ट्र या विश्व में जो भी गलत कार्य हैं—बुरी प्रथाएँ, कुरूढ़ियाँ या बुरे विचार हैं, वे चाहे सामाजिक क्षेत्र में हों, राष्ट्रीय क्षेत्र में हों या पारिवारिक क्षेत्र में, अथवा वे आध्यात्मिक क्षेत्र में हों, अगर आप उन्हें छोड़ना चाहते हैं, तहेदिल से उनका त्याग करना चाहते हैं, तो उसे छोड़ने का संकल्प करें उनके त्याग का विचार करें और मन में श्रद्धा रखें, उनके छोड़ने का उपाय सोचें, तथा उसका त्याग का महत्त्व और स्वरूप जानें तो एक दिन वह विचार आचार में परिणत होकर ही रहेगा। भारत का दर्शन कहता है कि अगर आपने विचार भी कर लिया तो एक मोर्चा तो फतह हो ही गया। यानी किले का सिंहद्वार तो टूट चुका है। उसके बाद छोटे-मोटे किवाड़ों को टूटने में देर नहीं लगेगी। अगर मनुष्य किसी चीज को छोड़ता है, और छोड़ता है बिना ही विचार किये। किन्तु क्या आपके दर्शनशास्त्र उसे वास्तव में छोड़ देना कहते हैं ? या उसे त्याग करना कह सकते हैं ?

विचारहीन आचार व्यर्थ है

पशु या कीट-पतंगे क्या सिनेमा देखते हैं, बीड़ी-सिगरेट पीते हैं ? अथवा वे कौन-सी चोरी करते हैं ? वे इन सब चीजों को छोड़े हुए हैं, तो क्या वे त्यागी कहे जायेंगे ? आप अगर बिना विचार के ही आचार को मानते हैं तो आपकी दृष्टि में क्या ये पशु, कीड़े-मकोड़े आदि सब त्यागी हैं ? क्योंकि उनके जीवन में ये सब चीजें छूटी हुई तो हैं ? इसलिए सिद्धान्त यह है जब तक विचारपूर्वक त्याग न हो, तब तक उसे आचार की संज्ञा नहीं दी जा सकती।

विचारहीन त्याग, त्याग नहीं

भगवान महावीर से पूछा गया कि त्यागी कौन है, अत्यागी कौन है ? तब उन्होंने कहा—

> वत्थगन्धमलंकारं इत्थीओ सयणाणि य।
> अच्छंदा जे न भुंजंति न से चाइत्ति वुच्चई॥
> जे य कंते पिए भोए लद्धे विपिट्ठीकुव्वई।
> साहीणे चयइ भोए, से हु चाइत्ति वुच्चइ॥

वस्त्र, सुगन्धित पदार्थ, आभूषण, स्त्रियाँ, शय्या आदि का जो स्वतन्त्रतापूर्वक उपभोग नहीं कर सकता, वह त्यागी नहीं कहलाता। त्यागी वही कहलाता है, जो

कान्त, प्रिय, मनोज्ञ भोगों को प्राप्त होने पर भी उनकी ओर पीठ कर लेता है, अपनी इच्छा से—स्वतन्त्रतापूर्वक छोड़ता है।

जेलखाने में कैदी को जबरन कई चीजें छोड़नी पड़ती हैं, भोजन भी छोड़ना पड़ता है, किन्तु जबरन छुड़ाया जाता है, वह अपनी इच्छा से स्वतन्त्रतापूर्वक छोड़ता नहीं है, इसलिए उन वस्तुओं का त्यागी नहीं कहलाता; किन्तु निःस्पृह साधु-साध्वियों के सामने कई चीजें पड़ी रहती हैं, परन्तु वह उन्हें आँख उठाकर देखते भी नहीं, मन से भी उन्हें प्राप्त करना नहीं चाहते, वह स्वतन्त्रतापूर्वक अपनी इच्छा से उन मनोज्ञ वस्तुओं का त्याग करते हैं, इसलिए वह त्यागी कहलाते हैं। संसार में हजारों लोग ऐसे हैं, जिन्हें संसार के ऐश्वर्य, भोग्यसाधन आदि प्राप्त नहीं होते तो क्या वे त्यागी कहे जाएंगे ? कदापि नहीं। क्योंकि वे अपनी इच्छा से—संकल्पपूर्वक किसी चीज का त्याग नहीं करते।

संकल्पपूर्वक ही दानादि होते हैं

कभी-कभी ऐसा भी होता है कि किसी चीज को छोड़ने का संकल्प ही पैदा नहीं होता और चीज अपने आप ही छूट जाती है। कभी किसी चीज को छोड़ने का संकल्प तो नहीं आता है, किन्तु अंगविकलता या रुग्णता आदि परिस्थितिविशेष से उस चीज का उपभोग वह नहीं कर सकता, तो क्या इसे हम त्याग का आचार कहेंगे ? त्याग उसे कहेंगे, जिसमें पहले संकल्प हो। दान करने का विचार होता है, तो पहले दान का संकल्प किया जाता है, तब दान किया जाता है।

एक सेठ थे, उन्हें एक बार कहीं जाते समय रास्ते में जंगल में एक पण्डित मिल गये। पण्डितजी से उन्होंने कहा—"पण्डितजी ! मुझे अपनी हवेली दान करनी है।" पण्डित ने कहा—"तो सेठजी ! हाथ में जल लेकर संकल्प कर लो।" सेठ ने संकल्प कर लिया तो एक तरह से तो दान हो गया। आप कहेंगे, "अभी दिया तो है नहीं, संकल्प करने से क्या हुआ ?" परन्तु भारतीय धर्मों में जो कुछ भी दान दिया जाता है उसके पहले संकल्प किया जाता है। किसी संस्था के लिए दान की अपील होती है तो तुरन्त नहीं निकालकर दिया जाता। पहले वचन दिया जाता है—"हमारे इतने लिख लो।" दान की फहरिश्त में जो-जो दाता जितने-जितने देने का वचन देता है, उसकी उतनी-उतनी राशि लिख ली जाती है। यह एक प्रकार का संकल्प ही है। विवाह के समय लड़की का पिता कन्यादान का संकल्प करता है और कन्या पत्नी बनकर अपने पति के साथ एक घर से दूसरे घर में पहुँच जाती है। निष्कर्ष यह है कि संकल्प की भूमिका—विचारपूर्वक आचार की भूमिका होती है। संकल्प में विचार पहले होता है, आचार बाद में। बिना विचार के किया गया आचार अनाचार कहलाएगा। इसीलिए हमारे यहाँ कहा गया है कि आचार विचारों के द्वार से होकर जीवन में प्रविष्ट होना चाहिए। आप घर में प्रवेश करते हैं तो द्वार में से होकर ही प्रवेश करेंगे। आप द्वार में से प्रवेश किये बिना केवल दीवार या ऊँची

खिड़कियों में से होकर प्रवेश नहीं करते। जो द्वार से प्रवेश किये बिना केवल खिड़कियों से उछल कर प्रवेश करता है, तो वह चोर कहलाता है। इसी प्रकार जो आचार विचारों में नहीं आया है, वह यों ही कूद कर घुसा हुआ आचार है। इस प्रकार का आचार विचारों के द्वार से नहीं आकर भय से, आतंक से या आवेश से या और किसी तमन्ना से फूट पड़ा है।

जैनदर्शन की दृष्टि से भी देखा जाय तो सम्यग्दर्शन से युक्त चारित्र ही सम्यग्चारित्र कहलाता है। जो चारित्र (आचार) सम्यग्दर्शन से युक्त नहीं है, वह मिथ्याचारित्र या कुचारित्र कहलाता है। मुक्ति का द्वार खोलने वाला सम्यग्दर्शन—सम्यक्त्व है। उसके बाद ही सम्यग्चारित्र कृतकार्य होता है।

इसीलिए कहा गया है कि जो भी व्रत, नियम, प्रत्याख्यान, धर्मक्रिया या धर्माचरण हों, वे सम्यग्दर्शन से युक्त होने चाहिए, तभी वे आचार सम्यग् कहलाएँगे, और मुक्ति के साधन कहलाएँगे।

व्रत-नियमादि के पौधे को विचारों जल से सींचो

आपने एक पौधा लगाया है, परन्तु आप अगर उस पौधे को समय पर नहीं सींचते हैं तो उसका क्या हाल होगा? वह पौधा मुर्झा जाएगा, सूख जाएगा और एक दिन खत्म हो जाएगा। इसी प्रकार आपने कोई व्रत या नियम ले लिया, लेने के बाद आप उसे संभालें ही नहीं, या उसके सम्बन्ध में कोई विचार ही न करें कि मैंने जो पौधा व्रत या नियम का लगाया है, उसमें कोई कीड़ा (अतिचार का) तो नहीं लग गया है, उसे विचारों के जल से सींचा गया है या नहीं? या उसे पाला या अत्यन्त गर्मी तो नहीं लग गई? हमारे यहाँ हर त्याग-प्रत्याख्यान के साथ उसको संभालने की विधि भी बताई गई। पौषध, व्रत या उपवास का पारणा करते हैं तो वह पाठ बोला जाता है—"....फासियं, पालियं, तीरियं, किट्टियं, सोहियं, आराहियं, अणुपालियं न भवइ, तस्स मिच्छामि दुक्कडं"।

अर्थात्—"पौषध, व्रत, नियम आदि का मैंने स्पर्श न किया हो, पालन न किया, सम्यक् प्रकार से पार न लगाया हो, उसका कीर्तन (महत्त्व-गुणगान) न किया हो, शुद्ध न रखा हो, आराधना नहीं की हो, अनुपालन सम्यक् प्रकार से न किया हो तो उसका दुष्कृत मेरे लिए मिथ्या हो।"

इस पाठ से ध्वनित होता है कि जो भी नियम, व्रत, क्रिया, आचार आदि हों उन्हें केवल ले लेने मात्र से कुछ नहीं होता, अपितु उसे बार-बार सुन्दर शुद्ध विचारों से, श्रद्धा से प्रोत्साहन देना चाहिए। बार-बार सुन्दर विचारों का जल सींचने से ही वह नियमादि का पौधा सुरक्षित रह सकता है। अगर व्रत नियमादि के पौधे को सुन्दर विचार, पवित्र वाचन, मनन, सत्संग, प्राचीन आचार्यों के ग्रन्थों के अध्ययन का जल नहीं मिलता है तो वह सूख जाएगा। यही बात व्यक्तिगत जीवन के सम्बन्ध में है। आप विचारपूर्वक कोई भी प्रतिज्ञा तो ले लेते हैं, किन्तु ले लेने के बाद

उसे याद ही नहीं करते, साल-दो साल बीत गये, फिर उसकी हालत क्या होगी ? उस प्रतिज्ञा को आप एक तरह से विस्मृत ही हो जाएँगे। यदि धुंधली-सी स्मृति रही तो भी आपको प्रतिज्ञा का पूरा रूप याद नहीं रहेगा। इसीलिए भारत के धर्म गुरु या धर्म प्रतिज्ञा आमसभा में या समूह में लेने पर जोर देते हैं, ताकि उस प्रतिज्ञा को भंग करने का विचार न आए। हिन्दू विवाह पद्धति में यह विधान है कि पंचों की साक्षी में अग्निदेव, पुरोहित एवं वर-कन्यापक्ष के सम्बन्धियों की साक्षी में विवाह विधि सम्पन्न होती है। किन्तु व्रत या प्रतिज्ञा लेने के बाद उसे प्रतिदिन दोहराने का रिवाज जैनधर्म के विधानों में तो है ही, अन्य धर्मों के विधानों में भी है। कई दफा आवेश में आकर व्रत, नियम या प्रतिज्ञा ले ली जाती है, लेकिन उसके बाद वह सालभर तक उसे याद ही नहीं करता। मैं पूछती हूँ कि यह प्रतिज्ञा है या प्रतिज्ञा की मजाक ? इसीलिए सामायिक व्रत के अतिचारों में एक अतिचार है—'**सामाइयस्स सइ अंतरद्धा**' सामायिक की स्मृति न होना। सामायिक तो ले ली, पर उसका स्मरण ही न रहना कि मैंने सामायिक व्रत लिया है। कभी-कभी किसी निकम्मी चीज या फालतू पदार्थ जो कभी काम में नहीं आता है, जिससे बिलकुल अरुचि है—घृणा है, उसका नियम ले लिया जाता है। फिर उस नियम को याद भी नहीं किया जाता कि मैंने अमुक समय अमुक नियम लिया था। अतः व्रत, नियम, प्रतिज्ञा आदि के ग्रहण करने के बाद अगर उसका बार-बार स्मरण, चिन्तन, प्रतिक्रमण, आलोचन आदि करके उसके पीछे विचारों के प्रकाश को सुरक्षित नहीं रखते हैं तो उस व्रत-नियमादि के प्राण निकल जाएँगे, केवल कलेवर रह जाएगा। उस गृहीत व्रत, नियम या प्रतिज्ञा को विस्मृत कर देने से उसमें अतिचार, अश्रद्धा एवं अप्रीति का कीड़ा लग जायेगा।

वृक्षारोपण की सफलता सार-संभाल पर

आजकल वृक्षारोपण जगह-जगह सरकार की ओर से किया जाता है। परन्तु सरकारी कामों में आप जानते ही हैं, बहुत अन्धेरगर्दी चलती है। हजारों वृक्ष लगाए तो जाते हैं, उद्घाटन समारोह के समय फोटो खिचवा लिया जाता है और समाचार-पत्रों के पन्नों पर उसके समाचार और चित्र भी आ जाते हैं, लेकिन उसके बाद उन वृक्षों को कोई संभालता नहीं है, न उन पौधों की सुरक्षा होती है, वे यों ही खत्म हो जाते हैं, वृक्षारोपण जहाँ हुआ था, वहाँ कुछ ही दिनों बाद देखते हैं तो धरती नंगी की नंगी दिखाई देती है।

नियमों को लादने की अपेक्षा विचारशुद्धि आवश्यक

आजकल प्रत्येक धर्म के अनुयायियों में बहुत बड़ी गड़बड़ी चल रही है। वह यह कि नियम तो बहुत-से ले लिये जाते हैं, प्रतिज्ञाएँ भी लाद ली जाती हैं। बात चलती है तो उन नियमों और प्रतिज्ञाओं का लम्बा-चौड़ा विज्ञापन भी किया जाता है, लेकिन उनके आचरण और रक्षण के नाम पर वही ढाक के तीन पात हैं। इसकी अपेक्षा मैं कहती हूँ कि वे थोड़े-से नियम लें, लेकिन उन्हें बार-बार स्मरण करें, उनको

निरन्तर शुद्ध विचारों से सींचे, उनका संरक्षण किया करें एवं निरीक्षण-परीक्षण करते रहा करें कि कहीं उनमें अतिचारों या दोषों का कीड़ा तो नहीं लग गया है या उन्हें गलत विचारों से बचाने की कोशिश किया करें। वे व्रत-प्रतिज्ञाएँ चाहे साधारण ही होंगी, किन्तु होंगी बहुत ही महत्त्वपूर्ण एवं महान। जैसे कोई व्यक्ति हजारों वृक्षों का बाग लगाता है, परन्तु एक व्यक्ति सिर्फ एक कल्पवृक्ष लगाता है तो उसी से संसार भर के वृक्षों के फल प्राप्त हो सकते हैं, जबकि उन हजारों वृक्षों से जो फल प्राप्त होंगे, वे केवल वनस्पति जन्य और गिनती के ही प्राप्त होंगे।

विचारों से ही देव, दानव, मानव और पशु

इसलिए मैं बार-बार यही कह रही हूं, आप अपने विचारों से ही देव बनेंगे, विचारों से ही दानव और पशु। अगर आप अच्छे विचारों पर सुदृढ़ हैं तो बाहर से चाहे जितने झंझावात आएँ, तूफान आएँ, कितनी ही आलोचना की आँधियाँ चलें, आप अपने प्रण, आचरण और कर्तव्य से हटेंगे नहीं, अपने देवत्व या मनुजत्व पर स्थिर रहेंगे और एक दिन देव अथवा सच्चे मानव के रूप में प्रतिष्ठित हो जाएंगे। लड़ाई की हार, इतनी हार नहीं; विचारों की हार ही सबसे बड़ी हार है। आदमी संसार के मैदान में तभी टिक सकता है, अपने देवत्व अथवा मनुजत्व पर भी तभी स्थिर रह सकता है, जब उसके विचार तेज-तर्रार और सुदृढ़ होंगे। विचारों का वैभव बाह्य वैभव से कई गुना अधिक महत्त्वपूर्ण है।

महाराणा प्रताप बाहर से तो हताश और निराश हो गए थे। मेवाड़ की स्वतन्त्रता का सूर्य अस्त होने को था। परन्तु महाराणा की टेक इतनी जबर्दस्त थी कि "मैं मर मिटूं, मुझे दर-दर जंगल-जंगल भटकना पड़े, मैं स्वयं बादशाह के अधीन नहीं होऊँगा। मैं अपनी अखण्ड स्वतन्त्रता को नहीं बेचूंगा। न मैं किसी से प्राणों की भीख मागूंगा और न ही और किसी सांसारिक पदार्थ का दान मांगूंगा।" यह विचारों का ही अखण्ड तेज था, जिसने महाराणा प्रताप को अपनी आन, बान और शान पर टिकाए रखा। अन्यथा कोई दूसरा होता तो कभी का गुलामी स्वीकार कर लेता, बादशाह से राज्य या धन की याचना कर लेता अथवा व्यक्तिगत संकट से बचने के लिए देश की स्वतन्त्रता को ताक में रख देता।

हाँ, तो निष्कर्ष यह निकला कि मनुष्य मनुष्य भी है, पशु भी है, देव भी है, दानव भी है। परन्तु वह केवल शरीर से देखा-परखा जाय तो मानव ही दिखाई देगा, असलियत को परखना हो तो उसके विचारों को परखो-देखो, उसके विचारों की जांच करो। वह अपने सुविचारों पर कितनी मजबूती से पैर जमाए रहता है?

वह कठिन परिस्थितियों में, झंझावातों में अपने विचारों पर कितना सुदृढ़ रहता है यही मनुष्य को नापने का थर्मामीटर है।

विचार के क्षेत्र में पराजित न हों

जैनशास्त्र कहते हैं कि मनुष्य आचार के क्षेत्र में चाहे एक, दो या तीन

जन्म तक पराजित हो जाए, परन्तु विचारों के क्षेत्र में पराजित न हो, यही उसे मनुष्यत्व से ऊपर उठाने का सूत्र है। मगध सम्राट् श्रेणिक ने जब भगवान् महावीर से अपने अन्धकारपूर्ण भविष्य के विषय में सुना तो वह फूट-फूट कर रोने लगा। भगवान् महावीर ने उसे आश्वासन देते हुए कहा—"राजन्! नरक की यातना का विचार करके रोओ मत! तुम्हारे पास तो नरक में भी उत्तम विचारों (सम्यग्दर्शन) का प्रकाश सुदृढ़ रहेगा। वहाँ जाकर भी तुम्हें तो कर्मों का क्षय करना है। नरक भी तुम्हारे लिए मुक्ति का द्वार खोलने वाला बनेगा, क्योंकि वहाँ क्षायिक सम्यग्दर्शन के प्रभाव से तुम्हारे कर्म क्षय होंगे और नरक के बाद फिर तुम तीर्थंकर बनकर संसार सागर से स्वयं तरोगे और असंख्य प्राणियों को तारोगे। परमेश्वर बनने का मार्ग तुम्हारे लिए वहाँ भी खुला है। चिन्ता न करो। अपने विचारों को हीन मत बनने दो। चाहे स्वर्ग में जाओ, चाहे नरक में; अपने विचारों को निम्नस्तर के, संकीर्ण और क्षुद्र मत बनने दो। आचार में चाहे गलतियाँ हो जाएँ और उसके कारण चाहे तुम्हें संसार में भटकना पड़े, अथवा कठिनाइयाँ झेलनी पड़ें, परन्तु अपने सुविचारों को गलत मत होने दो। अपने विचारों को नीचे मत गिराना। जीवन एक कमरा है। कमरा जैसे गन्दे पैर या मिट्टी लगे पैर से आने पर गन्दा हो जाता है, किन्तु वह पुनः झाड़ू देकर तथा पानी छींट कर साफ-स्वच्छ कर लिया जाता है, वैसे ही जीवन रूपी कमरे में भी कहीं आचरण की गन्दगी या मिट्टी आ जाय तो उसे विचारों के स्वच्छ जल से या विचारों के पवित्र झाड़ू से साफ किया जा सकता है। सम्भव है, एक बार साफ करने के बाद भी पुनः पुनः तुम्हारा जीवन रूपी कमरा गंदा हो जाय, मगर बाहोश होकर बार-बार विचारों और दृष्टि की सफाई करते रहने से वह स्वच्छ रहेगा। आचारशुद्धि का सारा दारोमदार विचारशुद्धि पर है। इसलिए महापुरुषों ने मानव को सम्बोधित करते हुए कहा है—

प्रत्यहं प्रत्यवेक्षेत नरश्चरितमात्मनः।
किन्नु मे पशुभिस्तुल्यं किन्नु सत्पुरुषैरिव ॥

मनुष्य को अपने चरित्र का प्रतिदिन निरीक्षण-परीक्षण करते रहना चाहिए कि मेरा कौन-सा आचरण पशुओं के तुल्य है और कौन-सा सत्पुरुषों—देवों के तुल्य है। अगर आपके विचार अहिंसा, दया, क्षमा, करुणा आदि के भावों से ओतप्रोत रहे तो आचरण भी आपका गन्दा होने पर पुनः इन शुद्ध विचारों से स्वच्छ किया जा सकेगा। और आप या तो देवत्व की कोटि में प्रतिष्ठित हो जायेंगे, या फिर मनुष्यत्व की कोटि में परिगणित हो जाएँगे। □

2

जीवनयात्रा में संघर्ष : विकास का स्रोत

जीवन में संघर्ष अवश्यम्भावी

मनुष्य का जीवन जन्म से लेकर मृत्यु तक संघर्षमय होता है। बिना संघर्ष के कोई जीवन नहीं होता। जब जन्म होता है, तब भी माता से उदर से प्रसव होते समय अत्यन्त संघर्ष होता है। उसके बाद बालक जब दूध पीने लगता है, तब भी माता के साथ संघर्ष करता है। भूख लगती है, तब रोने लगता है। उसके बाद घुटनों से चलने लगता है, तब भी उसे जोर लगाना पड़ता है। अपने पैरों पर खड़ा होने लगता है, तब भी उसे प्रकृति के विरुद्ध संघर्ष करना पड़ता है। जब बोलने लगता है, पढ़ना-लिखना शुरू करता है, पढ़-लिखकर जीविकोपार्जन के किसी कार्य में प्रवृत्त होता है, अथवा युवा होकर विवाह करता है, बाल-बच्चे होते हैं, उनके पालन-पोषण, शिक्षा-दीक्षा के लिए प्रवृत्त होता है, उसके बाद अधेड़ और क्रमशः वृद्ध होता है, तब तक सभी कार्यों में संघर्ष करना पड़ता है।

मनुष्य के सामने संघर्ष पद-पद पर आते रहते हैं, अनेक द्वन्द्व खड़े होते रहते हैं। ऐसा नहीं हो सकता कि मनुष्य अपनी ज़ीवन-यात्रा में चलता चला जाय और कोई संघर्ष न आए, हर जगह फूल ही फूल बिछे हुए मिलें। मनुष्य जीवन में हर मोड़ पर चिन्ता, द्वन्द्व, कष्ट, दुःख, विपत्ति, भय, घबराहट आदि के रूप में संघर्ष आते रहते हैं। ऐसा नहीं होता कि मनुष्य के सामने हर जगह सभी प्रश्न सुलझे हुए मिलें, सभी जगह लोग हाथ जोड़ें और स्वागत-सत्कार करते हुए खड़े हुए मिलें कि आपका सब काम तैयार है, आपको कुछ नहीं करना है। हर जगह आनन्द के द्वार खुले हुए नहीं मिलते। हम देखते हैं कि बचपन से लेकर बुढ़ापे तक मनुष्य को अनेक संकटों और द्वन्द्वों का सामना करना पड़ता है।

संघर्षों पर विजय पाने का तरीका

प्रश्न यह है कि जब-जब संघर्ष और द्वन्द्व सामने हों, तब-तब किस प्रकार हम अपना जीवन व्यतीत करें, किस पथ से चलकर अपनी जीवनयात्रा को सुखद बनाएँ? संघर्ष और द्वन्द्व के क्षणों में हम किस प्रकार मोर्चे पर डटे रहें? संघर्षों और तूफानों में डटकर हम अपना रास्ता बदल दें अथवा संघर्षों से लड़ें और उन पर विजय प्राप्त

करें ? संघर्षों के साथ लड़ने में भी यदि व्यक्ति अच्छा लड़वैया नहीं है, संघर्ष से युद्ध करने का तरीका नहीं जानता है, तो उसकी विजय हो नहीं सकेगी। संघर्ष और द्वन्द्व उस पर हावी होते जाएँगे और उसे दबाते ही चले जाएँगे। किन्तु दूसरी ओर यदि व्यक्ति संघर्षों से दबकर, डरकर और हार कर बैठ जाता है, उनके सामने घुटने टेक देता है, उनसे घबरा कर मन में झूठा सन्तोष मानकर चुपचाप निवृत्त हो जाता है तो उसका नतीजा क्या आता है ? कवि के शब्दों में सुनिए—

जीवन है संग्राम, बंदे ! जीवन है संग्राम !
जन्म लिया तो जी ले बन्दे ! डरने का क्या काम ? ॥टेर॥
जो डरता सो मरता बन्दे, जो लड़ता कुछ करता, बन्दे !
जो रोना था, क्यों आया तू, जीवन के मैदान ?
सेज नहीं फूलों की दुनिया, है काँटों की खान ॥बन्दे०॥१॥
सुख-दुःख है नित का नाता, एक है आता, एक है जाता।
सर्दी-गर्मी, वर्षा-सूखा, रैन-दिनों का ताँता॥
खेल खिलाड़ी ले पासा तू, चल जीवन के मैदान ॥बन्दे०॥२॥

कितनी सुन्दर और युक्तिसंगत बात कही है। कवि ने यह बात भावुकता में आकर नहीं कही है, अनुभवों की आँच में तपी हुई बात है यह ! जो जीवन-संग्राम से डर कर भाग जाता है, उसके पल्ले क्या पड़ता है ? कुछ भी तो नहीं। न वह शारीरिक विकास कर सकता है, न मानसिक विकास ही उसका होता है और न ही उसका आध्यात्मिक विकास होता है।

एक व्यक्ति अपने पुत्र का पिता बन गया। अब अगर वह बच्चे के पालन-पोषण, शिक्षा-दीक्षा से घबराकर अपना कर्तव्य-पालन न करे, चुपचाप बैठ जाए तो क्या वह बच्चे का विकास कर सकता है या अपना दायित्व पूरा कर सकता है ? कदापि नहीं। एक युवक अगर अपना पेट भरने के लिए आजीविका के कार्य से घबरा कर कुछ भी प्रयत्न न करे, तो क्या वह अपने जीवन में सफल हो सकता है ? कदापि नहीं। जीवन एक संग्राम है, संघर्ष है, उससे डर कर भागने से संघर्ष कभी समाप्त नहीं होगा, संघर्ष से बच-बच कर चलने से क्या संघर्ष मिट जाएगा, समस्या सुलझ जाएगी ? कभी नहीं ! कबूतरों पर जब कोई आफत आने लगती है तो वे आँखें मूंद कर चुपचाप बैठ जाते हैं। क्या आँखें बन्द कर देने से आफत नहीं आएगी ? बिल्ली झपटने को तैयार हो, तब आँखें मूंद कर चूहा बैठ जाए तो क्या बिल्ली झपटना बन्द कर देगी ? इसी प्रकार मनुष्य आफत आने पर आँखें मूंद कर निश्चिन्तता से बैठ जाए तो क्या वह आफत टल जायगी ? कदापि नहीं। जीवन के मैदान में जो भी संघर्ष से डरे हैं, उनका कभी विकास नहीं हुआ है। जिन्होंने साहसी बनकर संघर्षों का सामना किया है वे ही जीवन संग्राम में विजयी बने हैं। उन्हीं का सर्वोच्च विकास हुआ है। इसलिए यह कहावत प्रसिद्ध हो गई है—

"जग जीता बढ़ते चरणों ने।"

संघर्षों के सामने घुटने न टेक कर जिन्होंने अपने चरण आगे बढ़ाये हैं, उन्होंने ही सफलता के शिखर का स्पर्श किया है। तेनसिंग नोर्के और हिलेरी अगर हिमालय के उत्तुंग शिखर को देखकर नीचे ही ठिठक कर बैठ जाते, उस पर आरोहण न करते तो क्या हिमालय की चोटी पर चढ़ पाना सम्भव था? इसलिए संघर्ष से डर कर रास्ता बदलने से तो जीवन में आया हुआ विकास का मौका भी चला जाता है। जो व्यक्ति संघर्ष से डर कर अपना रास्ता बदल देता है, या समझौता कर लेता है, वह अपने हाथों से अपने विकास का गला घोंटता है।

संघर्ष : विकास का स्रोत

संघर्ष केवल संघर्ष के लिए नहीं आता। वह मनुष्य को विकास के लिए अवसर देने आता है। संघर्ष तो जीवन का मित्र है, जो हितैषी बन कर मनुष्य को सावधान करने और दुगुना साहस बटोर कर आगे बढ़ाने के लिए आता है। अगर बच्चा अपना साहस बटोर कर खड़ा होने का पुरुषार्थ नहीं करता है तो वह खड़ा नहीं हो सकता। जो युवक पढ़ाई में मेहनत करने के डर से विद्याध्ययन छोड़ देता है, क्या वह यों ही विद्वान बन सकता है? अतः जीवन के हर क्षेत्र में, हर मोड़ पर संघर्ष तो है ही; परन्तु संघर्ष का अवसर आने पर उससे कैसे निपटा जाए? यही महत्त्वपूर्ण सवाल है।

संघर्ष से भागो मत, बदलो

तथागत बुद्ध के जीवन का एक महत्त्वपूर्ण अध्याय है। एक बार वे श्रावस्ती में अपने शिष्यों सहित ठहरे हुए थे। परन्तु उस नगर के लोग बौद्ध भिक्षुओं के प्रति श्रद्धाशील और अनुकूल नहीं थे। कई बार वे भिक्षुओं का अपमान भी कर बैठते थे। अतः तथागत के शिष्य भिक्षु आनन्द ने उनसे निवेदन किया—"भंते! हमें अब यहाँ से अन्यत्र चल देना चाहिए।"

"क्यों आनन्द! क्या बात है?" तथागत ने कहा।

आनन्द—"यहाँ भिक्षुओं का अपमान होता है। लोग कुटिल वृत्ति के हैं। हमारे प्रति कोई सम्मान की भावना नहीं है।"

तथागत—"यदि इस क्षेत्र को छोड़कर दूसरे क्षेत्र में जाने पर वहाँ भी अपमान मिला तो फिर कहाँ जाओगे?"

आनन्द—"भंते! फिर हम वहाँ से भी अन्यत्र जायेंगे।"

तथागत—"आनन्द! इस प्रकार स्थान बदलने से समस्या हल नहीं होगी। जहाँ जाओगे, वहाँ यही समस्या खड़ी होगी। यह पलायनवृत्ति है, कायरता है, संघर्ष से डर कर भागना है। हमें समस्या के मूल को पकड़ना चाहिए और उसे हल करना चाहिए। अगर हमारा कोई अपमान करता है, या हम पर श्रद्धा नहीं करता तो जिस प्रकार से सम्मान दे, श्रद्धा बढ़े, वैसा उपाय करना चाहिए।"

आनन्द—"भंते! यह कैसे हो सकता है?"

तथागत—"दो प्रकार से हो सकता है—पहला उपाय तो यह है कि जहाँ ऐसी समस्या आये, यानी लोग हमसे घृणा-द्वेष करें, अथवा अपमान करें, वहाँ हम शान्ति से सहन करके सामने वाले व्यक्ति में हमारे त्याग, तितिक्षा के प्रति श्रद्धा पैदा करें। वह बाध्य होकर हमारे प्रति श्रद्धानत हो जाय। किसी भी व्यक्ति को श्रद्धानत करने का उपाय है—अपना त्याग, तप, तितिक्षा आदि गुण इतने बढ़ाए जायें कि वह व्यक्ति स्वयं आकर्षित हो। दूसरा उपाय है—अच्छे विचारों का प्रचार किया जाय। जनता के दिल-दिमाग को युक्तिसंगत, धर्मपूर्ण विचारों से बदला जा सकता है।"

भिक्षु आनन्द इस बात को समझ गया कि विपरीत परिस्थिति से डर कर भागना अच्छा नहीं, उसे बदलना चाहिए। फूल को फूल बनाया नहीं जा सकता, फूल को फूल कहा जा सकता है। परन्तु यदि कोई कांटे को फूल बना सके, विष को अमृत में परिणत कर सके, तो जीवन का यह सबसे बड़ा जादू या चमत्कार होगा।

संघर्षों के समय विष को अमृत में बदलना ही चमत्कार है

जीवन की यात्रा में अगर कोई इस प्रकार का चमत्कार पैदा कर सकता है तो उसे साधना का जादू समझा जाएगा। क्या यह साधना का चमत्कार नहीं है कि दुनिया के संघर्षों को साधक प्रेम में बदल दे, संसार की अशान्ति को शान्ति में और द्वेष को अनुराग में बदल दे?

वेदों में मनुष्यों को '**अमृतस्य पुत्राः**' अमृत के पुत्र कहा है। इस दृष्टि से देखा जाय तो संसार में अमृत पीने वाले तो अनेकों मिल जाएँगे, यानी अगर ऐसा आह्वान किया जाय कि जो अमृत पीना चाहें, वे पी लें, तो बहुत अधिक संख्या में आ जाएँगे। बल्कि दूध पीने वालों से भी अधिक संख्या अमृत पीना चाहने वालों की हो जाएगी। मगर सबसे बड़ी विचारणीय बात तो यह है कि विष पीने वाले कितने हैं? विष को विष के रूप में समझने और विष को विष के रूप में पीने वाले तो कदाचित् ढूंढ़ने पर मिल भी जायँ, लेकिन विष को अमृत मानकर पीने वाले विरले ही कोई मिलेंगे। शंकरजी ने विष को अमृत मानकर पी लिया था, इसलिए जगत् के पूज्य बन गए और उन्हें लोग '**महादेव**' कहने लग गये।

हाँ, तो मैं कह रही थी कि साधक वह नहीं है, जो अमृत को ही ढूंढ़ता रहे, जहाँ सुख, शान्ति और आनन्द मिले, वहाँ भौंरे की तरह मंडराता रहे। साधक का काम केवल जय-जयकार के नारों को ग्रहण करना और दुनिया भर का यश बटोरना ही नहीं है। जहाँ स्वागत-सत्कार मिलता हो, वहाँ टपक पड़ना और जहाँ अपमान, संघर्ष या द्वन्द्व हो, वहाँ से कूच कर जाना। अपितु साधक का काम है—संसार के विष को पीना, और वह भी विष को विष समझ कर नहीं, अपितु अमृत समझ कर पीना। कई लोग विष को विष के रूप में पी लेते हैं, उस विष को विष मान कर ग्रहण कर लेते हैं और अपने आपको मौत के मुँह में धकेल देते हैं। आपने देखा होगा कि कई लोग घर में किसी से कहा-सुनी या लड़ाई हो जाने या समाज में अपमानित हो जाने पर अथवा कोई कलंक का कार्य हो जाने पर आवेश में आकर, क्रोध या अन्य

दुर्भावनाओं के प्रवाह में वहकर विष को भी पी जाते हैं, संखिया भी खा जाते हैं और मरण-शरण हो जाते हैं। इसे हम जीवन की वड़ी वात नहीं कह सकते हैं, इसे दुस्साहस कहा जा सकता है, वल्कि एक अर्थ में इसे जीवन के दायित्वों से पलायन कहा जा सकता है। इसे हम सत्साहस नहीं कह सकते। क्योंकि सत्साहस उसे ही कहा जा सकता है, जिसके पीछे धैर्य, विवेक और सदाचरण हो। निष्कर्ष यह है कि महान् साधक वही कहलाता है, जो विष को तो अवश्य पीता है, मगर पीता है—अमृत का रूप देकर। साधक की विशेषता ही यह है कि वह विष को अमृत के रूप में परिणत करके पी जाए। जव इस प्रकार विष पिया जाता है, तो वह मृत्यु के वदले अमरत्व प्रदान करता है, निर्वलता और अशक्ति के वदले वल और शक्ति देता है, और जीवन में एक नई चेतना, नई स्फूर्ति दे देता है। जैसे विष-वैद्य विष को शोध कर उसे अमृत का रूप दे देता है यही उसका चमत्कार है अर्थात् संखिया जहर है, मगर वह उसे शोध कर, फूंक कर इस रूप में परिवर्तित कर दे कि उसे कोई खाए, तो भी वह उसके शरीर में वल और शक्ति प्रदान करे, वह उसके तन-वदन में नई स्फूर्ति, गर्मी और चेतना पैदा कर दे। वह एक नया रसायन वन जाए। इसी प्रकार साधक के सामने भी जव घृणा, द्वेष और अपमान के जहरीले घूंट पीने का अवसर आए, संसार के तिरस्कार की ठोकरें सहने का प्रसंग आ जाए, तव उन्हें अपनी समता की प्रक्रिया से प्रेम, मैत्री, सम्मान-सत्कार के रूप में वदलकर उन्हें ग्रहण करे। यही साधक की विलक्षणता है कि वह अपमान, घृणा और द्वेष आदि संघर्षों को अपने में पचा ले। वास्तव में सच्चा साधक अपमान, घृणा, क्रोध और द्वेष आदि को विष के रूप में ग्रहण नहीं करता, यद्यपि इन्हें साधक के सामने पुरस्कृत करने वाला तो जहर के रूप में ही प्रस्तुत करता है, परन्तु सच्चा साधक अपनी साधना के वल से, अपनी समभाव की चिन्तन-प्रक्रिया से उन्हें अमृत का रूप दे देता है; उसे पचाकर अपनी आत्मा को शक्तिशाली और वलवान् वना लेता है। वास्तव में, यह वल, साधना का नया वल और नई शक्ति होता है।

विष की शक्ति बड़ी है या अमृत की ?

इससे आप अनुमान लगा सकते हैं कि कौन-सी शक्ति वड़ी है? विष की या अमृत की? घृणा, द्वेष, वैर-विरोध या अपमान की शक्ति वड़ी है या प्रेम, मैत्री, क्षमा, सत्कार-सम्मान की शक्ति वड़ी है? आम जनता प्रत्यक्ष और तात्कालिक चमत्कार को अधिक महत्त्व देती है, उसकी दृष्टि स्थूल वातों पर और वर्तमान में ही अधिक टिकती है। वह यही सोचती है कि दूसरे से घृणा करने से मेरा महत्त्व वढ़ जाएगा, दूसरों से द्वेष करने से मेरा आतंक वढ़ जाएगा, दूसरों का अपमान करने से मेरे सम्मान और यश में वृद्धि होगी, दूसरों के साथ वैर-विरोध करने से मेरी धाक जम जाएगी, दूसरों के साथ मारकाट मचाने से लोग मेरा लोहा मान लेंगे। परन्तु यह सव निरी भ्रान्तियाँ हैं। दुनिया में घृणा, द्वेष, क्रोध, वैर-विरोध, अपमान आदि की शक्ति भड़कती हुई अग्नि की ज्वालाओं की तरह आती है, और कुछ ही समय में वह एकदम

तथागत—"दो प्रकार से हो सकता है—पहला उपाय तो यह है कि जहाँ ऐसी समस्या आये, यानी लोग हमसे घृणा-द्वेष करें, अथवा अपमान करें, वहाँ हम शान्ति से सहन करके सामने वाले व्यक्ति में हमारे त्याग, तितिक्षा के प्रति श्रद्धा पैदा करें। वह बाध्य होकर हमारे प्रति श्रद्धानत हो जाय। किसी भी व्यक्ति को श्रद्धानत करने का उपाय है—अपना त्याग, तप, तितिक्षा आदि गुण इतने बढ़ाए जायँ कि वह व्यक्ति स्वयं आकर्षित हो। दूसरा उपाय है—अच्छे विचारों का प्रचार किया जाय। जनता के दिल-दिमाग को युक्तिसंगत, धर्मपूर्ण विचारों से बदला जा सकता है।"

भिक्षु आनन्द इस बात को समझ गया कि विपरीत परिस्थिति से डर कर भागना अच्छा नहीं, उसे बदलना चाहिए। फूल को फूल बनाया नहीं जा सकता, फूल को फूल कहा जा सकता है। परन्तु यदि कोई कांटे को फूल बना सके, विष को अमृत में परिणत कर सके, तो जीवन का यह सबसे वड़ा जादू या चमत्कार होगा।

संघर्षों के समय विष को अमृत में बदलना ही चमत्कार है

जीवन की यात्रा में अगर कोई इस प्रकार का चमत्कार पैदा कर सकता है तो उसे साधना का जादू समझा जाएगा। क्या यह साधना का चमत्कार नहीं है कि दुनिया के संघर्षों को साधक प्रेम में वदल दे, संसार की अशान्ति को शान्ति में और द्वेष को अनुराग में बदल दे?

वेदों में मनुष्यों को '**अमृतस्य पुत्राः**' अमृत के पुत्र कहा है। इस दृष्टि से देखा जाय तो संसार में अमृत पीने वाले तो अनेकों मिल जाएँगे, यानी अगर ऐसा आह्वान किया जाय कि जो अमृत पीना चाहें, वे पी लें, तो बहुत अधिक संख्या में आ जाएँगे। वल्कि दूध पीने वालों से भी अधिक संख्या अमृत पीना चाहने वालों की हो जाएगी। मगर सबसे बड़ी विचारणीय बात तो यह है कि विष पीने वाले कितने हैं? विष को विष के रूप में समझने और विष को विष के रूप में पीने वाले तो कदाचित् ढूँढ़ने पर मिल भी जायं, लेकिन विष को अमृत मानकर पीने वाले विरले ही कोई मिलेंगे। शंकरजी ने विष को अमृत मानकर पी लिया था, इसलिए जगत् के पूज्य बन गए और उन्हें लोग '**महादेव**' कहने लग गये।

हाँ, तो मैं कह रही थी कि साधक वह नहीं है, जो अमृत को ही ढूंढ़ता रहे, जहाँ सुख, शान्ति और आनन्द मिले, वहाँ भौंरे की तरह मंडराता रहे। साधक का काम केवल जय-जयकार के नारों को ग्रहण करना और दुनिया भर का यश बटोरना ही नहीं है। जहाँ स्वागत-सत्कार मिलता हो, वहाँ टपक पड़ना और जहाँ अपमान, संघर्ष या द्वन्द्व हो, वहाँ से कूच कर जाना। अपितु साधक का काम है—संसार के विष को पीना, और वह भी विष को विष समझ कर नहीं, अपितु अमृत समझ कर पीना। कई लोग विष को विष के रूप में पी लेते हैं, उस विष को विष मान कर ग्रहण कर लेते हैं और अपने आपको मौत के मुँह में धकेल देते हैं। आपने देखा होगा कि कई लोग घर में किसी से कहा-सुनी या लड़ाई हो जाने या समाज में अपमानित हो जाने पर अथवा कोई कलंक का कार्य हो जाने पर आवेश में आकर, क्रोध या अन्य

दुर्भावनाओं के प्रवाह में बहकर विष को भी पी जाते हैं, संखिया भी खा जाते हैं और मरण-शरण हो जाते हैं। इसे हम जीवन की बड़ी बात नहीं कह सकते हैं, इसे दुस्साहस कहा जा सकता है, बल्कि एक अर्थ में इसे जीवन के दायित्वों से पलायन कहा जा सकता है। इसे हम सत्साहस नहीं कह सकते। क्योंकि सत्साहस उसे ही कहा जा सकता है, जिसके पीछे धैर्य, विवेक और सदाचरण हो। निष्कर्ष यह है कि महान् साधक वही कहलाता है, जो विष को तो अवश्य पीता है, मगर पीता है—अमृत का रूप देकर। साधक की विशेषता ही यह है कि वह विष को अमृत के रूप में परिणत करके पी जाए। जब इस प्रकार विष पिया जाता है, तो वह मृत्यु के बदले अमरत्व प्रदान करता है, निर्बलता और अशक्ति के बदले बल और शक्ति देता है, और जीवन में एक नई चेतना, नई स्फूर्ति दे देता है। जैसे विष-वैद्य विष को शोध कर उसे अमृत का रूप दे देता है यही उसका चमत्कार है अर्थात् संखिया जहर है, मगर वह उसे शोध कर, फूंक कर इस रूप में परिवर्तित कर दे कि उसे कोई खाए, तो भी वह उसके शरीर में बल और शक्ति प्रदान करे, वह उसके तन-बदन में नई स्फूर्ति, गर्मी और चेतना पैदा कर दे। वह एक नया रसायन बन जाए। इसी प्रकार साधक के सामने भी जब घृणा, द्वेष और अपमान के जहरीले घूंट पीने का अवसर आए, संसार के तिरस्कार की ठोकरें सहने का प्रसंग आ जाए, तब उन्हें अपनी समता की प्रक्रिया से प्रेम, मैत्री, सम्मान-सत्कार के रूप में बदलकर उन्हें ग्रहण करे। यही साधक की विलक्षणता है कि वह अपमान, घृणा और द्वेष आदि संघर्षों को अपने में पचा ले। वास्तव में सच्चा साधक अपमान, घृणा, क्रोध और द्वेष आदि को विष के रूप में ग्रहण नहीं करता, यद्यपि इन्हें साधक के सामने पुरस्कृत करने वाला तो जहर के रूप में ही प्रस्तुत करता है, परन्तु सच्चा साधक अपनी साधना के बल से, अपनी समभाव की चिन्तन-प्रक्रिया से उन्हें अमृत का रूप दे देता है; उसे पचाकर अपनी आत्मा को शक्तिशाली और बलवान् बना लेता है। वास्तव में, यह बल, साधना का नया बल और नई शक्ति होता है।

विष की शक्ति बड़ी है या अमृत की ?

इससे आप अनुमान लगा सकते हैं कि कौन-सी शक्ति बड़ी है ? विष की या अमृत की ? घृणा, द्वेष, वैर-विरोध या अपमान की शक्ति बड़ी है या प्रेम, मैत्री, क्षमा, सत्कार-सम्मान की शक्ति बड़ी है ? आम जनता प्रत्यक्ष और तात्कालिक चमत्कार को अधिक महत्त्व देती है, उसकी दृष्टि स्थूल बातों पर और वर्तमान में ही अधिक टिकती है। वह यही सोचती है कि दूसरे से घृणा करने से मेरा महत्त्व बढ़ जाएगा, दूसरों से द्वेष करने से मेरा आतंक बढ़ जाएगा, दूसरों का अपमान करने से मेरे सम्मान और यश में वृद्धि होगी, दूसरों के साथ वैर-विरोध करने से मेरी धाक जम जाएगी, दूसरों के साथ मारकाट मचाने से लोग मेरा लोहा मान लेंगे। परन्तु यह सब निरी भ्रान्तियाँ हैं। दुनिया में घृणा, द्वेष, क्रोध, वैर-विरोध, अपमान आदि की शक्ति भड़कती हुई अग्नि की ज्वालाओं की तरह आती है, और कुछ ही समय में वह एकदम

बुझ जाती है, सदा के लिए समाप्त हो जाती है, उसका कोई नामोनिशान नहीं रहता। जबकि दूसरी ओर प्रेम, मैत्री, क्षमा, दया, गुणि-सम्मान आदि की शक्ति धीरे-धीरे आती है, और वे साधक के जीवन में स्थायी रूप धारण कर लेती हैं, उनसे साधक की आत्मा नीचे नहीं गिरती, बल्कि ऊपर ही ऊर्ध्व गुणस्थानारोहण कर जाती है। यद्यपि लोग शस्त्रास्त्र और मारकाट के द्वारा होने वाली हिंसा को शान्ति का वरदान समझ लेते हैं, उसका क्षणिक चमत्कार देखकर। परन्तु जब उन्हें बाद में हिंसा के दुष्परिणामों—वैर-विरोध, अशान्ति और बेचैनी का पता लगता है, तब वे कह उठते हैं—"यह तो बहुत बुरा हुआ।" दुनिया की शासन शक्तियाँ अब तक के अनुभवों से, इस बात को भली-भांति जान चुकी हैं कि व्यक्तिगत (एकतंत्रीय) शासन-प्रणाली से दुनिया को बहुत बड़ी अशान्ति, भय, अविश्वास, बेचैनी और जन-धन हानि का सामना करना पड़ा है। इसलिए लोकतन्त्रीय शासन प्रणाली अहिंसा के अधिक निकट मानी गई। उससे अशान्ति, भय आदि बहुत कम मात्रा में हो गए। इसीलिए शास्त्रकार अहिंसा को भगवती, परब्रह्म, सर्वभूतहितकारिणी एवं अभयदात्री कह कर उसे बहुत बड़ी शक्ति मानते हैं। क्योंकि अहिंसा से स्थायी शान्ति, ठोस बल, सदैव निर्भयता, परस्पर विश्वास और अमन-चैन हो जाते हैं। अहिंसा के पीछे एक प्रकाश है। उसके आगे भी प्रकाश है, पीछे भी और बीच में भी। अहिंसा का आदि, मध्य और अन्त तीनों प्रकाशमय, रमणीय और सुन्दर हैं। अहिंसा को स्वीकार कर लेने पर दया, करुणा, क्षमा, सेवा, मैत्री आदि उसके अन्तर्गत आ ही जाते हैं और जो इस रूप में अहिंसा को स्वीकार कर लेता है, उसका जीवन सर्वांगसुन्दर और रमणीय बन जाता है। प्रदेशी राजा केशी श्रमण मुनि के सत्संग में आने से पहले अत्यन्त क्रूर, हिंसक और नास्तिक था। वह आत्मा, परमात्मा, परलोक आदि को कतई नहीं मानता था। अर्थात् वह हिंसक संघर्ष में विश्वास करता था, हिंसक संघर्ष से जीता था। परन्तु हिंसक संघर्ष के कारण उसका जीवन रमणीय, सर्वांगसुन्दर और शान्तिमय नहीं था। उसके दिल-दिमाग में बेचैनी और अशान्ति रहती थी। जनता को उसका रूप और उसकी जिंदगी क्रूर, भयानक और असहिष्णु लगती थी।

निर्बल अहिंसा संघर्ष से भागती है

हाँ, अहिंसा को यदि कोई मनुष्य निर्बलता के रूप में स्वीकार करता है, प्रतीकार करने को—हिंसक संघर्ष को—बला समझ कर उससे छुटकारा पाने के लिए अहिंसा को स्वीकार करता है तो मुझे कहना चाहिए कि ऐसी कायरतापूर्ण अहिंसा में कोई दम नहीं होता, किसी महत्त्वपूर्ण शक्ति का संचार नहीं होता। अहिंसा उस कायर के हाथों में पड़कर स्वयं निर्बलता का रूप धारण कर लेती है, इस कारण वह व्यक्ति ठोकर पर ठोकर खाता रहता है। उसके मन में तो अपने पर या दूसरों पर होने वाले अन्याय, अत्याचार आदि को देख कर क्षोभ होता है, पर उसे मूर्तरूप देने के लिए आगे चलकर जो शक्ति प्रगट होनी चाहिए, वह नहीं होती। वह मन ही मन कुढ़ता तो रहता है, लेकिन प्रतीकार करने की शक्ति जागती नहीं। उसकी आँखों के

सामने अपमान, अन्याय और अत्याचार झूलते रहते हैं, पर वह निरुपाय होकर अहिंसक का रूप बनाकर बैठा देखता रहता है। यदि वह इसे अहिंसा का प्रयोग कहता है तो मुझे कहना चाहिए, यह अहिंसा का प्रयोग नहीं, अहिंसा का मजाक है। इस प्रकार की अहिंसा, जिसमें बल और शक्ति नहीं है, संसार भर के अन्याय, अत्याचार को देख कर सात्त्विक संघर्ष करने की शक्ति नहीं है, तो कहना चाहिए कि वह अहिंसा नकली है, अवसरवादिनी है। जो अहिंसा बुराई, अन्याय, अत्याचार आदि अनिष्टों को समाप्त न कर सके, बुराई करने वालों में सात्त्विक भावना का संचार न कर सके, वह अहिंसा ही कैसी ?

व्यक्तिगत रूप से आध्यात्मिक पुरुष अपने ऊपर होने वाले प्रहार, अन्याय, अत्याचार आदि को समभावपूर्वक सहन करता है, उस विष को वह समभावपूर्वक अमृत के रूप में पीता है, तो वह उसकी अहिंसा कही जा सकती है, परन्तु मन में तो समभाव न हो, मन में तो अन्यायादि को देखकर कुढ़न न हो, शरीर में प्रतीकार करने की क्षमता न हो, वह उसे मन मसोस कर सहन करता हो, और अपनी उस प्रक्रिया को आध्यात्मिक पुरुष की उक्त अहिंसा के समान रूप देता हो, तो वह अहिंसा वास्तविक अहिंसा नहीं कही जा सकती। कायर आदमी में विष को पीने की क्षमता नहीं होती, उसमें साधना के द्वारा विष को अमृत बनाने की शक्ति नहीं होती। उसने अपने पर पड़ी हुई चोट सहन कर भी ली, तो भी उसकी आत्मा दुर्बल और क्षीण हो जाती है। इस प्रकार निर्बल अहिंसा व्यक्ति को भी निर्बल बनाती है; उसकी आत्मशक्ति को समाप्त कर देती है।

तामसी अहिंसा एवं राजस संघर्ष

इस प्रकार की दुर्बल अहिंसा को—कायरतापूर्वक सहन करने की वृत्ति को जब भारत के दर्शनों ने अपनी दार्शनिक कसौटी पर कसा तो कहा कि अहिंसा का यह रूप तामसी है। क्योंकि रजोगुण में तो संघर्ष मुख्य होता है, वहाँ मनुष्य कर्म में जूझता है। यही नहीं, पारिवारिक, राष्ट्रीय, सामाजिक और सांस्कृतिक क्षेत्र में जो भी दुःख या कष्ट आते हैं, आफतें आती हैं या कोई अन्यायादि का मसला आता है तो वहाँ सभी मसलों को हल करने के लिए मनुष्य में बहुत बड़ी हलचल या प्रतिक्रिया होती है। वह संघर्ष करने को उतारू हो जाता है। परन्तु रजोगुण में एक बात जरूर है, वहाँ संघर्ष या प्रतिक्रिया हिंसा के रूप में, क्रोध के रूप में या बदला लेने की भावना से होती है। इस प्रकार समाज में नया संघर्ष पैदा करना और आग को आग से बुझाने की वृत्ति लेकर चलना रजोगुण की प्रतिक्रिया है। रजोगुण में प्रतीकार या संघर्ष की वृत्ति या शक्ति तो है, लेकिन है वह संघर्ष की आग को अधिकाधिक बढ़ाने की प्रक्रिया। इसके विपरीत सत्त्वगुण में ऊँचाई है, सात्त्विकता है, वहाँ भी व्यक्तिगत, पारिवारिक, सामाजिक एवं राष्ट्रीय दुःखों, पीड़ाओं से लड़ा जाता है, संघर्ष किया जाता है, परन्तु वहाँ संघर्ष करते समय सात्त्विक भावों का ध्यान रखा

जाता है। उसमें अन्याय का बदला अन्याय से, अत्याचार का प्रतिशोध अत्याचार से या हिंसा का प्रतीकार हिंसा से लेने की बुद्धि नहीं होती। वहाँ आग से आग बुझाने की प्रतिक्रिया नहीं होती।

सात्त्विक संघर्ष का स्वरूप

सत्त्वगुण में आग से लड़ा जरूर जाता है, परन्तु आग के बदले पानी लेकर लड़ा जाता है। वहाँ घृणा और द्वेष प्रतिघृणा और प्रतिद्वेष से नहीं मिटाया जाता, वल्कि मैत्री और प्रेम का प्रवाह बहा कर घृणा और द्वेष को मिटाया जाता है।

ईसामसीह के पास एक बार कुछ लोग एक वेश्या को लेकर आए, जो दुराचारिणी थी और अपने रूप के जाल में युवकों को फँसाती थी। वेश्या नीचा मुंह किये शर्म के मारे हाथ जोड़कर ईसामसीह के सामने खड़ी रही। उन लोगों ने कहा—"इसने वहुत बुरे कर्म किये हैं, इसलिये इसे हम पत्थर मार-मार कर यहीं समाप्त कर देना चाहते हैं, 'ताकि न रहे बांस, न बजेगी वांसुरी'। वेश्या ही नहीं रहेगी तो उसके दुष्कर्म भी समाप्त हो जाएँगे।" ईसामसीह ने उत्तेजित लोगों को ऐसा न करने के लिये समझाया और कहा—"इस प्रकार वेश्या को समाप्त कर देने से क्या इसकी वेश्या-वृत्ति समाप्त हो जाएगी? वह तो इसके मन में पड़ी है। उसे यह साथ में लेकर परलोक में जाएगी। और साथ ही तुम्हारे प्रति द्वेष-भावना और दुर्भावना लेकर परलोक जाएगी, तो इससे न इसका सुधार होगा और न तुम्हारा ही।" परन्तु लोग हाथ में पत्थर लिए मारने को तैयार खड़े थे, कोई भी ईसामसीह की वात को ध्यान से नहीं सुन रहा था। आवेश में मनुष्य वेभान हो जाता है। भीड़ भी भड़की हुई और वेभान थी। ईसामसीह ने तुरन्त कुछ सोचा और उत्तेजित भीड़ से कहा—"ठहरो! इस जनसमूह में से वही व्यक्ति इस वेश्या पर पत्थर मार सकता है, जिसने अपनी जिन्दगी में कभी कोई वुरा कर्म न किया हो।" चारों ओर सन्नाटा छा गया। सब लोग विचार में पड़ गए और एक-एक करके पत्थर वहीं पटक कर विदा होने लगे। ईसामसीह ने लोगों को समझाने का उपयुक्त अवसर जानकर कहा—"भाइयो! मेरी वात सुनो! घृणा और द्वेष या कोई भी बुराई, घृणा और द्वेष से नहीं मिटती, यदि तुम वुराई को मिटाना ही चाहते हो तो प्रेम और मैत्रीभाव से मिटाओ। यही उत्तम तरीका है। मैं तुम्हें कुछ ही दिनों में वता दूंगा कि किस प्रकार विशुद्ध प्रेम और आत्मीयता से यह वेश्या वदल गई है।" सव लोग ईसा को प्रणाम करके चल दिये। ईसामसीह ने वेश्या की समस्या को शुद्ध प्रेम और आत्मीयता से सुलझा दिया। कुछ ही दिनों में वह वेश्या परमात्मभक्त वन गई और उसने सदा के लिए वेश्यावृत्ति का त्याग कर दिया।

हाँ; तो घृणा, द्वेप या अन्य किसी भी वुराई का प्रतीकार सत्त्वगुणी अवश्य करता है, पर करता है प्रेम, अहिंसा और मैत्री की सात्त्विक शक्ति से। प्रेम और अहिंसा के प्रवाह के सामने संसार की आग वुझती जाती है। संसार के दुःख, द्वन्द्व और

कष्ट नष्ट होते जाते हैं। सात्त्विक भावना से अनुप्राणित प्रतीकार का बल इतना बड़ा होता है कि अन्याय अपने आप में समाप्त होते जाते हैं। सात्त्विक भाव से युक्त संघर्ष में हृदय की वृत्ति निष्क्रिय नहीं होती, बल्कि वहाँ सक्रियता बनी रहती है।

मुनि केशीश्रमण यह जानते थे कि श्वेताम्बिका नगरी का राजा प्रदेशी बड़ा क्रूर, अधर्मी और पापी है। उसे समझाना बड़ी टेढ़ी खीर है। अगर न समझा तो वह कुछ अनिष्ट भी कर सकता है। किन्तु राजा प्रदेशी के अन्यायों—अत्याचारों से जनता त्रस्त हो चुकी थी, उसकी नास्तिकता के कारण जनता भी सद्‌गुणियों के प्रति आस्थाहीन हो रही थी, ईश्वर और भगवान् के प्रति उसका विश्वास डगमगा रहा था। केशीश्रमण ने जब चित्त प्रधान से यह सुना तो वे चुपचाप प्रतीकारहीन एवं निष्क्रिय होकर नहीं बैठ गए। अगर वे निष्क्रिय होकर चुपचाप बैठ जाते तो उनकी अहिंसा तामस कहलाती और उनकी बदनामी के साथ धर्म की भी बदनामी होती। वे संघर्ष से डरे नहीं, घबराए नहीं और न ही रजोगुणी की तरह उन्होंने प्रदेशी राजा के अन्याय-अत्याचार को मिटाने के लिये शस्त्रास्त्रों या अन्य हिंसक साधनों से प्रतीकार (संघर्ष) करने का विचार किया। परन्तु प्रदेशी राजा के अन्यायादि के प्रति संघर्ष या प्रतीकार उन्हें अवश्य करना था। इसलिये वे श्वेताम्बिका नगरी आये। राजा के उद्यान में ठहरे। चित्त प्रधान राजा प्रदेशी को किसी बहाने से उद्यान में ले आया। और इसके आगे की कथा आप जानते ही हैं। प्रदेशी राजा ने तो अपनी प्रकृति का परिचय दिया ही और मुनि केशीश्रमण भी संघर्ष या प्रतीकार से डरे नहीं। अगर वे संघर्ष से डरते तो पहले ही श्वेताम्बिका नगरी में न आते, अथवा आते भी तो संघर्ष का अवसर देखते ही मैदान छोड़कर भाग जाते। परन्तु वे कायर और दुर्बल तामसिक अहिंसा के आराधक नहीं थे। वे वहीं उद्यान में डटे रहे, उन्होंने अपनी साधुमर्यादा के अनुसार प्रेम से राजा प्रदेशी को युक्तिपूर्वक समझाया, एक-एक बात राजा के गले उतारी। राजा मुनिवर की युक्तिसंगत बातें सुन कर भाव-विभोर हो गया, उसका सारा जीवन ही बदल गया। इसलिए जो कहते हैं कि अहिंसक या सात्त्विक संघर्ष में कोई दम नहीं होता, उसमें प्रतीकार करने का कोई बल नहीं होता, वे अहिंसा की सात्त्विक शक्ति से बिलकुल अनभिज्ञ हैं।

सात्त्विक अहिंसा के द्वारा संघर्ष करो

निष्कर्ष यह निकला कि आपकी जीवन-यात्रा में जब भी कोई इस प्रकार का मसला आए, तब आपको सात्त्विक अहिंसा के द्वारा लड़ना है। इसका अर्थ यह है कि साधक अपने जीवन के केन्द्र में अपनी सात्त्विक बुद्धि के प्रयोग द्वारा अन्याय, अत्याचार या संघर्ष के प्रश्न उपस्थित होने पर, घृणा और द्वेषभाव के अवसर आने पर अन्तर में सहज प्रवहमान प्रेम का झरना बहाता है, उससे वह हिंसा को, विष को, अहिंसा और अमृत का रूप दे देता है। संसार में संघर्ष होते हैं, उनसे वह घबराता

नहीं, डर कर भागता नहीं, कोने में दुबक कर या लुक-छिप कर बैठता नहीं। उ
समय वह सात्त्विक रूप रख कर आगे बढ़ता है। सम्भव है, सात्त्विक रूप धार
करके प्रतीकार करते समय तथाकथित विरोधी की ओर से उस पर हिंसक य
अपशब्दों के प्रहार भी हों, परन्तु सच्चा साधक इन प्रहारों को समभाव से अमृत मा
कर सहता है, जिसके परिणामस्वरूप उक्त परिवार, समाज या राष्ट्र में चेतना जागत
है। भूल या गलती करने वाला अपनी गलती या भूल को महसूस करता है, नम्रत
से स्वीकार भी करता है और साधक के सहज प्रेम से प्रभावित होकर वह उस समस्य
को प्रेम से सुलझाने को तैयार हो जाता है।

परिवार में प्रेममय संघर्ष से समस्या का हल

आपने देखा होगा कि परिवार में जब कोई संघर्ष का प्रश्न आ जाता है य
कोई गुत्थी उलझ जाती है तो उसे पारिवारिक जन डंडे से नहीं सुलझाते, न तलवा
और बन्दूक का प्रयोग करके उस समस्या को हल करते हैं और न ही प्रायः अदाल
के दरवाजे खटखटाते हैं। अपितु परिवार के वे संघर्ष, चाहे माता-पिता के बीच हो
चाहे पति-पत्नी के हों अथवा वे चाहे सास-बहू के हों, उन्हें डंडों, शस्त्रास्त्रों या अदालत
के जरिये न निपटा कर परस्पर मिल-बैठकर समझाहट से, नैतिक-सामाजिक दवा
से, नम्रता से कभी झुक कर, कभी झुका कर प्रेम-स्नेह के माध्यम से निपटाए जाते
हैं। परिवार में कभी छोटा झुक जाता है, कभी बड़ा भी छोटे की नम्रता देखक
झुक जाता है।

मान लीजिये, परिवार में पिता और पुत्र के बीच किसी बात पर मतभे
खड़ा हो गया, आपस में कहा-सुनी हो गई, परस्पर तनाव की गाँठ पड़ गई। ऐसी
स्थिति में अगर समझदार पुत्र पिता के आवेश को उग्र देखकर चुप्पी खींच लेता है,
बात को आगे बढ़ाता नहीं है, पिता के कटुवचनों को प्रसन्नता के साथ पी जाता है,
या नम्रता के साथ पिता के चरण पकड़ कर अपनी बात को स-सम्मान निवेदित करके
मौन हो जाता है तो इस सहनशीलता का परिणाम क्या आता है? कुछ ही क्षणों के
बाद उसकी प्रतिक्रिया के फलस्वरूप पिता के मन में भी पुत्र के प्रति प्रेम जाग्रत हो
जाता है। पिता ने भूल से जो कटुवचन पुत्र को कह दिया था, उसे वह अनुभव करता
है और पुत्र के प्रति उसका विलक्षण प्रेमभाव जाग्रत हो जाता है कि कुछ क्षणों पहले
जो कटुता का वातावरण था, वह समाप्त हो जाता है। इतना ही नहीं, भविष्य में
भी कटुता का वातावरण नहीं आने पाता। अगर आएगा भी तो पिता-पुत्र उससे
बचने की कोशिश करेंगे।

इसी प्रकार पति-पत्नी के बीच भी जब किसी बात पर संघर्ष होता है, और
होना स्वाभाविक है, उस समय पति या पत्नी में से कोई भी समझदार या बुद्धिमान है
तो वह ऐसे प्रश्नों में बढ़ती हुई कटुता को शान्त करने के लिए अपने आपको झुका
लेता है, नम्र बन जाता है, सामने वाले के आवेश को चुपचाप पी लेता है। जो उग्रता

का विष पैदा होने जा रहा था, उसका शमन नम्रता के अमृत से कर देता है। अर्थात् उस समय जिसके मन में सद्भाव प्रेमभाव पैदा हुआ, या जिसने चोट को सहन कर लिया, उसके प्रति दूसरे व्यक्ति के मन में भी परिवर्तन होगा। वह सोचने को बाध्य हो जाएगा कि मुझ से गलती हो गई, या मैंने उसे यह कटु बात कह दी थी। इसलिए उसका आवेश शान्त होने पर जो पारस्परिक कटुता थी, वह समाप्त हो जाएगी। दोनों व्यक्ति दूध-पानी की तरह एक-दूसरे के साथ स्नेह से घुलमिल जाएँगे।

परिवार में इस प्रकार का प्रयोग होता है, वैसे ही एक-दूसरे प्रकार का प्रयोग भी देखा जाता है। परिवार में कुछ लोग अर्थोपार्जन के लिए काम करते हैं, कुछ लोग परिवार की व्यवस्था के लिए गृहकार्य संभालते हैं, बच्चों के पालन-पोषण, सुसंस्कार प्रदान आदि का काम अपने हाथ में लेते हैं। कुछ ऐसे भी बूढ़े आदमी या अत्यन्त छोटे बच्चे तथा पढ़ाई करने वाले युवक या लड़कियाँ-लड़के ऐसे भी होते हैं, जो बिलकुल कमा नहीं सकते हैं। कोई भाई अशक्त, रुग्ण, अपाहिज आदि होता है तो वह भी कमाने में असमर्थ होता है। ऐसी दशा में परिवार में कमाने वाले प्रायः थोड़े-से होते हैं, उपभोग करने वाले सभी होते हैं और वे कमाने वालों या पुरुषार्थ करने वालों से अधिक संख्या में होते हैं। परिवार में ऐसा नहीं होता कि जिसने ज्यादा पुरुषार्थ किया, वह ज्यादा उपभोग कर ले। कभी-कभी तो ऐसा भी देखा जाता है कि कम काम करने वाला ज्यादा उपभोग कर लेता है। प्रायः बुजुर्ग, वृद्ध या बूढ़े माता-पिता उपभोक्ता ही होते हैं, गृहकार्यरत स्त्रियाँ अर्थोपार्जन नहीं करतीं, वे भी उपभोक्ता हैं और जिसके अधिक बच्चे हैं, वे बच्चे भी ज्यादा उपभोग करने वाले होते हैं। किन्तु परिवार की धारा जब तक एक रूप में बहती है, जब तक उनमें परस्पर स्नेह और आत्मीयता होती है, कर्तव्य की भावना ही बलवती होती है, तब तक उस परिवार में हिसाबी वृत्ति नहीं आती कि उसने ज्यादा खा लिया, मैंने कम खाया। ऐसे भाग्यशाली परिवार में एक दूसरे के लिए अपने को घिसाने की वृत्ति होती है, परस्पर अहं की टकराहट नहीं होती। और जब तक परिवार में इस प्रकार की हिसाबी वृत्ति नहीं आती, तब तक पारिवारिक जीवन में हिंसक संघर्ष नहीं आता। सात्त्विक संघर्ष तो परिवार में होता है, पर वह होता है—परिवार में आ पड़ने वाले द्वन्द्वों, दुःखों और विपत्तियों से जूझने के लिए अथवा परिवार पर या परिवार में कोई अन्याय-अत्याचार करता हो तो उसका अहिंसक ढंग से प्रतीकार करने के लिए। किन्तु परिवार में यह हिसाब लगाने की वृत्ति जब से आ जाती है, तब से अधिकार प्राप्ति के लिए संघर्ष और तू-तू-मैं-मैं शुरू हो जाती है, कर्तव्य की भावना लुप्त हो जाती है। वहाँ जो भी कर्म किया जाता है, उसके बदले में उपभोग का प्रश्न मुख्य हो जाता है। वहाँ यह शब्दावली ही अधिक प्रयुक्त होती है कि हम काम करने वाले तो थोड़े-से हैं, खाने वाले ज्यादा हैं, क्या हम ही इन सब को कमा-कमा कर खिलाएँगे? जब ऐसा रूप परिवार में आता है तो वह परिवार छिन्न-भिन्न हो

जाता है, वहाँ बँटवारे का प्रश्न कटुता धारण कर लेता है। ऐसे प्रेम विहीन परिवार दुनियादारी का रूप ले लेते हैं।

किन्तु जिस परिवार में हिसाबी वृत्ति नहीं होती, वहाँ बड़े छोटों के लिए अपना सर्वस्व देकर, वात्सल्य बहाकर, स्वयं भूखे-प्यासे रहकर कष्ट सह लेते हैं, छोटे बड़ों के प्रति—बुजुर्गों और बूढ़ों के प्रति सम्मान और भक्तिपूर्वक अपनी सब कुछ कमाई उनके चरणों में धर देते हैं। उनकी तन-मन से सेवा करते हैं। वे यही समझते हैं कि अब तक इन बुजुर्गों या बूढ़ों ने सारे परिवार की सेवा की है, अब हमें इनकी सेवा करनी चाहिए। इन्हें हमसे सेवा लेने का अधिकार है और जब हम बूढ़े हो जाएँगे, तब हमें अपने बच्चों से सेवा लेने का अधिकार प्राप्त होगा।

परिवार की तरह समाज और राष्ट्र में भी सात्त्विक संघर्ष प्रयोग

हाँ, तो परिवार में भौतिक चेतना के साथ-साथ जब तक आध्यात्मिक चेतना चलती है, तब तक उस परिवार में हिंसक संघर्ष नहीं उभरता। यही बात सामाजिक जीवन के सम्बन्ध में है। वहाँ भी आध्यात्मिक चेतना के विकास को लेकर पारिवारिक घेरे को तोड़कर या परिवार के ही दायरे को बड़ा रूप देकर व्यक्ति सामाजिक जीवन में भी इसी प्रकार का प्रयोग करता है। जैसे अच्छे परिवार में जो सम्पत्ति होती है वह इकाई के रूप में रहती है, वैसे ही सारे समाज में भी एक इकाई के रूप में रह सकती है। राष्ट्र के सभी लोगों की सम्पत्ति भी एक ईकाई के रूप में रह सकती है। रूस में इस प्रकार का प्रयोग चल रहा है। वहाँ कम्यून बने हुए हैं। उनमें राष्ट्र की सम्पत्ति के उपभोक्ता तो सभी हैं, लेकिन कमाने वाले सभी नहीं। जो कमाते हैं, वे अपनी कमाई का अमुक पैसा रखकर बाकी का राष्ट्र को सौंप देते हैं। यानी जो काम करने लायक हों, वे सब लोग काम करें, कोई बिना कारण निठल्ला न रहे और जब उपभोग का प्रश्न आए, तब सबको अमुक सीमा में मिलता रहे।

यहाँ एक तर्क प्रस्तुत किया जाता है कि ऐसा तो हो नहीं सकता, व्यक्ति अपनी सीमा को तोड़कर कैसे आगे बढ़ेगा? किन्तु वर्तमान में कई लोकतांत्रिक या साम्यवादी देशों में व्यक्ति अपनी पारिवारिक एवं सामाजिक सीमाओं को तोड़कर आगे बढ़ते हैं, बढ़े हैं, वैसे ही वे पारिवारिक एवं सामाजिक सीमाओं के घेरे को तोड़कर राष्ट्रीय जीवन में एकरूप हो सकेंगे।

सब मिलकर अर्पण-वृत्ति से दुःख-द्वन्द्वों से जूझें

जैन पुराणों में भगवान ऋषभदेव के युग का वर्णन मिलता है। वहाँ बताया गया है कि उस युग में व्यक्ति व्यक्ति में बंधा हुआ था। व्यक्ति स्वयं अपनी ही भूख-प्यास मिटाता था। एक व्यक्ति दूसरे व्यक्ति पर निर्भर नहीं था। प्रत्येक व्यक्ति अपने ही घेरे में बन्द था, अपने ही सुख-दुःख तक सीमित था। वैदिक पुराणों को उठा कर देखते हैं तो वहाँ भी ऐसा ही रूप मिलता है। व्यक्ति अपनी व्यक्तिगत सीमा में आबद्ध था। अपने सुख-दुःख के अलावा संसार में कोई सुख-दुःख है, इसकी अनुभूति

व्यक्ति को नहीं हुआ करती थी। परन्तु ज्यों ही व्यक्ति अपने व्यक्तिगत घेरे को तोड़ कर परिवार के रूप में आगे बढ़ा, उसकी सीमा बढ़ी या नहीं ? उसने व्यक्तिगत सुख-दुःख की सीमा को तोड़ा या नहीं ? अर्थात् जब कभी परिवार पर कोई कष्ट या संकट आ जाए तो व्यक्ति अपने आपको कष्ट में डालकर भी परिवार के कष्ट को मिटाने के लिए कटिबद्ध होता है। परिवार में पति या पत्नी किसी की भी समस्या आ जाए तो एक के लिए दूसरा अपने आपको अर्पित करता है। इसी प्रकार माता-पिता सन्तान के लिए और सन्तान माता-पिता के लिए अपने आपको अर्पित करते हैं। यानी परिवार में सुख-दुःख में साझा होता है, सभी अपनी-अपनी भूमिका और परिस्थिति के अनुसार सुख-दुःख को बांट कर चलते हैं। पति बीमार हो जाय तो पत्नी भूखी रहकर परिश्रम करके भी पति को खिलाती है, इसी प्रकार पत्नी बीमार हो जाय तो पति भी स्वयं भूखा रहकर, श्रम करके पत्नी को खिलाता है। यही हाल माता-पिता का है, वे स्वयं भूखे रहकर भी सन्तान को खिलाते हैं, उसकी रक्षा करते हैं। परिवार में अपनी व्यक्तिगत सुख-सुविधाओं को एक ओर रख कर सामूहिक सुख-सुविधा की ओर ध्यान दिया जाता है। कभी-कभी ऐसा भी होता है कि पति अपनी आर्थिक स्थिति से तंग होते हुए भी अगर पत्नी की ओर से कोई मांग खड़ी हो जाती है तो अपनी परिस्थिति और लाचारी को उसके सामने प्रस्तुत करके भी पत्नी के मन को प्रसन्न रखने के लिए, अपनी हैसियत न होते हुए भी उसके लिए साधन-सामग्री जुटाता है।

तात्पर्य यह है कि व्यक्ति, जो एक दिन अपनी व्यक्तिगत सीमा में बंधा था, उसे तोड़कर पारिवारिक सीमा में बंध गया। इससे व्यक्तिगत घेरा टूटने के साथ-साथ सुख-दुःख का फैलाव भी हो गया। परिवार में सुख और दुःख का विभाजन हो गया। जब दुःखों, आफतों और द्वन्द्वों से जूझने का मौका आया तो परिवार के सभी लोग उनसे जूझने में लग गए। इस प्रकार दुःखों और कष्टों का बँटवारा होने से—सामूहिक रूप से दुःखों के साथ संघर्ष करने से दुःख बहुत हलके, अत्यन्त कम हो गये।

यह कार्य, जैसा कि मैंने कहा था, जैन पुराणों के अनुसार ऋषभदेव स्वामी के युग में और वैदिक पुराणों के अनुसार 'मनु'-काल में हुआ था, यानी आज से हजारों लाखों वर्ष पहले हुआ था, मनुष्य अपने व्यक्तिगत घेरे को तोड़ कर परिवार में घुल-मिल गया।

मानव विश्वव्यापी बनकर सुख-दुःख बांटे

परन्तु वह परिवार तक ही सीमित नहीं रहा। उसने अपना फैलाव करना शुरू किया, परिवार से वह जाति, कुल, समाज और राष्ट्र के साथ आगे बढ़ता गया और एक दिन किसी-किसी उच्चसाधक ने 'वसुधैव कुटुम्बकम्' सारे विश्व को ही अपना कुटुम्ब मान लिया। मनुष्य ही नहीं, विश्व के समस्त प्राणियों का सुख-दुःख उसका अपना सुख-दुःख बन गया। तात्पर्य यह है कि व्यक्ति जब परिवार से जाति,

कुल और समाज के रूप में आगे बढ़ा तो जाति, कुल और समाज का सुख-दुःख उन मनुष्यों ने बाँट लिया। जाति, कुल या समाज पर कोई आफत आती तो सब लोग मिलकर उसका सामना करते और अपने सुख को ताक में रख कर भी सारे समूह के सुख को महत्त्व देते और इस प्रकार जाति, कुल या समाज की उस विपत्ति को दूर करके ही दम लेते। इसी प्रकार व्यक्ति जब राष्ट्र के रूप में आगे बढ़ा तो किसी द्वन्द्व या दुःख के आने पर राष्ट्र के सभी लोग अपने-अपने व्यक्तिगत सुख को तिलांजलि देकर सारे राष्ट्र के उस दुःख या द्वन्द्व का निवारण करने में जुट जाते। जिसकी क्षमता प्रत्यक्ष दुःख निवारण की नहीं होती थी, वह प्रत्यक्ष जुटने वालों को प्रोत्साहन देता, उन्हें अर्थ आदि साधनों का सहयोग देता और उनके पीछे उनके परिवार के पोषण का भार अपने पर ले लेता था।

मतलब यह है कि परिवार की तरह कुल, जाति, समाज और राष्ट्र के लिए भी व्यक्ति अपने आपको अर्पण कर देता था।

माण्डवगढ़ का इतिहास इस बात का साक्षी है कि वहाँ लगभग एक लाख घर थे। जो भी नया जैन-भाई वहाँ बसने के लिए आता था, उसको जमीन दे दी जाती, ईंटें दे दी जातीं और लाख रुपये व्यापार करने के लिए दे दिये जाते। इस प्रकार वहाँ जो व्यक्ति बसता, उसे वहाँ के लोग अपना अंग और अपने परिवार का मानकर अपनी ओर से ईंट और रुपये अर्पण कर देते थे। जो धनी लोग थे, वे अपना कर्तव्य समझकर ही अर्पण करते थे। परन्तु जब से इन्सान में यह संकुचित वृत्ति आ गई कि मैं और मेरा परिवार ही सुखी रहे, मेरे पास जो धन या साधन हैं, वे सब मेरे ही हैं, मेरे ही रहें, इस संकीर्ण स्वार्थवृत्ति ने उसे अपने और अपने परिवार से आगे बढ़ने से रोक दिया, फलतः इन्सान में जो अर्पणवृत्ति थी, समाज एवं राष्ट्र के लिए अपने सुख को तिलांजलि देकर कष्ट सहने की वृत्ति थी, समाज के दुःख-द्वन्द्वों से स्वयं जूझने की वृत्ति थी, वह लुप्त होती गई। पहले जहाँ इन्सान कष्ट में पड़े हुए इन्सान को अपना अंग समझकर कर्तव्य के नाते सहायता करता था, अपना सर्वस्व तक अर्पण कर देता था, वहाँ इस संकीर्ण वृत्ति के कारण व्यक्ति दूसरों को दीन-हीन एवं कष्ट पीड़ित समझ कर स्वयं परोपकारी या दानी बनने के चक्कर में पड़कर थोड़ी-सी सहायता देने लगा, वह भी एहसान जता कर। मतलब यह कि दान देते समय या कष्ट पीड़ित को देखकर सहायता या उपकार करते समय वह उसे समाज का एक अंग मानकर कर्तव्य के नाते आगे नहीं बढ़ा, परन्तु उसे दीन-हीन समझकर आगे बढ़ा। इस रूप में उसका अहं, उसकी प्रसिद्धिलिप्सा और उसका बड़प्पन ही सामने आया। समाज और राष्ट्र के लिए उसकी अर्पणवृत्ति न रही। इससे न लेने वाले में तेजस्विता रही और न देने वाला ही ऊँचा उठ सका। लेने वाले को कुत्ते की तरह टुकड़ा फेंक दिया—उसकी आत्मा को चोट पहुँचाकर और दीन-हीन, भिखारी समझ कर। लेने वाला भी अपने आपको भिखारी समझ कर लेने लगा। ऐसी स्थिति में न तो दान

लेने वाले में तेजस्विता या शक्ति आ सकी और न ही देने वाले में रजोगुण से आगे बढ़कर सत्त्वगुण आ सका।

समाज के एक दुःखित एवं पीड़ित अंग के दुःख-द्वन्द्वों से जूझने एवं संघर्ष करने में आज का अहंकार पीड़ित दानी या परोपकारी सहायक बनने के बजाय प्रायः बाधक बन जाता है। क्योंकि उसमें समाज को दुःख-द्वन्द्व के समय अपनी सुख-सुविधाओं को भूलकर अर्पण करने की एवं कर्तव्य समझ कर देने की वृत्ति थी, वह लुप्त हो गई। समाज और राष्ट्र के विशाल घेरों से निकल कर व्यक्ति पुनः संकुचित घेरे में आ फँसा। वह अपने ही सुख दुःख तक सीमित हो गया। समाज और राष्ट्र के लिए अपने को न्यौछावर करने की जो तड़फन थी वह खत्म हो गई।

अर्पणपूर्वक समूह द्वारा संघर्ष ही सुखशान्ति का द्वार खोलता है

इसीलिए अब जरूरत इस बात की है कि व्यक्ति में समाज और राष्ट्र के लिए जो अर्पण-वृत्ति थी, वह पुनः लौट आए। क्योंकि वर्तमान युग सामूहिक युग है, व्यक्ति युग तो भगवान् ऋषभदेव या मनु के समय से समाप्त हो चुका ; और समाज और राष्ट्र पर कोई भी संकट आए, उस समय अकेला व्यक्ति उस कष्ट को निवारण करने में उस दुःख-द्वन्द्व से संघर्ष करने में सक्षम नहीं है। इसलिए जैसे वह अपने पर आए हुए दुःख-द्वन्द्व का सामना करने और उससे संघर्ष करने के लिए परिवार, समाज और राष्ट्र का सहारा लेता है, उससे संघर्ष में सामूहिक सहायता की अपेक्षा रखता है, वैसे ही समाज और राष्ट्र पर आई हुई आफत से जूझने या समाज या राष्ट्र के किसी अंग पर आए हुए संकट का सामना करने में राष्ट्र और समाज के प्रत्येक व्यक्ति को सहयोग देना चाहिए। सहयोगपूर्वक संघर्ष से या दुःख-द्वन्द्वों से सामूहिक रूप से सामना करने से वर्तमानकाल में व्यक्ति, समाज, या राष्ट्र के दुःख-द्वन्द्व मिट सकते हैं, या बंटने से कम हो सकते हैं। अब व्यक्तियुग बीत चुका। साधु संन्यासी वर्ग को भी अपने पर अथवा संघ पर आ पड़ने वाले संकट या दुःख-द्वन्द्व को मिटाने में संघ या समाज से अपेक्षा रहती है। तब गृहस्थवर्ग को समाज से अपेक्षा रहे, इसमें तो कहना ही क्या ?

कहाँ तो मनुष्य को ऋषि-मुनियों ने[1] साथ-साथ चलने, साथ बैठने, साथ भोजन करने में, हर वस्तु का उपभोग साथ-साथ[2] बांट-बांट करने की, सहयोग की बात सिखाई थी, और कहाँ आज वह अपने व्यक्तिगत प्रश्न पर या अधिक से अधिक अपने स्त्री-पुत्र तक ही सीमित और संकुचित हो गया है। यही कारण है कि जब भी कभी उस पर या उसके छोटे-से परिवार पर कोई संकट आ पड़ता है तो उसकी खुदगर्जी के

---

१ संगच्छध्वं, संवदध्वं, सं वो मनांसि जानताम्।
देवा भागं यथापूर्वे संजानाना उपासते॥ —उपनिषद्

२ परस्परं भावयन्तः श्रेयः परमवाप्स्यथ। —भगवद्गीता

कारण दूसरा कोई भी उस दुःख-द्वन्द्व या संकट से संघर्ष करने या जूझने में सहयोग[1] नहीं देता।

प्राचीनकाल में अतिथियों, साधु-सन्तों को एवं दीन-हीन दुःखियों को श्रद्धापूर्वक प्रेमभाव से देकर उनकी क्षुधा का निवारण किया जाता था, उन्हें कमाने और साधन जुटाने की चिन्ता से मुक्त रखा जाता था। ताकि वे समाज को सुन्दर और शुद्ध मार्गदर्शन दे सकें। आज वह श्रद्धा, भक्ति और प्रेम कम होता जा रहा है।

इस प्रकार से साधनसम्पन्न अपने साधनों का उपयोग सार्वजनिक रूप में करके स्वयं भी परिग्रहवृत्ति से मुक्त होने का प्रयत्न करता था और समाज को भी दुःख-द्वन्द्वों से संघर्ष करने में मदद करता था।

निष्कर्ष

निष्कर्ष यह है कि मनुष्य को संघर्ष से डर कर भागना नहीं है, अपितु संघर्ष करते समय विष को अमृत मान कर स्वयं जूझना है। अथवा स्वयं जूझने की शक्ति न हो तो समाज या राष्ट्र की सहायता लेकर संघर्ष से जूझना है। तभी इन्सान का जीवन विकसित होगा और कुन्दन की तरह चमकेगा। □

---

१ परस्परोपग्रहो जीवानाम्। —तत्त्वार्थसूत्र

3

सफलता के मूलमंत्र

आज मैं जीवन में सफलता के सम्बन्ध में कुछ विचार प्रगट करूँगा। अगर आप उसे ध्यानपूर्वक सुनेंगे तो आप भी सफलता के द्वार तक पहुँच सकेंगे। प्रत्येक मनुष्य सफलता चाहता है, चाहे वह बालक हो, युवक हो, प्रौढ़ हो, वृद्ध हो, युवती हो या वृद्धा। सभी अपने-अपने कार्य की सिद्धि चाहते हैं और उसके लिए कुछ न कुछ हलचल करते ही रहते हैं। फिर वह हलचल चाहे अन्दर में हो या बाहर में। परन्तु जीवन कभी इन हरकतों से शून्य बनकर नहीं बैठता। जीवन का सबसे बड़ा लक्षण है—गतिशीलता। जीवन हर समय गतिमान-प्रवहमान रहता है—अन्दर में या बाहर में।

समान प्रयत्न होने पर भी सबको सफलता नहीं मिलती

परन्तु हम देखते हैं कि प्रत्येक व्यक्ति के जीवन में [illegible] समान परिस्थितियाँ होने पर भी सर्वत्र सफलता नहीं मिल पाती। कुछ लोग सफलताएँ प्राप्त कर पाते हैं, कुछ नहीं कर पाते। कुछ लोग अपने अभीष्ट के लिए प्रयत्न करते हैं और उसे पकड़ लेते हैं, किन्तु कुछ लोग अभीष्ट के लिए प्रयत्न करने पर भी कुछ नहीं पकड़ पाते। प्रश्न होता है—दोनों जगह समान प्रयत्न होने पर भी—परिस्थितियाँ [illegible] भी अपने अभीष्ट को एक प्राप्त कर लेता है, दूसरा प्राप्त नहीं कर पाता, इसका क्या कारण है? कौन-सी ऐसी बात है? क्या भौतिक क्षेत्र में और क्या आध्यात्मिक क्षेत्र में सर्वत्र हम ऐसा ही नतीजा देखते हैं।

[illegible] सफलता की [illegible]

आध्यात्मिक क्षेत्र का एक साधक है। वह जप करने में [illegible] होता है। माला पकड़ता है। कुछ दिन तो वह जप करता है, फिर [illegible] होकर बैठ जाता है। अपने आप में समझ लेता है—"इतने दिन हो गए हैं! कुछ भी तो [illegible] नहीं आया!" उसका तना-तना मन शिथिल होकर [illegible] अंधकार में भटक जाता है। वह यही चिन्तन कर बैठता है—"[illegible] जप नहीं करता था, तभी था!" अगर कोई [illegible] सम्भव है, कुछ दिन और जप कर ले, किन्तु [illegible]

नहीं है तो कुछ दूर चलकर सम्भव है, और कहीं भटक जाए, अन्धविश्वास के बीहड़ में अथवा सब कुछ छोड़छाड कर भाग जाए एकान्त में; और निष्क्रिय होकर बैठ जाए।

गतिहीनता भी सफलता में बाधक

और भौतिक क्षेत्र की स्थिति भी तो ऐसी ही है। अन्ततोगत्वा ये भौतिक और आध्यात्मिक क्षेत्र ही तो जीवन की दो राहें हैं। और मनुष्य जब जीवन को लेकर चलता है तो शरीर और आत्मा दोनों को साथ लेकर चलता है। शरीर को अलग और आत्मा को अलग छोड़कर तो वह गति ही नहीं कर सकता। शरीर और आत्मा दोनों के अद्‌भुत मिश्रण का नाम ही तो जीवन है—गतिशीलता है। गतिहीनता ही मृत्यु है। मनुष्य भौतिक क्षेत्र में भी गति करता है तो आत्मा को साथ लेकर ही गति करता है और आध्यात्मिक क्षेत्र में भी आत्मा को लेकर गति करता है। किन्तु इन दोनों क्षेत्रों में निरन्तर गति करने पर भी रुकावटें क्यों आती हैं ? अभीष्ट कार्य क्यों नहीं बन पाता ?

सफलता में बाधक : बाह्य कारण

दर्शनशास्त्रों में प्रत्येक कार्य में सफलता न मिलने या रुकावट आ जाने के अनेक कारण बताये हैं। कोई दर्शन कर्मों को कारण बताता है, कोई प्रारब्ध को और कोई ईश्वर को कारण बताता है। अर्थात् एक या दूसरे प्रकार से इनमें से किसी भी एक को सफलता में कारण मानकर कह देते हैं—अमुक कारण की अनुकूलता नहीं थी, इसलिए कार्य में सफलता नहीं मिली।

इसे ही एक दूसरे पहलू से सोचें तो जो लोग इतनी बरीकी में नहीं उतरते वे लोग कहते हैं—फलां भाई ने रुकावट डाल दी, अमुक ने मेरे कार्य में अड़चन डाल दी या पड़ोसियों ने मेरे काम को होने नहीं दिया इत्यादि; ये और ऐसे ही अन्य कई कारणों की कल्पना करते हैं। जिन कारणों को ऐसे स्थूलदृष्टि लोग अपने कार्य में रुकावट डालने वाले मानते हैं, उनके साथ उलझने की और उन्हें कोसने की कोशिश करते हैं।

असफलता के पुराने और नये कारणों पर विचार

अभिप्राय यह है कि मनुष्य अपने कार्य में मिलने वाली असफलता का ध्यान रखकर उसके कारणों की मीमांसा में उतरता है। ऐसी स्थिति में या तो वह पुराने दर्शनशास्त्रों द्वारा बताए गए कर्म, प्रारब्ध या ईश्वर पर अपनी असफलता को टोकरा डाल देता है, अथवा नये समाजशास्त्र के अनुसार वह अपने परिवार, जाति, समाज, प्रान्त, नगर या राष्ट्र आदि में से किसी व्यक्ति या किन्हीं व्यक्तियों को अपनी असफलता में निमित्त मान लेता है। उनके साथ द्वन्द्व खड़ा करता है या उन्हें भला-बुरा कहता है। इस प्रकार व्यक्ति यथार्थ सिद्धान्त को न पकड़ पाने के कारण—यानी अपने उपादान को न टटोलने और अपनी आत्मा के पूर्ववर्ती या उत्तरवर्ती दोषों या

अपराधों का आलोचन न कर पाने के कारण जीवन में हताश-निराश और क्षुब्ध रहता है, वह इसलिए कि वह सारा ही दोषारोपण निमित्तों (दूसरों) पर करके उनके साथ द्वन्द्व खड़ा करता है।

हमने माना कि कुछ प्रारब्ध (पूर्वकृत कर्म) होते हैं और कुछ दैवी शक्तियाँ भी होती हैं। साथ ही यह भी माना कि कल या पहले जो कुछ हमने किया है, वैसा ही फल सामने आएगा। और यह बात भी मानी गई कि वर्तमान जगत् में भी कभी-कभी संगी-साथी भी दुःख देते हैं। जो एक दिन सुख देने वाले या फूल बरसाने वाले थे, वे ही एक दिन दुःख देने वाले और काँटों की झाड़ियाँ बन जाते हैं। चट्टानें बनकर हमारे मार्ग में खड़े हो जाते हैं। हमारे पथ को प्रशस्त नहीं होने देते।

वास्तविक सफलता हृदयाकाश पर निर्भर

परन्तु एक बात मैं अवश्य कहूँगी कि भारतवर्ष का चिन्तन और दर्शन केवल इन्हीं कारणों पर असफलताओं का दोषारोपण करके नहीं बैठ गया। उसने मनुष्य की सफलताओं का सबसे बड़ा उत्तरदायित्व मनुष्य के हृदयाकाश पर डाला है।

बाह्यसृष्टि और अन्तरंगसृष्टि

हम दो आकाश मानते हैं—एक तो दृश्यमान विराट् नील गगनमंडल और दूसरा है चिदाकाश यानी हृदयस्थ गगनमण्डल। जैसे इस प्रत्यक्ष आकाश में सृष्टि है, वैसे ही इस हृदयाकाश में भी सृष्टि है। हमारा हृदयाकाश भी सृष्टि से शून्य नहीं है। स्थूल महाकाश में जैसे प्रतिक्षण निर्माण और ध्वंस चलता रहता है, वैसे ही इस सूक्ष्म महाकाश में भी प्रतिक्षण जन्म-मरण के रूप में निर्माण और ध्वंस चलता रहता है। सृष्टि का अर्थ ही है—जहाँ जन्म-मरण होता है। हम जिधर भी नजर डालते हैं, उधर ही जन्म-मरण चलता नजर आता है। तात्पर्य यह है कि जैसे उस बाह्य महाकाश में भी यह सृष्टि निरन्तर जन्म ले रही है और मर रही है वैसे ही इस चिदाकाश में भी एक सृष्टि बनती है, दूसरी नष्ट होती है। यानी प्रतिक्षण सृष्टियाँ बनती भी हैं, नष्ट भी होती हैं। आप अनुभव करते होंगे—हमारे मन में प्रतिक्षण तरंगें उठती हैं और समाप्त भी होती जाती हैं। अगर आप किसी महासमुद्र के किनारे खड़े हों तो गर्जते हुए समुद्र की तूफानी लहरों को सामने से आती हुई देखते हैं और उसी समय उन्हें नष्ट होती भी देखते हैं। उस समय समुद्र अत्यन्त विक्षुब्ध हो जाता है। हजारों, लाखों तरंगें एक साथ खड़ी होती हैं और एक साथ ही मरती हैं। अर्थात् इन तरंगों का जन्म-मरण अथवा सीधी-सी भाषा में उत्पत्ति और प्रलय एक बार नहीं, हजारों बार होता है। ये तरंगें उत्पन्न भी होती हैं, साथ ही प्रलय भी उनका होता रहता है। जिस प्रकार आप प्रत्यक्ष दृश्यमान महासमुद्र में तरंगों की उत्पत्ति और ह्रास यानी जन्म-मरण होते देखते रहते हैं उसी प्रकार इस चिदाकाश में भी हजारों तरंगें उठती हैं और नष्ट भी होती जाती हैं। विचारों का प्रादुर्भाव और तिरोभाव होता रहता है। यानी विचारों का जन्म-मरण हमारे हृदयाकाश में होता रहता है।

कोई प्रश्न कर सकता है कि इस चिदाकाश में विचारों का जन्म-मरण होते हुए हमें पता क्यों नहीं लग पाता ? इसका समुचित समाधान यह है कि हमारी दृष्टि बाहर में अधिक होने के कारण हमें मन का ठीक पता नहीं लग पाता । बाह्य संसार में बहुत अधिक देखने के कारण तथा हमारी इन्द्रियाँ बहिर्मुखी होने के कारण वैचारिक जन्म-मरण की सृष्टि का हम अन्दाजा नहीं लगा पाते । कविवर श्रीमद् रायचन्दजी ने एक गाथा में इसका निचोड़ दे दिया है ।

"क्षण-क्षण भयंकर भावमरणे, कां अहो राची रहो ।"

अन्तर के रहस्य को जानो

भारतवर्ष के महान् आचार्यों ने इस तथ्य का रहस्योद्घाटन करते हुए कहा कि जब इन्द्रियाँ बहिर्मुखी होती हैं, तब अपनी हत्याएँ करती रहती हैं, अगर हत्या नहीं करती हैं तो घायल तो अवश्य करती रहती हैं । यह निर्विवाद है ।

तात्पर्य यह है कि हमारे जीवन का चक्र अन्दर में न रह कर बाहर में अधिकतर रहता है । और बाहर में अधिक रहता है, इस कारण अन्दर के रहस्यों को पढ़ नहीं पाता । अन्दर के जीवन का केन्द्र मन है, वही हमारे लिए चिदाकाश है ।

बाह्यजगत् की इतनी छानबीन, मगर आन्तरिक जगत् की····?

संसार के बड़े-बड़े नक्षत्रविदों और ज्योतिषियों ने आकाश के नक्षत्रों का पता लगाया है । उन्हें यह पता रहता है कि सूर्य-चन्द्रमा कब उदय होंगे, कब अस्त होंगे ? हजारों वर्षों पहले कब ग्रहण हुआ था और हजारों वर्षों बाद फिर कब ग्रहण लगेगा ? उनके चिन्तन में भूतकाल और भविष्यकाल की बहुत दूरी नाप ली है । कब, कौनसा ग्रह नक्षत्र आयेगा, यह बताना उनके लिए मामूली-सी प्रक्रिया हो गई है । और यह मत समझिये कि उन्होंने कह दिया और हो गया । उन्हें भी गणित लगाना पड़ता है । जब आपके सामने अपने जीवन का दस-बीस वर्ष के बाद का भविष्य ज्योतिष से सही मिलता है, तो ज्योतिश्चक्रों का हजारों वर्षों बाद का भविष्य भी क्यों नहीं सत्य होगी ? यानी जब कुछ वर्षों की दूरी का सही अनुमान मनुष्य लगा लेता है तो हजारों वर्षों की दूरी का अनुमान लगाना उनके लिए क्या कठिन है ? वे जैसे भविष्य के दर्शन कराते हैं, वैसे ही भूतकाल के भी दर्शन कराते रहे हैं ।

वैज्ञानिकों ने प्रकृति के जर्रे-जर्रे का पता लगा लिया है, कण-कण को नाप-तौल लिया है । नदियों, नालों, पहाड़ों, गुफाओं में और समुद्रतल में, पृथ्वी के गर्भ में कहाँ क्या चीज छिपी हुई है ? इसका पता भी वैज्ञानिकों, भूगर्भवेत्ताओं तथा गोताखोरों ने लगा लिया है । आकाश में विमान उड़ते रहते हैं, उनमें अनेक ऐसे यंत्र लगे रहते हैं, इधर-उधर घूमते रहते हैं, जिनसे वे पता लगा लेते हैं कि कहाँ क्या गतिविधि हो रही है ? दूसरी ओर, पृथ्वी के गर्भ में कहाँ कौन-सी धातु है, कौन-सा खनिज पदार्थ छिपा है ? इसका पता भूगर्भवेत्ता लगाते रहते हैं । पुरातत्त्ववेत्ताओं ने खुदाई के आधार पर बहुत-सी चीजों का पता लगाया है । इस प्रकार पृथ्वी के कण-कण का

सर्वेक्षण होता रहता है। परमाणु के हृदय को भी देखने की कोशिश की गई है। यह दावा किया गया है कि वैज्ञानिकों द्वारा परमाणु की परतों का भेदन करने के बाद पृथ्वी के कण-कण को दूर-दूर तक मनुष्य जान चुका है।

आश्चर्य तो यह होता है कि मनुष्य पृथ्वी के दूर-दूर तक का भेदन कर चुका, लेकिन दुर्भाग्य से वह अपने निकटतम साथी मन का भेदन नहीं कर सका। जिसकी हर धड़कन में विशाल संसार खड़ा है और जिसके जरा-से लड़खड़ाते ही वह समाप्त है, उसका पता लगाने में आज का वैज्ञानिक बहुत पीछे है। वास्तव में, जो अपने निकट का अन्तरंग साथी है, उसकी क्या भूमिकाएँ या स्थितियाँ हैं, उसे जानने का विशेष उपक्रम करना चाहिए था, कि यह अन्दर का जीवन कैसे चल रहा है? मतलब यह है कि अपने मन की और दूसरों के मन की हलचलों का पता अभी तक अज्ञात रहा, उसे ज्ञात करने का प्रयत्न करना चाहिए।

एक ही पिता की दो सन्तानों में महाभारत हुआ। दोनों के शरीर में एक ही रक्त की धारा बह रही थी, परन्तु वे एक-दूसरे के खून के प्यासे बने रहे। एक-दूसरे की बहन-बेटी की इज्जत लूटने की चेष्टा करते रहे। द्रौपदी को भरी सभा में नंगी करने का प्रयास किया जा रहा था। उस युग की और वर्तमान युग की तुलना नहीं की जा सकती। क्या उन दूसरों का न्याय करने वाले मान्धाताओं की दृष्टि में यह अन्याय-अत्याचार नहीं था? अगर था तो वे इस अन्याय का खेल क्यों खेलते रहे? बात यह थी कि आवेश में आकर एक भाई ने दूसरे भाई के हृदय को जाकर देखा भी नहीं कि उसमें क्या बात चल रही है? इसी कारण वे सारे के सारे दीवाने बन कर लड़ते रहे। साठ-सत्तर वर्ष के बूढ़े हो जाने पर भी उनके लड़ने के तौर-तरीकों में कोई अन्तर नहीं आता। वही पुरानी वृत्ति और वही रूढ़ि। आप सुनकर हैरान होंगे कि इतने वर्षों तक साथ-साथ रहने पर भी एक-दूसरे के हृदय को जानने का प्रयत्न नहीं किया और न ही एक-दूसरे के मन को देखा, समझा या परखा। इसी कारण जब हम इतिहास पढ़ते हैं तो ऐसा जान पड़ता है कि बड़े-बड़े दिग्गज कहलाने वाले योद्धाओं, नरेशों, ऋषियों, ब्राह्मणों और साधकों ने बाहर की दुनिया की ओर तो खूब झांका, बाहर की हलचलों का तो खूब पता लगाया, परन्तु अन्दर की हलचलों का जरा भी पता न लगाया। इस विषय में वे अंधेरे में ही भटकते रहे। जीवन की पचास-साठ वर्ष लम्बी यात्रा में उन्होंने क्या उपलब्ध किया? पचास-साठ वर्ष के हो जाने पर भी आठ-दस वर्ष के बच्चों को गालियाँ दें, शाप दें, मुँह से फूल झड़ने के बजाय अंगारे बरसें तो समझना चाहिए कि इतने वर्षों तक उन्होंने यों ही पापड़ बेले। कहावत है—'बारह वर्ष तक दिल्ली में रहे और भाड़ ही झोंका' न पढ़े-लिखे और न कुछ कमाया-धमाया ही, खाली हाथ लौट कर आ गये। इस कहावत के अनुसार बारह वर्ष की सीमा तो है, परन्तु यहाँ तो हम देखते हैं, पचास-साठ वर्ष की उम्र तक की जीवनयात्रा में यों ही भाड़ झोंकते रहते हैं, बहुत-से लोग। उन्हें अपनी जीवनयात्रा

में कुछ भी सफलता के दर्शन नहीं होते। हों भी कैसे? उन्होंने व्यवस्थित ढंग से सफलता के कारणों को जान कर तदनुसार चलने का प्रयत्न भी तो नहीं किया। उन्होंने अपने हृदयाकाश के रहस्यों को जानने की कोशिश नहीं की। साठ-सत्तर वर्ष तक की जिंदगी में भी वे मन के कांटों को फूल नहीं बना सके। उनके मन रूपी गगनमण्डल में वही काम, क्रोध, लोभ, मोह और अभिमान की गर्जनाएँ होती रहीं। पति-पत्नी, भाई-भाई, सास-बहू, ननद-भाभी, चाचा-भतीजा आपस में लड़ते रहे, एक-दूसरे के हृदय को समझने का प्रयास नहीं किया। इसलिए उनके हृदयाकाश के मेघों से माधुर्यरस की वर्षा नहीं हो पाई। एक-दूसरे के मन को छेदते रहे। दूसरे के अपमान और तिरस्कार में आनन्द की अनुभूति करते रहे। ऐसी जिन्दगी में और पशु की जिंदगी में भला क्या अन्तर रहा? मुझे कहने दीजिए कि ऐसे जीवन में सफलताएँ कैसे मिल सकती हैं, जहाँ बाहर की दुनिया में तो सब कुछ देखा जाए परन्तु अन्दर की दुनियाँ में बिलकुल झांका भी न जाए।

प्रभु की बाहर की ज्योति के अन्दर में निहारो!

भारतवर्ष की उपासनाविधि में एक बात पर खासतौर से जोर दिया गया है कि तुम प्रभु के सामने खड़े हो; तब प्रभु की ज्योति को देखो और उसके बाद उसी ज्योति को अपने अन्दर देखो कि वह तुम्हारे अन्दर भी है या नहीं? यानी भगवान् की भक्ति और उपासना के माध्यम से तुम अपनी अन्तरात्मा की भक्ति और उपासना करो। यह है उपासना का रहस्य! जो भक्त इस बात को न जान कर केवल बाहर ही खड़ा-खड़ा उपासना कर ले, बाहर की ही झाँकी देखकर रह जाए; अपने अन्दर भगवान् की झाँकी न देखे, उसकी उपासना वास्तविक उपासना नहीं है।

अद्वैत उपासना का रहस्य

यह ठीक है कि प्रारम्भ में द्वैत-उपासना का यही रूप है, और इसी प्रकार भक्त भगवान् से अपने को अलग मान कर उनकी उपासना करता है। वह प्राथमिक भूमिका में इसी प्रकार मान कर चलता है कि भगवान् श्रेष्ठ हैं, उच्च भूमिका पर स्थित है, मैं नीची भूमिका पर हूँ निकृष्ट हूँ। कहाँ मैं और कहाँ भगवान्? परन्तु बाद में तो आगे बढ़ कर भगवान् और भक्त को अभिन्न समझ कर अद्वैत उपासना करनी चाहिए। और यही सोचना चाहिए कि—'वह, मैं हूं' (**सोऽहम्**)। वेदान्त में भी कहा है—**'तत्त्वमसि'** (वह तू है)।

भारत के दार्शनिकों ने कहा कि तुम राम, कृष्ण, बुद्ध, महावीर आदि में से जिस किसी भी इष्ट की उपासना करते हो और जिस किसी भी लक्ष्य के प्रति अपनी श्रद्धांजलि अर्पण करते हो। अपने मन की श्रद्धा और रुचि के अनुसार चाहे जिस महापुरुष या महालक्ष्य को तुमने चुन लिया। वह चाहे साकार हो या निराकार, पर अपने उस इष्ट या लक्ष्य को बाहर ही देखते हो, या बाहर ही रख छोड़ते हो, यह बात उचित नहीं। उपासना के तत्त्व की दृष्टि से यह बात यथार्थ नहीं। भारतवर्ष

के सभी दार्शनिकों ने घुमा-फिराकर अन्त में एक ही बात कह दी कि तुम घंटे, दो घंटे या चार घण्टे, चाहे जितनी देर अपने इष्ट या लक्ष्य की उपासना करो, पर उपासना की समाप्ति पर देखो कि तुम्हारे अन्दर में वह इष्ट या लक्ष्य रम रहा है या नहीं ? बुद्ध या महावीर, राम या कृष्ण तुम्हारे अन्दर हृदय सिंहासन पर तुमने विराजमान किये है या नहीं ? अगर वे तुम्हारे अन्दर विराजित हैं तो कोई शंका की बात नहीं है। जिस इष्ट या लक्ष्य की उपासना तू करना चाहता है, वह तू ही है, तू ही ब्रह्म है, वह तेरे अन्दर ही है, बाहर कहीं नहीं है। इसलिए तू उनके दर्शन करना चाहता है तो अपने अन्दर दर्शन कर। क्योंकि तुझे अपने अभेद स्वरूप को प्राप्त करना है। भगवान या इष्ट के स्वरूप के साथ तुझे अपने स्वरूप की तुलना करनी है। यही 'तत् त्वमसि' सूत्र का रहस्य है। यही सर्वभूतात्मभूत का तत्त्व है।

भगवान् महावीर ने और बाद के आचार्यों ने इस रहस्य को खोलते हुए कहा है—

'जिन पई ने जे जिन आराधे, तेसे ही जिनवर होवे रे।'

तू आज जिन नहीं है,[१] तुझे जिन भी आज नहीं दिखाई देते, सिर्फ जिन भगवान् की वे न्यायसंगत वाणियाँ गूँज रही है, उनका बताया हुआ वह उज्ज्वल पथ दिखाई दे रहा है। परन्तु इस अभावजनक स्थिति को समाप्त करने के लिए अपने चिदाकाश में जिन की आराधना करने से सचमुच जिन भगवान् के साथ अद्वैत हो जायेगा।

चिदाकाश को टटोलो—सफलता के लिए

उपासना की इस भूमिका तक पहुँचने का तरीका यही है कि अपने मन के गगन को, चिदाकाश को रोज-रोज टटोला जाय और यह देखा जाय कि मन में भगवान् विराजे है या नहीं, बाहर की झांकी अन्दर भी हो रही है या नहीं ? चिदाकाश का प्रतिदिन प्रतिलेखन, आलोकन एवं आलोचन (निरीक्षण-परीक्षण) करते रहने से धीरे-धीरे सारे रहस्य अपने आप खुल जाएँगे। आपके मन रूपी गगन में कितना कूड़ा-कर्कट भरा हुआ है, कितना शुद्ध हुआ है ? भगवान् आपके अन्तर्मन में विराजमान हुए हैं या अभी बाहर ही खड़े है ? इन सबका लेखाजोखा आपको करना चाहिए।

किसान खेत में बीज बोकर चुपचाप बैठ नहीं जाता। वह बीज बोने के बाद रोजाना देखता है कि बीज अंकुरित हुआ या नहीं ? फसल कितनी ऊपर आई है, कितनी फसल तैयार हुई है ? फसल पकने को आई है या नहीं ? साथ ही वह अपने खेत की निरन्तर रखवाली करता रहता है कि कहीं कोई प्राणी फसल को नुकसान न पहुँचा दे।

---

१ न हु जिणे अज्ज दिस्सई, बहुमए दिस्सई मग्ग देसिए।
संपइ नेयाउए पहे, समयं गोयम ! मा पमायए॥

—उत्त० अ—१०।३१

आप भी कोई कल-कारखाना लगाते हैं तो रोजाना वहाँ हाजरी देते हैं और मालूम करते रहते हैं कि कारखाना चलता है या नहीं ? उत्पादन बढ़ रहा है या नहीं ? कहीं किसी मशीन में कोई नुक्स तो नहीं आ गया है ? कहीं कुछ गड़बड़ तो नहीं है ?

अगर आप कोई दूकान भी खोलते हैं तो चाहे लड़का ही दूकान पर बैठता हो, फिर भी आपका मन नहीं मानता। आप दूकान संभालने के लिए चले ही जाते हैं और देखते रहते हैं कि दूकान ठीक चल रही है या नहीं ? ग्राहक को सौदा ठीक से मिल रहा है या नहीं ? कहीं किसी चीज की कमी तो नहीं है ? लड़का ग्राहकों के साथ अच्छा व्यवहार करता है या नहीं ?

हृदयाकाश का सतत निरीक्षण करो

ये सब हुईं, बाहर की बातें ! जब आप बाहर की दुनिया में इतना ध्यान रखते हैं या लोगों को इतना ध्यान रखते देखते हैं, तो अन्दर की दुनिया में भी इसी तरह ध्यान रखना चाहिए। आप आध्यात्मिक खेत में भजन, पूजन, माला, जप, सामायिक, प्रतिक्रमण, तप और व्रत के बीज बोते हैं, एक-दो दिन नहीं, महीनों तक नहीं, वर्षों तक बोते हैं, जिन्दगी के अन्तिम क्षण तक बीज बोते रहते हैं, सावन-भादों में अधिक तीव्रता के साथ ये बीज बोते हैं। परन्तु क्या बीज बोने के बाद कभी आप यह भी देखते हैं या नहीं कि फसल कितनी तैयार हुई है ? कितनी पकी है ? अभी फसल पकी नहीं है तो क्यों ? कहीं उस फसल को आसक्ति, लोभ, काम, क्रोध, अभिमान आदि के कीड़े तो नहीं लग गए हैं ? जो फसल आपने बोई है, या बो रहे हैं, वह बढ़ रही है या खराब हो रही है ? इसका पता आप रखते हैं या नहीं ?

इसी प्रकार जैसे बाहर के कल-कारखाने का ध्यान रखते हैं, वैसे ही अन्दर के कल-कारखाने का ध्यान रखते हैं या नहीं। हमारे मनरूपी गगन में या चिदाकाश में जो विशाल कारखाना चल रहा है, उसमें कितना उत्पादन हुआ है ? वह ठीक से चल रहा है या नहीं ? इसका भी पता आपको लगाते रहना चाहिए।

आप कहेंगे कि मनरूपी गगन में जो विशाल दुनिया चल रही है, उसकी जानकारी रखने से क्या मतलब सिद्ध होगा ? बस यही बात मैं समझाना चाहती थी कि जब तक आप मनरूपी गगन का हिसाब-किताब ठीक नहीं रखेंगे, तब तक आपको सफलता के दर्शन नहीं होंगे। आपको पता ही नहीं चलेगा कि मन के इस कारखाने का कौन-सा पुर्जा बिगड़ गया है, काम नहीं दे रहा है; उसे कैसे दुरुस्त किया जाए ? क्योंकि सफलता-असफलता का सारा दारोमदार मन के कारखाने को संभालने न संभालने पर है।

सफलता का अंतरंग कारण : विश्वास का सुस्थिर प्रकाश

सफलता-असफलता के बाह्य कारण चाहे भिन्न-भिन्न रहे हों, अन्तरंग कारण तो मनरूपी गगन को संभालने न संभालने में ही रहा है। जो साधक अपने चिदाकाश

का बारीकी से प्रतिदिन अध्ययन करता रहता है और इसमें बोए हुए बीज की और फसल की रक्षा करता है, वह सफलता के दर्शन अवश्य कर लेगा। परन्तु जो व्यक्ति बीज बोता जाता है, किन्तु उस बीज की देखभाल नहीं करता है तो उसे सफलता मिलने में सन्देह है। जो व्यक्ति अपने चिदाकाश का सतत अध्ययन करता रहता है, उसमें आत्मसम्मान की बहुत बड़ी ज्योति जलती रहती है। उसकी आँखें चाहे हजार बार रोएँ, परन्तु उसका मन कदापि नहीं रोता। जिसके मन की इस प्रकार की भूमिका हो जाती है, वही सफलता के सिंहद्वार पर पहुँचता है और अपनी सफलता के दर्शन करता है। परन्तु जो आत्माएँ मन में रोने लगती है, मन की शक्तियों पर जिन्हें विश्वास नहीं है, जो अन्दर के देवता पर श्रद्धा के फूल नहीं चढ़ाती हैं, और केवल बाहर की बाहर ही खड़ी रह जाती है, वे सफलता के द्वार तक नहीं पहुँचतीं और न ही वे सफलता के पथ पर चलने को तत्पर हुई है। इसका अर्थ यह हुआ कि जब तक हम अपने अन्दर विश्वास का एक सुस्थिर प्रकाश और श्रद्धा की जगमगाती ज्योति को नहीं देखते है, तब तक सफलता से बहुत दूर रहते हैं। यही कारण है कि बार-बार हर काम में असफलताएँ हमें पकड़ कर बैठ जाती हैं, वे हमें आगे बढ़ने नहीं देतीं।

आत्महीनता के शिकार न बनो

इसी बात को हम दूसरे रूप में यों कह सकते हैं कि जब व्यक्ति के चिदाकाश में निराशा के बादल उमड़-घुमड़ कर आते हैं और वह गर्जन-तर्जन के भय से तथा आलोचना-प्रत्यालोचना की बिजलियों के कड़कने से घबरा कर या चिदाकाश में उठने वाली दुर्वृत्तियों की तरंगों को सद्वृत्तियों में रूपान्तर करने के श्रम से उकता कर हताश होकर हार-थक कर बैठ जाय, तो स्वाभाविक है कि उसके मन में आत्मक्षुद्रता या आत्महीनता के भाव जाग्रत हो जायें और वह सोचे कि 'मैं तो कुछ नहीं कर सकता, मेरे से कुछ हो नहीं सकता। अब तो हद हो गई। इससे आगे बढ़ना मेरे बस की बात नहीं है। जैसा भाग्य में लिखा होगा, वैसा होकर रहेगा। अपने किये से क्या होता है?' यों आत्महीनता का शिकार बन जाना ही असफलता का सबसे बड़ा कारण है। यही सबसे बड़ा पाप और पतन का कारण है। मन में जब आत्मविश्वास और आत्मश्रद्धा की लौ जग जाती है तो ईश्वर, भाग्य, प्रारब्ध या कर्म कदाचित् कुछ प्रतिकूल भी हों, फिर भी इन दो अन्तरंग कारणों से वे भी अनुकूल बन जाते है। एक पाश्चात्य विचारक ने कहा है—

God helps those, who help themselves.

ईश्वर उन्हीं को सहायता देता है, जो अपने आप को सहायता देते है। 'हिम्मते मर्दा, मददे खुदा' मर्द बनकर किसी कार्य के करने में साहस करे तो ईश्वर भी उसकी मदद दे देता है।

मन के लूले-लँगड़े को कोई भी ऊपर नहीं उठा सकता। वह गिरता ही जाता है। इसी प्रकार जिसे अपने आप पर विश्वास न हो, अपनी शक्ति और क्षमता के

बारे में जिसे सन्देह हो, उसके लिए आसान समझा जाने वाला कार्य भी कठिन हो जाता है और जिसे अपनी शक्ति, बुद्धि और क्षमता के बारे में सन्देह न हो, दृढ़ आत्म-विश्वास हो, उसके लिए कठिन समझा जाने वाला कार्य भी सरल हो जाता है। निष्कर्ष यह है कि आत्मविश्वास और आत्मश्रद्धा सफलता और आत्मोत्थान के सबसे बड़े कारण हैं। जरा-सी आत्महीनता या क्षुद्रता मन में आई कि वहीं गत्यवरोध हो जाएगा। वह खुद तो गिरेगा ही, दूसरों को भी गिराने की कोशिश करेगा। आत्म-हीनता की स्थिति में आनन्दपूर्वक एवं उत्साहपूर्वक गति नहीं हो सकती।

आत्मविश्वास के साथ चले चलो

भारतीय दर्शनों ने प्रत्येक साधक से कहा है—

चरैवेति चरैवेति, चरन्वै मधु विन्दति

" हे साधक ! तू उत्साहपूर्वक चलता रह, चलता रह। जो सतत अपने निर्धारित लक्ष्य की दिशा में चलता रहता है, उसे अन्त में सफलता का मधु (मधुर रस) अवश्य मिलता है।

मैं यह बात विश्वास के साथ कह सकती हूँ कि जो मनुष्य आत्म-विश्वास के साथ अपने लक्ष्य की ओर गति करता है, वह अपने अभीष्ट लक्ष्य को प्राप्त कर लेता है। इस जीवन में चाहे सौ वर्ष तक जीना हो, सुख-शान्ति और सफलता के साथ जीओ, पर जीओ कर्म करते हुए, निष्काम कर्म करके जीने का ही तुम्हारा अधिकार है। फल की आशा से कर्म करके जीने में आनन्द नहीं। ईशोपनिषद् में इसी बात की ओर स्पष्ट निर्देश किया है—

'कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतं समाः।'

'इस संसार में कर्म करते हुए सौ वर्ष तक जीने की इच्छा करे।' यही नहीं, ऋषियों ने यहाँ तक कहा कि तुम्हारी जितनी आयु है, उतने वर्ष तक सुख से कर्म करते रहो, अगर मृत्यु आ जाए तो उसे सहर्ष स्वीकार कर लो। वस्त्र जीर्ण-शीर्ण होने पर उन्हें बदल कर नये वस्त्र पहन लिये जाते हैं, वैसे ही मृत्यु आने पर पुराना जीर्ण-शीर्ण शरीर (चोला) बदल कर सहर्ष नया शरीर, नया जन्म धारण कर लो। अगर तुम प्रकाश लेकर चल रहे हो तो तुम्हें घबराने की क्या बात है ? एक जन्म नहीं, कितने ही जन्म प्राप्त हों, दुःख की क्या बात है ? इसलिए आपको चलना ही चलना है, थक कर बैठ जाना नहीं है। आप सूर्य को देख रहे हैं न ! सूर्य प्रतिदिन नियमित रूप से उदय होता है, वह प्रकाश देने का काम करता रहता है, बिलकुल थके बिना, घबराये विना। गंगा नदी की धारा रात-दिन छलछलाती रहती है। वह विश्व को जीवनदान देती हुई हजारों-लाखों लोगों की प्यास बुझाती हुई महासागर की ओर विना थके, विना रुके चलती ही रहती है। इसी प्रकार हे साधक ! तुझे भी विना थके विना रुके चलते रहना है। थकना तो मानव की कमजोरी है।

सफलता का यही मूलमंत्र है। इसी मंत्र को लेकर जीवन के मैदान में जो चल पड़ता है, वह अवश्य ही सफलता प्राप्त करता है।

मन का विजेता : जगत को जीत लेता है

मैंने पहले कहा था कि सफलता या विजय के अन्तरंग कारणों का केन्द्र मन है। अगर मन को ठीक तरह से साध लिया जाए तो सफलता में कोई सन्देह नहीं रह जाता। भारत के महान् दार्शनिकों ने यही बात कही है कि तू अपने शरीर का विजेता बनना चाहता है, साथ ही परिवार, समाज और राष्ट्र पर विजय पाना चाहता है, इतना ही नहीं त्रिलोक विजयी बनने का तेरा संकल्प है तो अच्छी बात है, किन्तु ये सब विजय तो बाहर के विजेता बनने के स्वप्न हैं। अगर तू सच्चे माने में विजेता बनना चाहता है तो अन्दर का विजेता बन। अन्दर के साम्राज्य का केन्द्र मन है और मन पर विजय प्राप्त कर लेने पर तू जगत् का विजेता बन जाएगा।[1] फिर तेरी महाशक्ति के सामने सारा विश्व झुकने के लिए तैयार रहेगा। सारा भूमण्डल तेरे सामने नतमस्तक हो जाएगा। सफलता तेरे चरण चूमेगी। फिर संसार में ऐसा कोई कार्य शेष नहीं रहेगा, जो तेरे संकल्प से सिद्ध नहीं होगा। इसीलिए भागवतकार ने कहा—

'मनोविजेता जगतोविजेता'

मन पर विजय प्राप्त करने वाला जगत् का विजेता है। संग्राम में लाखों सुभटों पर विजय पाने वाला योद्धा मन के आगे हार खा जाता है। इसलिए बाह्य शत्रुओं को जीतना आसान है, मगर मन को जीतना बड़ा कठिन है। उत्तराध्ययन-सूत्र में नमिराजर्षि के त्याग-वैराग्य की कसौटी करने इन्द्र आता है, और उनसे कई प्रश्न पूछता है। उसी सिलसिले में इन्द्र ने उनसे कहा—"आप क्षत्रिय हैं, जो राजा-महाराजा आपके सामने झुकते नहीं हैं, उन्हें जीतकर अपने अधीन बनाकर तब आप संयम में दीक्षित हों तो अच्छा है।" इसके उत्तर में नमिराजर्षि ने कहा—

"जो सहस्सं सहस्साणं संगामे दुज्जए जिणे।
एगं जिणेज्ज अप्पाणं, एस से परमो जओ॥"

"जो दुर्जय संग्राम में लाखों सुभटों को जीत लेता है, मगर एक अपने मन को नहीं जीतता, उसकी वह विजय अधूरी है। अतः एक मन (आत्मा) को जीतना ही उस साधक के लिए परम जय है।" मन पर विजय पाने वाला सारे संसार को वश में कर सकता है।

आत्मविश्वास के शत्रुओं से बचो

मन समस्त विश्वासों और आशाओं का केन्द्र है, सारी सद्भावनाएँ, भावनाएँ,

१ अप्पाणमेव जुज्झाहि, किं ते जुज्झेण बज्झओ।
अप्पणामेव अप्पाणं, जइत्ता सुहमेहए॥ —उत्तरा० ९।३५

उत्साह, साहस और संकल्पों का प्रकाशस्तम्भ मन है। इस मनरूपी गगन में आप गति करें, तब यह शंका न लाइए कि कहीं मेरी गाड़ी अटक तो नहीं जाएगी ? मुझे लक्ष्य या इष्ट प्राप्त होगा या नहीं ? होगा तो कब होगा ? सफलता के मार्ग में ये जब-तब-कब ही बहुत बड़े रोड़े हैं। ये इन्सान को डाँवाडोल करके सफलता की सीढ़ियों से नीचे गिरा देते हैं। इसलिए विश्वास और श्रद्धा के साथ आगे बढ़े चलो, और आत्महीनता अथवा आत्मा की दरिद्रता या अविश्वास को बीच में मत लाओ। जब, तब और कब से साफ बचो। ये शत्रु हैं—आत्मविकास के।

कई दफा हमारे भाई-बहन मुझसे पूछने आते हैं कि हम इतनी माला फेरते हैं, भगवान् का इतना भजन करते हैं, ध्यान, चिन्तन, व्याख्यान-श्रवण आदि सब कुछ करते हैं, फिर भी हमें विश्वास नहीं होता कि हम आस्तिक हैं या नहीं ? मैं सुनकर हैरान हो जाती हूँ, उनकी बातों को। क्या इतना बड़ा हिमालय उठा कर भी आस्तिकता के विषय में अभी सन्देह है ? यह तो वैसा ही सवाल है कि एक विद्यार्थी मेट्रिक परीक्षा उत्तीर्ण करके फिर पूछे कि मैं चौथी कक्षा में पास हूँ या नहीं ? मुझमें चौथी कक्षा की योग्यता है या नहीं ? कैसा होगा, यह सवाल ? यह सवाल ऐसा ही है जैसे पंचम गुणस्थान को पार कर लेने या वहाँ तक पहुँच लेने के बाद कोई पूछे कि मेरे अन्दर सम्यक्त्व, आस्तिक्य या श्रद्धा है या नहीं ? इतनी दूर चलने के बाद या इतनी साधना की सीढ़ियाँ चढ़ने के बाद प्राथमिक सीढ़ी का प्रश्न है। यह स्वप्न की-सी जिन्दगी है, ओघ संज्ञा से चलने की बात है। ऐसी अनास्थाएँ और अविश्वास ही जीवन को गड़बड़ में डाल देते हैं। साधक में इतना आत्मविश्वास तो होना ही चाहिए कि वह चाहे हजार बार गिर जाए, लेकिन एक दिन उसे लक्ष्य अथवा इष्ट प्राप्त होगा, अवश्य ही होगा। देर हो सकती है, अंधेर नहीं।

कभी-कभी ऐसा होता है कि साधक आत्म-विश्वास के साथ चल रहा है, किन्तु मार्ग में कुछ ऐसी बाह्य अड़चनें आ गईं, बीमारी आ गई, उसके साथी ने धोखा दे दिया, बुढ़ापा आगया, किसी पूर्व कर्म के उदय के वश किसी सहायक, गुरु अथवा मार्गदर्शक का वियोग हो गया, बुद्धि कुण्ठित हो गई, ऐसे समय कदाचित् राह बदलनी पड़े, पर मूल लक्ष्य या अभीष्ट ध्येय नहीं बदलना चाहिए। इधर-उधर रास्ता छोड़ कर चाहे चलना पड़े, लेकिन आत्मविश्वास नहीं खोना चाहिए। जीवन में जब आत्म-हीनता नष्ट हो जाती है, और मन रूपी गगन प्रकाशित हो जाता है, तब साहस, निष्ठा, श्रद्धा और आत्मविश्वास से पथ पर चलते-चलते एक दिन सफलता के उच्च शिखर पर व्यक्ति चढ़ ही जायेगा। निष्कर्ष यह है कि जहाँ दृढ़ विश्वास होता है, वहाँ कार्य की सिद्धि होती है।

आत्म-विश्वास गिरा कि सफलता समाप्त

मान लीजिए, एक-एक फुट चौड़े कई लकड़ी के तख्ते जमीन पर रख दिये जाएँ और उन पर आपसे चलने को कहा जाए तो आप शीघ्र ही दौड़ते हुए चले

जाएँगे। लेकिन उन्हीं तख्तों को नदी या पानी के प्रवाह पर पुल के रूप में दोनों ओर की ऊँची जमीन पर रख दिया जाए उसके नीचे पानी चल रहा हो, और फिर आप से कहा जाए कि इन पर चलिए। तो आप आनाकानी करेंगे, बेखटके नहीं चलेंगे, उन पर। तख्ते चाहे वे ही हैं, चलने वाले भी आप ही हैं, किन्तु पहले और अब में अन्तर क्यों हो गया? पहले तो आप इन्हीं तख्तों पर बेखटके झटपट चले थे, और अब इन्हीं तख्तों पर बेखटके और शीघ्र चलने से क्यों कतराते हैं? इसलिए कि पहले तो आपको विश्वास था कि मैं इन पर चलूँगा तो गिरूँगा नहीं, क्योंकि तख्ते जमीन पर रखे हुए थे; इसलिए आप चले थे, और गिरे नहीं। लेकिन अब आप उन्हीं तख्तों पर पैर रखते हैं, किन्तु आपके मन में विश्वास नहीं है कि मैं गिरूँगा नहीं। आपके मन में है—अब गिरा, अब गिरा! इस प्रकार के डगमगाते मन से आप पैर उन तख्तों पर रख भी देंगे, तो तुरन्त ही गिर पड़ेंगे।

आत्मविश्वास के साथ चले कि सफलता मिली

निष्कर्ष यह है कि आपके मन में जब विश्वास खत्म हो जाता है या आपकी श्रद्धा डाँवाडोल हो जाती है, कि यह काम मैं नहीं कर सकूँगा, यह मुझ से कभी नहीं हो सकेगा अथवा कार्य को शुरू करने के बाद भी मन में वहम आते जाएँगे तो आप उस कार्य में कदापि सफल नहीं हो सकेंगे और यदि आप में दृढ़ विश्वास है और मन में अटल श्रद्धा है कि इस कार्य को मैं कर सकूँगा। यह कौन-सा महाभारत है? तो आप गिरते-पड़ते भी उस कार्य को अवश्य सिद्ध कर लेंगे, अवश्य ही सफल हो जाएँगे। सरकस में आपने देखा होगा कि एक पतली-सी डोरी पर आदमी खड़ा हो जाता है, नट बाँस के खम्भों पर झूलती हुई रस्सी पर नाच लेते हैं; उछल लेते हैं और इधर से उधर चल लेते हैं। साधारण-सी रस्सी या तार पर वहाँ क्या अवलम्बन है? परन्तु इतना पतला-सा संकड़ा-सा अवलम्बन है, तो भी वे गति करते हैं। इसलिए जब आप एक फुट चौड़े तख्तों पर चलें, तब आपमें यह विश्वास होना चाहिए कि जब एक पतले से तार या डोरी पर सरकस के खिलाड़ी दौड़ते हुए चल लेते हैं, तब मैं क्यों नहीं चल सकूँगा? बस, प्रत्येक कार्य में सफलता का यही सर्वोत्तम सूत्र है कि चाहे कितना ही कठिन कार्य हो, विश्वास रख कर चलो, अवश्य ही सफलता मिलेगी, सरकस के खिलाड़ी ने सम्भव है, एक-दो दफे ऐसे तार पर या रस्सी पर चलने में गलती भी की होगी; और गिर भी पड़ा होगा, लेकिन हर बार गिरने के साथ-साथ उसके ट्रेनर ने उसके संस्कार को मजबूत भी किया होगा, प्रोत्साहन दे-देकर और तब एक दिन उसका पैर उस पतली डोरी पर चलने में अभ्यस्त हो गया होगा। उसका आत्मविश्वास सुदृढ़ हो गया होगा कि मैं अब इस पतली डोरी पर बेखटके चल सकूँगा, कभी गिरूँगा नहीं। इसी प्रकार प्रत्येक साधक जब पहले अभ्यास करता है तो कदाचित् एक-दो बार गिर भी पड़े लेकिन उसे आत्मविश्वास का दीपक बुझने नहीं देना चाहिए। अभ्यास करते-करते एक दिन उसका मन और तन इतना सध जाएगा कि वह टूट कर आत्मविश्वास के साथ बेखटके भी चलेगा तो वह उस कार्य को

पार कर जायेगा। नदी या तालाब में तैरना सीखने वाला व्यक्ति पानी देखकर घबरा जाए, उसमें उतरे ही नहीं, तो कैसे तैरना सीख सकता है ? उसे तैराक के वचन पर विश्वास रख कर साहस के साथ पानी में कूद पड़ना पड़ता है, एक-दो बार वह तालाब या नदी में डूबने जैसा हो भी जाता है, किन्तु उसका प्रशिक्षक उसे बचा लेता है। आखिर एक दिन उस नौसिखिये तैराक को पक्का विश्वास हो जाता है कि चाहे जितना पानी हो, मैं तैरकर पार कर लूंगा, डूबूंगा नहीं, तो वह कितना ही गहरा पानी हो, पार कर लेता है, डुबकी भी लगा लेता है।

हारिए न हिम्मत, बिसारिये न राम !

इसलिए साधक के सामने चाहे जितना अन्धकार आजाए, आलोचना-प्रत्यालोचना की बिजलियाँ कड़कने लगें, कोई भी साथी या मार्गदर्शक उसके साथ न हो, भयंकर शून्य वन हो, एकाकी हो, हिंस्र पशुओं की घोर आवाज आ रही हो, पथ में भयंकर विघ्न-बाधाएँ चट्टान की तरह अड़ी खड़ी हों, फिर भी उसे अपना आत्म-विश्वास, साहस और दृढ़ संकल्प नहीं खोना चाहिए। कवि के शब्दों में सुन्दर प्रेरणा सुनिये—

हिम्मत न वीर खो, दिलगीर तू न हो !
तदबीर तो कर कुछ, तकदीर को न रो ॥ध्रुव॥
आंसू न बहा रे ! मोती न लुटा रे,
बेवक्त की रिमझिम से जीवन हरा न हो ॥हिम्मत०॥१॥
गैरों को क्या ताकता है ? क्या खुद नहीं कर सकता है ?
तू शक्तिपुंज होकर, मत मित्र ? दीन हो ॥हिम्मत०॥२॥
निराशा को हटा दे, कदम को तू आगे बढ़ा दे।
कुछ करके दिखा दे तो संसार साथ हो ॥हिम्मत०॥३॥
'केवल' प्रभु गुण गाके, तू मन को यह समझा दे।
ये दिन भी ना रहेंगे, जब दिन रहे न वो ॥हिम्मत०॥४॥

कितनी सुन्दर प्रेरणा है, हर पंक्ति में ! जीवन में अगर सफलता प्राप्त करनी है, कभी पस्तहिम्मत मत बन, लाचार बन कर दीन-हीन होकर किसी के सामने गिड़गिड़ा भी मत। तुम्हारे आँसुओं का मूल्यांकन कोई भी न करेगा। साथी मिल जाए तो ठीक, अन्यथा अकेला चल। भाग्य का रोना मत रो, पुरुषार्थ करता चल। शक्तिपुंज होकर तू दीन-हीन, निराश क्यों होता है ? बस, आगे कदम बढ़ाकर संसार को कुछ दिखा दे।

आखरी ढेला : बस, आखरी प्रयत्न !

मैंने कहीं पढ़ा था कि अमेरिका का एक बहुत बड़ा व्यक्ति रेमंड अपने दो साथियों—रेफल और सोनोलान के साथ हीरे की खोज में निकला। वे तीनों कई पहाड़ों में भटकते रहे। पहाड़ी नदियाँ, जो बहुत नीचे से, अन्दर से गुजरती थीं,

के किनारे जो पत्थर, ढेले आदि पड़े थे, उनको उठा-उठा कर देखते जाते और रखते जाते थे। रेमंड खुद सुबह से शाम तक इस प्रकार एक-एक पत्थर उठाकर देखता था, और उसके दोनों साथी भी। भूख-प्यास, सर्दी-गर्मी सब सह सहते हुए और अनेक कष्ट उठाते हुए उन्होंने वर्षों गुजार दिये। अभी तक कहीं हीरा नहीं मिला। किन्तु उन्हें आत्मविश्वास था कि एक न एक दिन हमें हीरा जरूर मिलेगा। तीनों के कपड़े चिथड़े-चिथड़े हो गए, उनका शरीर सूखकर कांटा हो गया, कपड़ों में से बदबू आने लगी। महीने पर महीने बीतते चले गए। गर्मी दुपहरी में भी वे सतत इस कार्य को बिना थके करते रहते। दूसरा होता तो निराश-हताश होकर भाग खड़ा होता। किन्तु वे तीनों महारथी हताशा के क्षणों में भी हताश नहीं हुए। अपने विश्वास और संकल्प से वे डिगे नहीं। कहीं कुछ भी प्राप्त न होने पर भी वे आगे से आगे बढ़ते गए। किन्तु आखिर तो शरीर शरीर ही है। कड़ी धूप में हर पत्थर को उठाना, देखना और पुनः रखना बहुत ही सख्त काम था, सोलोमन की दोनों आँखें सूज गईं, फिर भी कुछ प्राप्त नहीं हुआ। रेफन साहब जो उस पार्टी के नायक थे, रेतीली सूखी नदी के तट पर खड़े पहाड़ की एक चट्टान के सहारे हताश होकर गिर पड़े और अपने साथियों से कहने लगे—"साथियो! अब मुझसे कुछ नहीं हो सकता। मैंने इतने ढेले उठाए हैं कि अब एक पत्थर और उठा लूँ तो दस लाख हो जाएंगे। इतने लाख पत्थर के ढेलों में हीरे की एक कणी भी नहीं मिली तो अब क्या मिलेगी? मालूम होता है—हमारा भाग्य साथ नहीं दे रहा है। जब ईश्वर ही हमें इसी तरह रुलाने और हमारी लाश को इन पहाड़ों में नष्ट करने के लिए तुला हुआ है; तब हम क्या करें? अब तो कुछ नहीं होगा। अगर जिन्दगी में और कुछ करने की इच्छा हो तो यहाँ से निकल चलो।" बाकी के दोनों साथी सामने खड़े थे। वे भी निराश और हताश हो गए थे। उनमें से एक साथी ने व्यंग्य किया—"रेफल! तुम कहते हो कि एक पत्थर और उठा लूँ तो पूरे दस लाख हो जाएंगे। तो एक की कमी क्यों रखते हो? दस लाख तो पूरे कर लो।" इतनी बात सुनते ही रेफल ने कहा—"सोलोमन! तुम्हारा इतना आग्रह है तो मैं तुम्हारे कहने से केवल एक ढेला उठाऊँगा और वही आखिरी ढेला होगा। चलो, उठो!" तीनों साथी आगे बढ़े। सभी इधर-उधर देखते हुए चल रहे थे। दूसरे दोनों साथी ढेले उठाते और टटोलते हुए चल रहे थे। इतने में ही रेफल की नजर एक ढेले पर पड़ी। उसने कहा—"मैं इस आखिरी ढेले को उठाता हूँ दोस्तो!" रेफल ने ज्यों ही उस ढेले को उठाया, वह साधारण पत्थरों की अपेक्षा अधिक वजनदार मालूम हुआ। उसने उसे धूप में ले जाकर देखा, परखा और हर्ष से उछल पड़ा। उस म्रियमाण प्राणों में नई चेतना आ गई। वह अपने साथियों से कहने लगा—"दोस्तो! जिस हीरे की तलाश में हम थे, वह आज मिल गया है। यह ढेला नहीं, हीरा है। इसमें हीरा रहा हुआ है। हमारे भाग्य का द्वार खुल गया।" यह सुनते ही दोनों साथी हर्ष से नाचने लगे। अब तो उनके मुर्दे प्राणों में नई चेतना दौड़ आई। वे तीनों वहाँ से

अपने घर की ओर लौट चले। तीसरे ही दिन वह ढेला--हीरा न्यूयार्क के बाजार में दो लाख डालर में बिका।

हाँ; तो संसार-समुद्र में अपनी जीवन नौका खेते-खेते मनुष्य किनारे पर आ जाता है, तब निराशा, असफलता, थकान और शक्तिहीनता के कारण उसका आत्मविश्वास समाप्त हो जाता है तो किनारे आई हुई नौका डूब जाती है, किन्तु अगर उस अवसर पर आत्मविश्वास की लौ बुझने न दी जाए तो एक ही झटके में नैया पार हो जाती है। बस, इस सूत्र को भौतिक और आध्यात्मिक दोनों क्षेत्रों में मत भूलिए कि चाहे हजारों निराशाएँ घेरे खड़ी हों, सफलता के द्वार बन्द हों, थकान और शक्तिहीनता आ रही हो, फिर भी बस, एक प्रयत्न और! जब-जब भौतिक क्षेत्र या आध्यात्मिक क्षेत्र में निराशा आने लगे, आत्महीनता मन में आने लगे, उस समय इस 'आखरी ढेले' के इस दृष्टान्त को याद रखिए। यह दृष्टान्त केवल दृष्टान्त नहीं, ऐतिहासिक सत्य है और चारों ओर के घने अन्धकार में प्रकाश देने वाला है। जिस प्रकार आखिरी ढेला चमकदार हीरा सिद्ध हुआ, उसी प्रकार तुम्हारा आखरी प्रयत्न सम्भव है, तुम्हारी आत्मा को सफलता की ज्योति से चमकाने वाला सिद्ध हो। इसलिए प्रयत्न करना मत छोड़ो! बस, एक प्रयत्न और कर लो, सारा तिमिर छिन्न-भिन्न हो जाएगा और तुम्हारी आत्मा में अटल विश्वास की ज्योति फिर कभी नहीं बुझेगी, वह सदा-सदा के लिए जाज्वल्यमान रहेगी। □

4

जीवन-कोष के दिव्य रत्न

बंधुओ !

आज मैं आपको एक ऐसे खजाने का रहस्य बताने जा रही हूँ जिसे अपने पास होते हुए भी आपने संभवतः अब तक जाना नहीं है, समझा नहीं है और उसका लाभ भी उठाया नहीं है।

सच्चे खजाने की पहचान कैसे हो ?

मानव का स्वभाव है कि वह खजाने का नाम सुनते ही हर्ष-विभोर हो उठता है, उसे प्राप्त करने के लिए उत्सुक हो जाता है और अगर वह सक्षम होता है तो उसकी उपलब्धि के लिए आकाश-पाताल एक भी कर देता है। किन्तु अथक परिश्रम करके भी वह जिस कोष की खोज करता है और उसे हस्तगत कर लेता है उसमें होता क्या है ? केवल सोना-चाँदी, हीरे, मोती, माणिक या पन्ने, पुखराज एवं नीलम आदि कुछ कीमती धातु और काँच के टुकड़े। इन सब जड़ पदार्थों का संग्रह करके वह परम प्रसन्नता का अनुभव करता है तथा स्वयं को खजाने का मालिक मानकर संतुष्ट होता है। किन्तु उन बहुमूल्य रत्नों के द्वारा वह हासिल क्या करता है ? मात्र क्षणिक सुख प्रदान करने वाली भोगोपभोग की वस्तुएँ, जिनका इस जीवन के पश्चात् तनिक भी महत्त्व नहीं रह जाता। इसलिए गम्भीरतापूर्वक विचार करने पर स्पष्ट ज्ञात हो जाता है कि चंद दिनों का अस्थाई सुख प्रदान करने वाला जड़ रत्नों का खजाना अधिकृत कर लेना व्यक्ति के लिए वैसा ही निरर्थक है जैसा विभिन्न योनियों में विभिन्न शरीरों का प्राप्त कर लेना। जीव प्रत्येक योनि में शरीर प्राप्त करता है और आयु पूर्ण होते ही उसे त्यागने के लिए मजबूर हो जाता है। इसी प्रकार बहुमूल्य रत्नों के विशाल खजाने को भी जीव अपने जीवन के समाप्त होते ही काल के द्वारा छोड़ने के लिए बाध्य कर दिया जाता है। ऐसी स्थिति में हम सहज ही समझ सकते हैं कि उन कीमती धातु के और काँच के टुकड़ों को जिन्हें हम रत्नों की संज्ञा से विभूषित करते हैं, संग्रह करके मानव क्षणिक या कृत्रिम सुख ही प्राप्त कर सकता है, स्थायी सुख या स्थायी लाभ हासिल नहीं कर सकता।

खेद की बात तो यह है कि मनुष्य अपने जीवन की नश्वरता और [illegible] के

समाप्त होते ही हीरे, पन्ने, माणिक आदि जड़ रत्नों की अनुपयोगिता को समझते हुए भी उन्हीं को पाने के लिए बावला बना रहता है तथा जीवन भर उन्हीं को संग्रह करने के लिए नाना प्रकार के प्रयत्न करता हुआ यत्र-तत्र भटकता रहता है। वह कभी यह समझने का प्रयत्न नहीं करता कि आत्मा को स्थायी एवं सच्चा सुख प्रदान करने वाले चिन्तामणि के समान अमूल्य एवं दुर्लभ रत्न कौन-कौन से हैं और उनसे किस प्रकार लाभ उठाया जा सकता है?

आपको जानने की अतीव उत्सुकता हो रही होगी कि वे रत्न कौन-कौन से हैं, जिनके समक्ष जड़ रत्न व्यर्थ और निस्सार हैं तथा मनुष्य को भुलावे में डालने वाले हैं? एक सन्त के शब्दों में मैं उन अमूल्य रत्नों के नाम आपको बताये देती हूँ।

पञ्चरत्न

किसी शहर में एक विचारवान एवं ज्ञानी संत विचरण करते हुए पहुँचे और कुछ दिनों के लिए वहीं ठहर गये। एक दिन उनका एक अमीर भक्त वहाँ दर्शनार्थ आया और बातचीत के दौरान बोला—

"भगवन्! आपकी कृपा से मेरे यहाँ आनन्दमंगल है। किसी वस्तु की कोई कमी नहीं है। पुत्र-पौत्रादि से तो घर भरा ही है साथ ही कई पीढ़ियों तक समाप्त न हो इतना धन भी मैंने देश-विदेश में भारी व्यापार करके कमा लिया है। मेरे खजाने में अपार दौलत है। एक-एक रत्न लाखों की कीमत का है। सारांश में मैं पूर्ण सुखी और संतुष्ट हूँ।" यह कहकर वह अमीर व्यक्ति अपनी व्यस्तता का हवाला देता हुआ शीघ्रतापूर्वक उठकर चल दिया। उसने यह भी नहीं देखा कि गुरुजी के समीप ही मेरा एक पुराना मित्र अपने पुत्र के साथ बैठा हुआ है। किन्तु जब वह उठकर चला गया तब सन्त ने उस व्यक्ति से कहा—

"भाई! तुम्हारे इस मित्र ने तो अपनी बुद्धि के द्वारा अपने खजाने को बहुमूल्य रत्नों से भर लिया है पर तुमने क्या कुछ भी अपने जीवन में उपार्जित नहीं किया?"

"वाह गुरुदेव! आप ऐसा कैसे समझ रहे हैं? मैंने तो अपने उस धनी मित्र की अपेक्षा भी अधिक मूल्यवान और दुर्लभ रत्नों से अपने खजाने की शोभा बढ़ाई है।"

संत उस व्यक्ति की बात सुनकर आश्चर्य में पड़ गये। अधनंगे पुत्र के साथ स्वयं भी फटे-टूटे कपड़े पहने वह दरिद्रता की साक्षात् प्रतिमूर्ति बना बैठा था। अतः उसकी बात पर अविश्वास करते हुए उन्होंने पूछा—

"क्या तुम सच कह रहे हो? तुम्हारे पास भी खजाना और उसमें बहुमूल्य रत्न हैं?"

"हाँ भगवन्! अगर आपको विश्वास न हो तो अभी इसी क्षण मेरा कोष देख लीजिये।"

यह कहते हुए उसने अपने पुत्र की ओर संकेत करते हुए पूर्ण आत्म-विश्वास से कहा—"यह रहा मेरा खजाना।"

संत की निगाहों में अविश्वास और भी गहरा हो आया तथा उन्होंने जिज्ञासा-पूर्वक व्यक्ति की ओर देखा। व्यक्ति ने उनकी बात समझते हुए उत्तर दिया—

"गुरुदेव यह मेरा पुत्र ही यह कोष है जिसमें मैंने पाँच ऐसे अमूल्य रत्न जमा किये हैं जिनकी तुलना इस संसार का कोई भी रत्न नहीं कर सकता और जिन रत्नों का लाभ इसकी आत्मा अनेक जन्मों तक उठाती हुई अंत में शाश्वत और सच्चे सुख को प्राप्त करेगी।

"इसके छोटे से शरीर के मस्तक, जिह्वा, मानस, हाथ एवं चरण रूपी अंग मैंने अपनी क्षुद्र बुद्धि के अनुसार इस प्रकार ढाले हैं कि इनके द्वारा उपार्जित शुभकर्मों का संचय अनेक जन्मों तक इसे सहायता प्रदान करता हुआ मुक्ति-पथ पर अग्रसर करता रहेगा। इसीलिए मैं अपने पुत्र को खजाना एवं इसके अंगों को सांसारिक जड़ रत्नों की तुलना में चिन्तामणि रत्न के सदृश दुर्लभ एवं अमूल्य मानता हूँ।"

बंधुओ! यथार्थ में ही मानव के अंग बहुमूल्य रत्न हैं जो शरीर रूपी इस दुर्लभ कोष में स्थित हैं। इन रत्नों में से प्रत्येक रत्न अपने में अनेक महान् विशेषताएँ छिपाये हुए है। आवश्यकता इसी बात की है कि इन रत्नों के गुणों को और इनकी विशेषताओं के रहस्यों को समझा जाय। अन्यथा अगर इनमें से एक भी रत्न अपनी चमक को प्राप्त न करे तो वह निस्तेज होकर जीवन-कोष को शोभाहीन बना देगा जिस प्रकार सुवर्ण के अनेक आभूषणों के बीच में पहिनी हुई लौह-निर्मित मुद्रिका अथवा गजराजों के समूह में रहा हुआ एक गर्दभ गज समूह की शोभा और पूर्णता को फीकी कर देता है।

किसी कवि ने भी शरीररूपी खजाने में रहे हुए पाँच अंगों की विशेषता बताते हुए स्पष्ट किया है कि वे किस प्रकार अमूल्य रत्न साबित हो सकते हैं तथा कब रत्न कहलाते हैं? सर्वप्रथम बताया गया है—

(१) मस्तक रत्न

जब शिरसे हितकार नमन किये, चरणों पद धूलि लगावत है।
और संत-जनों [illegible] नित [illegible] अनेक [illegible] झुकावत है॥
सुविचार [illegible] सुविचार [illegible] उठावत है।
[illegible] [illegible] बहु [illegible] रत्न कहावत है॥

कवि का कथन है कि यदि मनुष्य ही अपने मस्तक को सहृदयतापूर्ण बनाकर इसे संसार को जीवन-दान का [illegible] रत्न साबित कर सकता है जो सदा नम्र होकर संतों, गुरुजनों के [illegible] झुके तथा मस्तिष्क [illegible] हित [illegible] होकर [illegible] उनके चरणों की रज अपने मस्तक पर लगाए।

आगे कहा है कि ऐसा व्यक्ति घोर संकट में पड़कर भी कभी असत्य, अनीति अथवा अधर्म के समक्ष झुके नहीं और अपने आपको कायर साबित न करे। कभी भी वह अपने मस्तिष्क में औरों के अहित की अथवा किसी भी प्रकार के अहंकार की भावना को पनपने न दे।

अहंकार रूपी कुविचार

एक रूपक में कहा गया है कि एक बार सूर्य जब अस्ताचल की ओर जा रहा था तो उसके मस्तिष्क में गर्व की भावना आई और वह विचार करने लगा—"मैं संसार का कितना उपकार करता हूँ ? मेरे चले जाने के बाद तो पृथ्वी पर रहने वाले लोगों की बड़ी दुर्दशा होती होगी और घोर अन्धकार में वे भटकते ही रहते होंगे।"

यह विचार करता हुआ सूर्य उस समय तो चल दिया किन्तु रात्रि के समय उसने अपने गवाक्ष से तनिक झाँककर अपने अभाव में होने वाली लोगों की दुर्गति को देखना चाहा। वह देखता क्या है कि पृथ्वी पर अन्धकार तो अवश्य फैला हुआ है किन्तु असंख्य छोटे-छोटे दीपकों ने जलना आरम्भ कर दिया है और उनकी सहायता से संसार का कार्य अविराम गति से चलता जा रहा है। रूपक से स्पष्ट है कि सूर्य के मस्तिष्क में पैदा हुआ अहंकार का विचार निरर्थक था और मस्तक को रत्न के समान अमूल्य बनाने के स्थान पर निर्मूल्य बनाने वाला था।

कहने का अभिप्राय यही है कि जो व्यक्ति साधु-जनों के चरणों में नत होता है, असत्य के सम्मुख नहीं झुकता तथा अपने मस्तिष्क में कुविचारों को स्थान न देकर सुविचारों का संग्रह करता है वही त्रिलोक-पूज्य बनता है तथा अपने मस्तक को दुर्लभ रत्न के रूप में साबित करता है।

(२) मानस रत्न

कवि ने मानव के मानस को भी रत्न की संज्ञा दी है किन्तु उसके लिये शर्त यह रखी है :—

स्फटिकोज्ज्वल स्वच्छ सदैव रहे अघ पंक सुदूर हटावत है।
जगनाथ अनंत दयानिधि को मन-मंदिर बीच बसावत है॥
निज के दुख में पवि तो पर के नवनीत सदा बन जावत है।
नर रत्न जगत्त्रय पूजित का वह मानस रत्न कहावत है॥

पद्य में कहा गया है कि जो महामानव अपने मानस को स्फटिकमणि के समान निर्मल और पाप रूपी कीचड़ से दूर रखता है, अनन्त दया के सागर जगत-प्रभु को अपने मन रूपी मन्दिर में प्रतिष्ठित करता है तथा अपने दुःख में वज्र के समान कठोर किन्तु औरों पर दुःख आ पड़ने पर मक्खन के समान कोमल बनकर उनके कष्ट को दूर करने में जी-जान से जुट जाता है वही व्यक्ति तीनों लोकों में पूज्य बनता है तथा उसी का मानस चिन्तामणि के समान इच्छित फल प्रदान करने वाला अमूल्य रत्न कहला सकता है।

वस्तुतः हृदय की सरलता मानस को निर्दोष बनाती है। जो महामानव अपने मन से अनीति, अन्याय, असत्य आदि दुर्गुणों को निष्कासित कर देते हैं उन्हीं की जगत प्रशंसा करता है और सदा के लिये वे स्मरणीय बन जाते हैं। एक छोटा सा उदाहरण है—

अपना नुकसान होने दूंगा पर सत्य को त्यागूंगा नहीं

इंगलैंड का राजा चार्ल्स बड़ा अन्यायी था। अतः उसके शासन से परेशान होकर प्रजा ने उसके विरुद्ध आन्दोलन किया तथा उसे पदभ्रष्ट कर दिया। इस कार्य में 'पीम' नामक एक विचारवान सद्गृहस्थ ने भी भाग लिया था। पीम बड़ा नीतिवान एवं सत्यवादी व्यक्ति था।

आन्दोलन के कुछ समय पश्चात् एक बार पार्लियामेंट की बैठक हुई और उसमें पीम ने भाग लिया। बैठक के दौरान पीम को कुछ बोलना था किन्तु उसके बोलने से उसकी बड़ी भारी हानि होने की सम्भावना थी। इस कारण उसके मित्रों ने सलाह दी—"आप इस समय कुछ न कहकर मौन धारण कर लीजिये। बोलकर अपना जबर्दस्त नुकसान करने की अपेक्षा चुप रहना ही बुद्धिमानी है। इस नाजुक अवसर पर ईमानदार बनना ठीक नहीं।"

पीम ने अपने हितैषी मित्रों की बात सुनी किन्तु उस पर अमल नहीं किया। उन्होंने अपने दोस्तों की सलाह को ठुकराते हुए कह दिया—"बंधुओ! मैं सत्य अवश्य बोलूंगा। बोलने पर भले ही मेरे सर्वस्व की हानि हो जाय, किन्तु चुप रहकर मैं सत्य की हानि कदापि नहीं होने दूंगा।"

पीम ने किया भी ऐसा ही। अपना जबर्दस्त नुकसान करके भी उसने सचाई का व ईमानदारी का त्याग नहीं किया और सदा के लिये लोगों के दिलों में अपना घर कर लिया।

ऐसे उज्ज्वल मानस वाले व्यक्तियों के समक्ष दुनिया झुकती है और सज्जन पुरुष उनसे आकर्षित होकर बिना बुलाये ही उनसे समागम करने को लालायित रहते हैं। किसी कवि ने भी अपने एक सुन्दर पद्य में कहा है :—

कमल गए थे कब, भ्रमर बुलायबे को,
वृक्षन पै बैठन पखेरू मंडरात हैं।
चंदा की गई थी कब पाती ही चकोर पास,
घन के गरजबे ते दादुर चिल्लात हैं॥
मानसर गये ढिग कौन दिन हंसा पास,
दीपक पतंग ज्योति चाहत अकुलात हैं।
ऐसे ही सुसाधु, कवि, पण्डित महान लोग,
जहाँ-जहाँ भाव देखे, वहीं चले जात हैं॥

कवि के भाव यही हैं कि कमल, वृक्ष, चन्द्रमा, घन, मानसरोवर एवं दीपक आदि के निःस्वार्थ एवं सरल होने के कारण ही भ्रमर, पक्षी, चकोर, दादुर, हंस एवं पतंग इनके प्रति आकर्षित होते हैं और इनके समीप आते हैं।

स्पष्ट है कि जब पशु-पक्षी आदि भी सरल-मानस को पहचान लेते हैं तो फिर सन्त-महापुरुष, पण्डित एवं कवि आदि निर्मल चित्त वाले व्यक्ति के संसर्ग में आना क्यों नहीं चाहेंगे ?

कहने का अभिप्राय यही है कि आत्म-कल्याण के इच्छुक प्रत्येक व्यक्ति को अपना मानस निर्मल, सरल, कषाय एवं कामनाओं से रहित बनाना चाहिए तथा यही प्रयत्न करना चाहिए कि वह दुर्गुणों के विष से बचा रहे।

कालिका पुराण में मानस को मैला बनाने वाले बारह दोष बताते हुए कहा है—

शोकः क्रोधश्च लोभश्च कामो मोहः परासुता।
ईर्ष्या मानो विचिकित्सा कृपाऽसूया जुगुप्सता।
द्वादशेते बुद्धिनाशहेतवो मानसा-मला ॥

अर्थात्—शोक, क्रोध, लोभ, काम, मोह, आलस्य, ईर्ष्या, मान, सन्देह, पक्षपात, दोषारोपण एवं निन्दा आदि बारह मानस-मल हैं जिनके कारण बुद्धि नष्ट होती है।

इसलिये जो महामानव आत्मा के अनंत ज्ञान, दर्शन एवं चारित्र को जगाना चाहते हैं उन्हें अपने मानस को शुद्ध एवं परिष्कृत बनाते हुए उसे दिव्य रत्न के रूप में बदल लेना चाहिये।

(३) आनन रत्न

अब हमारे समक्ष जीवन-कोष का 'तीसरा रत्न' आता है। इसके विषय में कवि ने कहा है:—

सुख हो दुख हो कुछ हो प्रभु के अविराम गुणस्तव गावत है।
प्रिय मित्र तथा अरि हो सब को हित शिक्षण सत्य सुनावत है॥
अपने गुण के प्रति मौन रहे पर के गुण स्पष्ट बतावत है।
नर रत्न जगत्त्रय पूजित का वह आनन रत्न कहावत है॥

मानव का मुख कब दिव्य रत्न की उपमा से विभूषित हो सकता है इस विषय में कवि का विचार है कि भले ही मनुष्य का चेहरा काला, कुरूप और असुन्दर हो, किन्तु उसकी जबान से कभी असत्य, अप्रिय, कठोर, निन्द्य, अनीतिपूर्ण एवं किसी के लिये भी आपत्तिजनक शब्दों का उच्चारण न हो। वह चाहे संसार के असंख्य सुखों से घिरा रहे या कि दुखों के सागर में डूब जाय, तब भी भगवान पर भरोसा और आस्था रखता हुआ प्रतिपल उनके गुण-गान करे, उनकी स्तुति करे तथा भक्ति में लीन रहे। अपने दोस्त एवं दुश्मनों का हित-चिंतन करे तथा उन्हें सुमार्ग पर लाने का प्रयत्न करता रहे।

अपने आनन को रत्नवत अमूल्य बनाने वाला व्यक्ति गर्व या अहंकार आदि की भावना से सर्वथा परे रहता हुआ अपने गुणों का प्रदर्शन नहीं करता, मौन रहता है तथा औरों के गुणों की गद्गद होकर सराहना करता है। जो इन्हीं सब गुणों से विभूषित भव्य प्राणी होता है, उसका आनन रत्न कहला सकने की क्षमता प्राप्त कर सकता है।

किसी पाश्चात्य दार्शनिक ने भी कहा है :—

"The truth and love are most powerful things in the world."

—सत्य और प्रेम दुनिया में बड़ी भारी शक्तिशाली चीजें हैं।

वस्तुतः सत्य, मधुर एवं सहानुभूतिपूर्ण भाषा का प्रयोग आनन की शोभा बढ़ाता है तथा बोलने वाले को जगत में प्रशंसा का पात्र बनाता है। इसके विपरीत कटु, कर्कश या क्रोधपूर्ण शब्दों का प्रयोग करने वाला किसी को प्रिय नहीं लगता और न ही वह किसी सद्भावना का अधिकारी बनता है। एक उदाहरण से यह बात समझी जा सकती है :—

विषवृक्ष काट देना चाहिये

एक राजा बड़ा दयालु, धर्मात्मा एवं अपनी प्रजा को पुत्रवत मानने वाला था, किन्तु उसका पुत्र पिता से पूर्णतया विपरीत स्वभाव वाला अत्याचारी, अन्यायी, कटु-भाषी एवं निर्दयी था।

राजा अपने पुत्र के स्वभाव से बड़ा परेशान था और किसी न किसी प्रकार उसे राह पर लाना चाहता था। इसलिये उसने अनेक विद्वान पंडितों की क्रमशः नियुक्ति की किन्तु एक भी शिक्षक राजकुमार के स्वभाव को नहीं बदल सका और उसके व्यवहार से जनता अधिकाधिक कुपित होती चली गई।

अन्य कोई उपाय न देखकर राजा ने तथागत बुद्ध की शरण ली और उनसे राजकुमार को राह पर लाने के लिये प्रार्थना की। जन-हितैषी बुद्ध ने प्रार्थना स्वीकार करली और समय निकालकर एक दिन राजकुमार को घुमाते हुए एक नीम के छोटे से वृक्ष के समीप लाये। तत्पश्चात् बोले—"वत्स ! इस वृक्ष का एक पत्ता जरा चखकर तो देखो।"

राजकुमार ने पत्ता ज्यों ही मुँह में डाला, उसका मुँह कड़वाहट से भर गया। बहुत ही क्रोध आया उसे। बुद्ध ने यह देखा पर कहा कुछ नहीं। इधर राजकुमार ने मारे क्रोध के अपने एक नौकर को नीम के उस वृक्ष को उसी समय जड़-मूल से काटने की आज्ञा दे दी।

बुद्ध बोले—"राजकुमार ! यह क्या किया तुमने ?"

"भगवन् ! इस वृक्ष के साथ तो यही होना चाहिये। क्योंकि छोटा सा होने पर भी जब इसमें इतनी कड़वाहट है तो बड़ा होकर क्या यह विष-सदृश नहीं बन जाएगा ?

बुद्ध इसी अवसर की प्रतीक्षा में थे अतः शीघ्र ही गम्भीरतापूर्वक बोले— "राजकुमार ! तुम्हारे कठोर, अन्यायपूर्ण एवं दुर्व्यवहारों से त्रस्त होकर अगर तुम्हारी प्रजा तुम्हारे साथ ऐसा ही व्यवहार करे, जैसा इस नीम के वृक्ष के साथ तुम कर रहे हो तो तुम्हें कैसा लगेगा ?"

राजकुमार समझ गया कि बुद्ध उसे सीख देने के लिए ही आज यहाँ लाए हैं। उसे अपने बुरे स्वभाव के लिए अत्यन्त खेद हुआ और उसी क्षण से वह अपने आपको बदल कर अच्छाई की राह पर चल पड़ा । परिणाम यह हुआ कि कुछ ही दिनों में उसकी प्रजा अपने युवराज पर जान देने लगी । यह इसीलिए हुआ कि राजकुमार ने अपने दुर्व्यवहार की कुरूपता का त्याग करके मधुर व्यवहार के माधुर्य से अपने आनन को उज्ज्वलतम बना लिया ।

इस उदाहरण से आपको समझ में आ गया होगा कि मानव का सुन्दर व्यवहार अपने आस-पास स्वर्ग का निर्माण कर लेता है और दुर्व्यवहार वहीं पर नरक का।

किसी शायर ने कहा भी है—

दिल ही की बदौलत रंज भी है,
दिल ही की बदौलत राहत भी ।
यह दुनियाँ जिसको कहते हैं,
दोजख भी है और जन्नत भी ।।

तो बन्धुओ ! मनुष्य अपने ही मानस एवं मुख के द्वारा पृथ्वी पर दोजख या जन्नत का निर्माण करता है । जन्नत यानी स्वर्ग का निर्माण केवल वही कर सकता है जिसका आनन या मुख कषायादि विषों से निर्लिप्त और स्फटिक मणि के समान सरल एवं उज्ज्वल हो ।

(४) हस्तरत्न

मानव शरीर रूपी सर्वोत्तम कोष के चतुर्थ श्रेणी के रत्न हाथ होते हैं अगर वे वास्तव में ही हस्त-रत्न बन सकें । प्रश्न यह उठता है कि हाथ रत्न किस प्रकार बनते हैं ? इस विषय में कवि का कथन है—

मरणोन्मुख, रंक, बुभुक्षित हो, पर-द्रव्य कभी न उठावत है ।
दलितादिक बेबस को गह बाँह, स्वबंधु सप्रेम बनावत है ।।
निज देश, समाज हितार्थ सभी धनराशि सहर्ष लुटावत है ।
नर रत्न जगत्त्रय पूजित के कर युग्म सुरत्न कहावत है ।।

कवि ने बड़ी सुन्दर बात कही है कि व्यक्ति के मरणोन्मुख, अति दरिद्र, भूखे तथा अभावग्रस्त होने पर भी उसके हाथ कभी पराई वस्तु को स्पर्श नहीं करते, जो हाथ जगत के दीन-दुखी व असहाय प्राणियों को सहारा देकर उठाते हैं तथा धन के मिलने पर उसे अपने समाज व देश के भले के लिए सहर्ष लुटा देते हैं वे ही दोनों कर-युग्म रत्न कहलाने का गौरव प्राप्त करते हैं ।

बन्धुओ ! यह आवश्यक नहीं है कि धनी व्यक्ति ही दानादि के द्वारा अपने हाथों का लाभ उठा सकते हैं, गरीब से गरीब मनुष्य भी उत्तम भावना होने पर अपने हाथों को पवित्र कार्य में लगाकर अनन्त पुण्य-कर्मों का संचय कर लेते हैं तथा अपने दुर्बल हाथों को भी महिमामय रत्न के रूप में ले आते हैं।

एक पैसे का दान

कहा जाता है कि जापान के सुप्रसिद्ध कवि नागूची एक दिन 'राखियो' उद्यान में बैठे हुए कुछ विचार कर रहे थे। उसी समय एक दीन वृद्ध आया जो भूख से व्याकुल था। उस जराजीर्ण व्यक्ति ने महाकवि नागूची से कुछ देने का अनुरोध किया ताकि वह अपनी भूख मिटा सके।

नागूची अपने विचारों में निमग्न थे अतः उन्होंने उस व्यक्ति को फटकार कर भगा दिया।

व्यक्ति तिरस्कृत होकर वहाँ से चल दिया और कुछ ही दूरी पर एक वृक्ष के नीचे बैठे हुए भिखारी से भी याचना करने लगा।

भिखारी अत्यन्त प्रसन्न एवं उत्साहित होकर उठा, पेड़ पर टंगी हुई अपनी कथड़ी उठाई और बड़े यत्न से उसमें रखे हुए एक पैसे को निकालकर उस व्यक्ति के हाथ पर रखने लगा।

कवि नागूची ने दूर से यह दृश्य देखा तो कौतूहलवश वहाँ आकर भिखारी का दान देना देखने लगा। केवल एक पैसा लेने वाला भी प्रसन्न था और एक पैसा देने वाला भी। कवि ने पूछ लिया—"तुम्हारा नाम क्या है ?"

बहुत ही संकुचित होकर भिक्षुक बोला—"महाकवि आपके समक्ष मेरा परिचय ही क्या है ? मैं न गीत लिख सकता हूँ और न ही उन्हें समझ सकता हूँ। इतना अवश्य है कि अन्य व्यक्तियों को भूखा देखता हूँ तो मेरा मन बहुत दुखी होता है और उन्हें सन्तुष्ट देखकर प्रफुल्ल हो जाता है।"

भिखारी की बात सुनकर कवि नागूची का अहंकार गल गया और हृदय गद्गद हो उठा। एक भिक्षुक से उसने प्रथम बार सीखा कि मानव में केवल कल्पना ही नहीं अपितु दयालुता व सहृदयता भी होनी चाहिए। ऐसा होने पर ही उसके हाथ असहाय एवं दुखी व्यक्तियों को सहारा देते हैं तथा उनकी सहायता करके पवित्र बनते हुए रत्न के समान बहुमूल्यता को प्राप्त होते हैं।

(५) चरण रत्न

मानव के चरण रत्नों की उपमा कब पाते हैं, कवि ने इस विषय में भी अपने पद्य द्वारा बताया है—

प्रण वीर महान न स्वत्व कभी नय-मार्ग विसार गँवावत हैं।
दुखियाजन कोई सुने तो वहीं सुख मूलक दौड़ लगावत हैं॥

कट जाएँ सहर्ष रणांगण में पर पैंड न एक डिगावत हैं।
नर रत्न जगत्त्रय पूजित के चरणोत्तम रत्न कहावत हैं॥

वस्तुतः जो महामानव हैं वे न्यायमार्ग का त्याग करके कभी भी अपना आपा नहीं खोते। आत्मगुणों को कायम रखते हुए वे प्रतिपल परोपकार के लिए तत्पर रहते हैं तथा संकटग्रस्त प्राणियों की पुकार सुनते ही अविलम्ब दौड़ पड़ते हैं। ऐसे व्यक्ति अन्याय, अधर्म, अनीति या अत्याचार के विरुद्ध कमर कसकर युद्ध करते हैं तथा युद्धस्थल से कभी भी अपने पैरों को पीछे की ओर नहीं ले जाते। वे सदा आगे बढ़ते हैं, पीछे नहीं लौटते।

इसी प्रकार भगवत्-प्राप्ति के इच्छुक भक्त भी अपने चरणों को नाटक, सिनेमा, सर्कस, वेश्यालय इत्यादि मानस को मलीन बनाने वाले स्थानों की ओर नहीं बढ़ने देते अपितु ऐसे पवित्र स्थानों की ओर ले जाते हैं जहाँ जाकर उनके मन की मलीनता मिटती है और मानस उज्ज्वल बनता है।

खुदा को पाने की उत्कट लालसा रखने वाले किसी शायर ने कहा भी है—

तलाशे यार में जो ठोकरें खाया नहीं करते।
वे अपने मंजिले मकसूद को पाया नहीं करते॥

वास्तव में ही खुदा के सच्चे बन्दे या भगवान के भक्त बावले होकर अपने 'इष्ट' की प्राप्ति में मारे-मारे फिरते रहते हैं। न उन्हें पैरों की थकावट की परवाह होती है और न उनके कट-फट जाने या लहूलुहान हो जाने की। मैंने किसी पुस्तक में पढ़ा था—

भगवान के दर्शन करूँगा!

एक किसान गंगा नदी के किनारे रहता था और वहाँ रही हुई अपनी थोड़ी-सी जमीन पर अन्न उगाकर जीवन-यापन किया करता था।

एक बार उसने किसी ब्राह्मण को अपने खेत के समीप से गंगा-स्नान के लिए जाते हुए देखकर पूछा—

"महाराज! आप कहाँ से पधारे हैं?"

"तीर्थयात्रा करके।" ब्राह्मण देवता ने तनिक रुखाई से उत्तर दिया।

किसान बड़ा सरल, अनपढ़ और भोला था। उसने फिर से प्रश्न किया—"महाराज! तीर्थों की यात्रा करने से क्या फायदा होता है?"

किसान के प्रश्न से ब्राह्मण बहुत कुपित हुआ और बोला—"मूर्ख! इतना भी नहीं समझता क्या? तीर्थों पर जाने से भगवान के दर्शन होते हैं।" इतना कहकर वह भगवान का भक्त तीव्र गति से वहाँ से चल दिया।

बेचारा किसान जो कि धर्म-कर्म के बारे में कुछ भी नहीं जानता था केवल यह समझा कि तीर्थयात्रा करने से भगवान दर्शन देते हैं। उसके हृदय में भी भगवान

के दर्शन करने की उत्कट अभिलाषा जाग्रत हुई। उसी दिन उसने अपने पड़ोसी किसान से कहा—"मैं भगवान के दर्शन करने जाता हूं तुम मेरा खेत सम्हालना।"

पड़ौसी उसकी बात से चकित हो गया और बोला—

"भाई भगवान के दर्शन इस प्रकार थोड़े ही होते हैं।"

"वाह! यह कैसे हो सकता है मुझे आज ही एक महाराज ने बताया है कि तीर्थयात्रा करने पर भगवान दर्शन देते हैं। मैं जरूर जाऊंगा।" इस प्रकार कहकर किसान पैदल ही भगवान के दर्शन करने चल दिया क्योंकि उसके पास इतना पैसा तो था नहीं कि रेल-मोटरों का किराया दे सकता।

अपने निश्चय और प्रभु के दर्शन की तीव्रतम अभिलाषा लिए किसान एक स्थान से दूसरे स्थान पर भटकता फिरा पर उसे भगवान के दर्शन नहीं हुए। उसके शरीर पर रहे हुए वस्त्र फट गये और कंकर-पत्थरों तथा कांटों के लगने से पैर लहू-लुहान होकर सूज गये। किन्तु उसने भटकना बन्द नहीं किया।

मार्ग में मिलने वाले लोग उसकी दशा देखकर कहते—

"भाई! तुमने देव-मन्दिरों में भगवान के दर्शन स्थान-स्थान पर कर तो लिये हैं अब पैरों को थोड़ा विश्राम दो और मरहम पट्टी करा लो।"

किसान उत्तर देता—"वाह, मन्दिरों में तो मैंने पत्थर की मूर्तियां देखी हैं भगवान के दर्शन कब किये? मैं तो उनके दर्शन करके ही रहूंगा। पैरों की क्या चिन्ता है ये और किस काम आएंगे?"

लोग उसकी नासमझी पर तरस खाते और बार-बार समझाने की कोशिश करते हुए कहते—"भोले व्यक्ति! भगवान भी कभी साक्षात् दर्शन देते हैं? मूर्तियों का दर्शन ही भगवान का दर्शन कहलाता है।"

पर किसान इस बात को स्वीकार नहीं करता और अविराम गति से बढ़ता जाता। क्रमशः वह चारों धामों की यात्रा कर चुका और अन्य अनेक स्थानों पर भी पागलों के समान गया पर भगवान ने दर्शन नहीं दिये। महीनों लगातार चलने से उसके पैर अब क्षत-विक्षत हो गये और एक दिन ऐसा आया कि फिर एक कदम भी आगे नहीं बढ़ सका। वह जहां था वहीं पड़ गया और मन ही मन बड़े आर्तभाव से प्रभु को पुकारने लगा।

कहा गया है कि उसकी उत्कट लगन, अथक यात्रा और आन्तरिक पुकार पर भगवान ने बिना तीर्थस्थान की और ऊंचे-ऊंचे मन्दिरों की परवाह किये उसे वहीं आकर दर्शन किये और उस धर्म-कर्म से अनजान व्यक्ति को कृतार्थ करते हुए जीवन का सर्वोत्कृष्ट फल प्रदान किया।

कहने का अभिप्राय यही है कि अपढ़ और भोले किसान के चरण जब भगवत्-दर्शन के लिए बढ़ने पर फिर अविराम गति से बढ़ते ही गये और अपार कष्ट

पीड़ा और दुःख होने पर भी रुके नहीं, तभी उसे भगवान के दर्शन हुए। ऐसे चरण ही रत्न कहलाते हैं। जो भगवान के दर्शन अथवा संत-मिलन के लिए बढ़ने पर कभी रुकते नहीं। किसी कवि ने कहा भी है—

संत मिलन को चालिये, तज माया अभिमान।
ज्यूँ-ज्यूँ पेण्ड आगे धरे, त्यूँ-त्यूँ यज्ञ समान॥

तो बंधुओ! आज मैंने आपको अमूल्य रत्नों से विभूषित ऐसे कोष की पहिचान कराई है, जिसे अपने पास होते हुए भी आपने जाना नहीं, उसका महत्त्व समझा नहीं और उन रत्नों से लाभ उठाया नहीं। बाहरी दौलत और बाहरी हीरे जवाहिरातों का संग्रह करने के लिए तो रात-दिन आप दौड़ते हैं, न जाने कितना श्रम करते हैं और क्या-क्या करणीय व अकरणीय कर गुजरते हैं। किन्तु आप अपने पास ही जो दिव्य रत्नों का दुर्लभ खजाना है, उसे नहीं पहचानते। एक बात मुझे यहाँ कहनी है कि इस संसार में प्रत्येक मानव के अंग समान हैं। सभी के मस्तक, मुख, मन, हाथ एवं पैर आदि अंग होते हैं किन्तु वह तब तक उन अंगरूपी रत्नों के खजाने का मालिक नहीं कहलाता, जब तक कि उस कोष की चाबी उसके पास नहीं होती।

अब प्रश्न उठता है कि वह चाबी कौन सी है, जिससे जीवन-कोष के खजाने पर स्वामित्व प्राप्त किया जाता है? इसके उत्तर में यही कहा जा सकता है कि शरीर के अभी बताये गए पाँच अंगों पर नियंत्रण रखते हुए उन्हें अपनी इच्छानुसार चलाने का गुर ही वह चाबी है और उसे पाने का प्रत्येक आत्मार्थी को प्रयत्न करना चाहिये।

मनुष्य को यह कभी नहीं भूलना चाहिये कि उसका व्यक्तित्व उसके अंगों से ही मुखर होता है। अंगों का जैसा क्रियाकलाप होगा उसी से जीवन की उच्चता और निम्नता का अंदाज लगाया जाएगा। इसलिये अपने आपको पूर्ण सजग, सावधान एवं विवेकी बनाकर जीवन-कोष के अंग रूपी रत्नों का लाभ उठाना चाहिए।

अंग्रेजी में एक कहावत है—

Let your stars shine.

—अपने नक्षत्रों को चमकने दो। बात अति सुन्दर है पर इसे अमल में कैसे लाया जाय अर्थात् नक्षत्रों को किस प्रकार चमकाया जाय? ऐसा तभी हो सकता है जबकि मन और अंगों को सही मार्ग पर चलाया जावे। साथ ही इस बात का भी ध्यान रखा जाए कि मन और शरीर के सभी अंग एक ही मार्ग पर चलें। ऐसा कभी नहीं हो सकता कि पैर मदिरालय की ओर जा रहे हों तथा मन मंदिर की ओर। अगर ऐसा हुआ तो मन और चरण, दोनों ही अपने श्रम में असफल रहेंगे।

बिखराव का परिणाम क्या होता है, इसका ज्वलंत उदाहरण कौरवों तथा

पांडवों का युद्ध है। कौरवों के पास सैनिक व सैन्य सामग्री सभी कुछ पांडवों से अधिक था किन्तु फिर भी वे हार गये। क्यों हारे ? इस विषय में एक कवि का कथन है—

प्यार पांडवों पर मन से औ' कौरव सेवा तन से।
सध पाएगा कौन काम इस बिखरी हुई लगन से॥

कवि का आशय यह है कि द्रोणाचार्य जैसे महा शूरवीर एवं भीष्म पितामह जैसे दृढ़ प्रतिज्ञ योद्धा आदि उस युद्ध में शरीर से तो कौरवों की सेवा कर रहे थे यानी उनकी ओर से लड़ रहे थे किन्तु मन से अतीव स्नेह के कारण पांडवों की मंगल-कामना करते थे। इसी कारण, यानी तन और मन की विपरीतता होने से कौरवों को हारना पड़ा।

इस उदाहरण से हमें यही शिक्षा मिलती है कि हम जीवन-कोष के दुर्लभ और दिव्य रत्नों की पहचान करें और इनमें से प्रत्येक को समान मूल्यवान सावित करते हुए आत्म-कल्याण के मार्ग पर सरलतापूर्वक अग्रसर हों। □

5

शिक्षा और दीक्षा

शिक्षा

शिक्षा मानव-जीवन को सौन्दर्य प्रदान करती है। मनुष्य में जो शारीरिक, मानसिक तथा आत्मिक शक्तियाँ विद्यमान हैं, वे शिक्षा के द्वारा ही विकसित होकर जीवन के सुन्दर निर्माण में प्रयुक्त होती है। पाश्चात्य विद्वान प्लेटो के विचारानुसार भी शिक्षा का यही उद्देश्य है :—

To develop in the body and in the soul all the beauty and all the perfection of which they are capable.

—शरीर और आत्मा में अधिक से अधिक जितने सौन्दर्य और जितनी सम्पूर्णता का विकास हो सकता है उसे सम्पन्न करना ही शिक्षा का उद्देश्य है।

मानव-आत्मा के लिए शिक्षा वैसे ही है जैसे संगमरमर के टुकड़े के लिए शिल्पकला। शिल्पी संगमरमर के टुकड़े को तराशकर उसमें जान डाल देता है तथा उसके सौन्दर्य में अनेक गुनी वृद्धि कर देता है, उसी प्रकार सद्शिक्षा मन में रही हुई पाशविक प्रवृत्तियों पर दैवी गुणों की प्रतिष्ठा करती हुई आत्मा के दिव्य स्वरूप का दिग्दर्शन कराती है।

सद्शिक्षा अथवा सद्विद्या वह साधन है, जिसके द्वारा शरीर, मन एवं आत्मा अथवा जड़ और चेतन का ज्ञान होता है। इसके दो भाग हैं—

प्रथम वह है, जिससे आत्म-ज्ञान होता है। सद्विद्या आत्मा के स्वरूप, शक्ति और रहस्य का अनुभव कराती है। मनुष्य मूल में आत्म-स्वरूप है अतः अपने आध्यात्मिक स्वरूप का ज्ञान करने पर ही वह समस्त प्रकार के मोह, अज्ञान और बन्धनों से मुक्त हो सकता है।

सद्विद्या का दूसरा भाग भौतिक जगत तथा मन के रहस्यों का ज्ञान कराता है।

इस प्रकार से आत्मा का या द्रष्टा का, तथा दूसरे से दृश्य का, देह का और जगत का ज्ञान देता है। इन दोनों की जानकारी से ही मनुष्य का ज्ञान पूर्ण होता है।

किन्तु आज हम देखते हैं कि शिक्षा का अर्थ और उद्देश्य बिलकुल बदल गया है। आज का शिक्षित कहा जाने वाला समाज साक्षरता को ही शिक्षा मानता है। वस्तुतः बात ऐसी नहीं है। शिक्षा का अर्थ अक्षर ज्ञान या साक्षरता नहीं है। मनुष्य साक्षर होकर भी अशिक्षित हो सकता है। आजकल तो अधिकांश व्यक्ति ऐसे मिलते हैं जो साक्षर होकर भी अशिक्षित या मूढ़ कहे जा सकते हैं, और कुछ ऐसे व्यक्ति जो निरक्षर कहलाते हुए भी, ज्ञानी और शिक्षित साबित होते हैं। रामकृष्ण परमहंस और कबीर आदि ऐसे ही ज्ञानी पुरुष थे। आज भी हम अनेक ऐसे व्यक्तियों को देखते हैं, जिन्होंने कभी स्कूल में कदम भी नहीं रखा किन्तु उनकी पैनी दृष्टि और अनेक समस्याओं तक पहुँचने की क्षमता उन्हें सैकड़ों साक्षर व्यक्तियों से उच्च साबित करती है। कहा भी है :—

What is education? A parcel of books? Not at all, but intercourse with the world, with men and with affairs. —बर्क

—शिक्षा क्या है? पुस्तकों का ढेर? बिलकुल नहीं, बल्कि संसार के साथ, मनुष्यों के साथ और कार्यों से पारस्परिक सम्बन्ध।

केवल पुस्तकें पढ़ लेने से शिक्षा का उद्देश्य पूरा नहीं होता क्योंकि कोरी अक्षर-शिक्षा जीवन का विकास नहीं कर सकती। किसी ने कहा है :—

'शास्त्राण्यधीत्यापि भवन्ति मूर्खाः।'

अर्थात् बड़े-बड़े शास्त्रों का ज्ञान कर लेने वाले भी मूर्ख होते हैं।

कुछ व्यक्ति अनेक शास्त्रों को तथा नाना प्रकार की इस लोक संबंधी तथा परलोक संबंधी विद्याओं को पढ़ लेते हैं, तर्क-वितर्क करने में कुशल बन जाते हैं, तथा अपनी दार्शनिकता का सिक्का दूसरों पर जमाने में भी पीछे नहीं रहते। किन्तु ऐसे लोग वास्तव में अज्ञानियों की श्रेणी में ही आते हैं। क्योंकि शिक्षा का सच्चा उद्देश्य वे नहीं जानते। शिक्षा का वास्तविक उद्देश्य है कि उसके द्वारा मनुष्य अपने शरीर, मन, मस्तिष्क और विभिन्न इन्द्रियों का सदुपयोग करना सीख जाय। क्रियाहीन ज्ञान की कोई कीमत नहीं होती :—

'ज्ञानं भारः क्रिया विना।'

वह ज्ञान ज्ञान नहीं है जो मनुष्य के आचरण में न उतरा हो। ज्ञान का अर्थ है किसी वस्तु के अन्तर्-बाह्य को जान लेना और उसका यथोचित उपयोग करना। अगर व्यक्ति अपने ज्ञान का जीवन में उपयोग नहीं कर सकता अथवा तदनुकूल आचरण नहीं करता तो उसका ज्ञान अधूरा अथवा विकृत माना जाना चाहिए।

प्रायः हम देखते हैं कि साहस की परिभाषा बताने और उसकी मनोवैज्ञानिक व्याख्या करने वाले व्यक्ति भी डरपोक पाये जाते हैं। दर्शन और अध्यात्मविद्या के अध्यापकों में चरित्र बल का अभाव पाया जाता है, इतिहास के अध्यापक सामाजिक

प्रश्नों पर तथा अपने जीवन के क्षेत्र में समस्त ऐतिहासिक ज्ञान व अनुभव के विपरीत आचरण करते हैं; अनेक शिक्षणशास्त्रियों को बच्चों के साथ थप्पड़ों और बेंतों के द्वारा व्यवहार करते देखा गया है। इसका कारण यही है कि उनका ज्ञान केवल पुस्तकीय है। वह ज्ञान ज्ञान नहीं है क्योंकि वह उनके हृदय में नहीं पैठ पाया है, आत्मा में प्रविष्ट नहीं हुआ। ऐसा ज्ञान सिर्फ जीविकोपसाधन का पेशा है। जहाँ ज्ञान चित्त में समाविष्ट नहीं हो और ज्ञानेन्द्रियाँ तथा कर्मेन्द्रियाँ उस ज्ञान के विरुद्ध काम करती हों वहाँ ज्ञान वस्तुतः अविद्या और अज्ञान है। ज्ञान का सही उपयोगन जानने वाले बुद्धिहीन व्यक्ति को सैकड़ों शास्त्र रट लेने से भी क्या लाभ है? महर्षि चाणक्य ने कहा भी है :—

यस्य नास्ति स्वयं प्रज्ञा शास्त्रं तस्य करोति किम्।
लोचनाभ्यां विहीनस्य दर्पणः किं करिष्यति॥ —चाणक्य

—जिसके स्वयं कुछ बुद्धि नहीं है, उसको शास्त्र क्या लाभ पहुँचा सकता है? अंधे मनुष्य को दर्पण क्या दिखलाएगा?

जब भारतीय सभ्यता पूर्णरूप से उन्नत थी, उस समय हमारी शिक्षा-प्रणाली आज की शिक्षा-प्रणाली से सर्वथा भिन्न थी। विद्यार्थी प्रकृति की गोद में स्थित आश्रमों में श्रमपूर्ण जीवन बिताते हुए शिक्षा का मर्म हृदय और जीवन में उतारते थे। आज बहुत से व्यक्ति यह समझ बैठे हैं कि मस्तिष्क की शक्तियों का विकसित हो जाना ही शिक्षा का परम उद्देश्य है, किन्तु यह समझना गलत है। विद्यार्थी के मस्तिष्क के साथ हृदय और आत्मा का भी विकास होना चाहिए।

शिक्षण का लाभ वस्तुतः शिक्षक के जीवन और चरित्र पर निर्भर है। आदर्श शिक्षक की कल्पना यही है कि वह शिक्षार्थी के हृदय में प्रवेश करके उसकी सद्वृत्तियों को उभाड़े, उसकी जिज्ञासा को जाग्रत करे। और उसे स्वतंत्र चिंतन में सक्षम बनाए। शिक्षक का अपना चरित्र ही ऐसा होना चाहिए जो मूक शिक्षण का कार्य करे। सिखाने की अपेक्षा शिक्षक को बालकों का अवलोकन करने की अधिक आवश्यकता है। डॉ. मान्टेसरी ने भी लिखा है :—

"शिक्षक की वाचालता की अपेक्षा उसका मौन अधिक उपयोगी है।"

किन्तु वह मौन ऐसा नहीं होना चाहिए, जो आज के कवियों के लिए उपहास की सामग्री बन जाय :—

घेरकर कुछ शिष्यगण, उनके गुरु बन जाइये,
फिर मजे से माल पूआ, और खीर उड़ाइये।
तर्क करने के लिए आ जाय कोई सामने,
खुल न जाये पोल, इस भय से लगो मत काँपने।
जीव क्या है, ब्रह्म क्या, तू कौन है, मैं कौन हूं?
स्लेट पर लिख दो 'महोदय आजकल मैं मौन हूं?'

धर्मसंकट शीघ्र ही इस युक्ति से कट जाएँगे,
सामने से तार्किक विद्वान सब हट जाएँगे ॥

शिक्षक का उद्देश्य शिक्षार्थी को ज्ञान का आलोक प्रदान करते हुए उन्हें उच्च संस्कारों से मंडित करना भी होना चाहिए। जिस प्रकार मूर्तिकार तन्मयतापूर्वक मूर्ति के एक-एक अंग की सुडोलता व सुन्दरता का ध्यान रखता हुआ उसका निर्माण करता है, उसी प्रकार गुरु पूर्ण आत्मीयता के साथ अपने शिष्य की एक-एक त्रुटि का निवारण करते हुए उसमें संस्कारयुक्त श्रेष्ठ ज्ञान की स्थापना करे तभी वह सच्चा गुरु और शिक्षक साबित हो सकता है। छात्र के सुन्दर व्यक्तित्व का निर्माण करने में वह अपने व्यक्तित्व को विलीन करदे वही गुरु, गुरुपद का अधिकारी कहला सकता है। जैसा कि कहा गया है—

'The teacher is like the candle which lights others in consuming itself.'
—रुफिनी

शिक्षक मोमबत्ती के सदृश है जो स्वयं जलकर दूसरों को प्रकाश देता है।

दीक्षा

वर्तमान प्रचलित व्यवस्था में दीक्षा का अर्थ किसी मत, सम्प्रदाय आदि को अपना लेना होता है। किन्तु सही अर्थों में दीक्षा का अर्थ मानव-जीवन के चरम लक्ष्य के अनुभव का निर्णय करना है। शिक्षा एक प्रकार की सामर्थ्य है पर इस सामर्थ्य में चेतना नहीं होती अतः इसका दुरुपयोग भी हो सकता है। इस दुरुपयोग की आशंका को दूर करने के लिए ही शिक्षा के साथ-साथ दीक्षा का विधान है। सामर्थ्य के सदुपयोग के लिए प्रकाश दीक्षा से ही मिल सकता है। ज्ञान, विज्ञान एवं विभिन्न कलाओं के द्वारा जो शक्ति प्राप्त होती है उसका सम्यक् लाभ प्राप्त करने के लिये-मनुष्य को शिक्षित होने के साथ-साथ दीक्षित होना भी अनिवार्य है।

साधारणतः आजकल शिक्षण का अर्थ साहित्यिक ज्ञान समझा जाता है। कहा जाता है कि शिक्षणकाल में शिक्षार्थी को जीवन और संसार के व्यावहारिक प्रश्नों एवं गुत्थियों में न पड़ना चाहिए। इसका परिणाम यह होता है कि शिक्षा अधूरी रह जाती है और उसका जीवन से सम्पर्क नहीं रहता।

शिक्षा स्वयं कोई ध्येय नहीं है, वह जीवन के ध्येय की पूर्ति का साधन मात्र है। अगर पर्याप्त शिक्षा प्राप्त करके भी कोई उसे व्यवहार में नहीं ला सकता, उसका उपयोग क्रियात्मक रूप में नहीं कर सकता तो वह अधूरी है। शिक्षा का जीवन और जीवन की समस्याओं से घनिष्ठ सम्बन्ध है। जो जीवन हम बिता रहे हैं उसकी भूमिका पर जो जीवन बिताना चाहिए उसकी ओर अग्रसर करने की साधना ही शिक्षा है। पुस्तकों में केवल अक्षर और भाषा मिलती है, किन्तु उनका अर्थ सृष्टि में रहता है। दूसरे शब्दों में, पुस्तकों से कल्पनाएँ तीव्र होती हैं और विचार मिलते हैं किन्तु विचारों का महत्त्व उनके प्रयोग अर्थात् क्रिया या आचरण में है। जिस प्रकार

वाक्य में कर्ता होने पर भी क्रिया न हो तो वाक्य नहीं बनता उसी प्रकार शिक्षा के साथ यदि तदनुकूल क्रियात्मक प्रयोग न हो तो उसका तात्पर्य नष्ट हो जाता है तथा कहना पड़ता है—

इल्म से जाना था कि कुछ जानेंगे हम।
जाना तो ये जाना कि जाना कुछ भी नहीं॥

महात्मा गांधी ने भी एक स्थान पर लिखा है—

"पढ़ने का अर्थ ही गलत हो गया है। जो गुनना न जानें वे पढ़े नहीं हैं। जो गुन सकें वही पढ़े हैं।"

यह गुनना ही शिक्षित होने के साथ-साथ दीक्षित होना है। हजरत गौसुल एक बड़े साधु थे। उन्हें बचपन से विद्या का शौक था। उन दिनों बगदाद शहर विद्याओं और कलाओं का बड़ा केन्द्र था। गौसुल ने विद्याभ्यास के लिए बगदाद जाने की अपनी माँ से आज्ञा माँगी। माता ने पुत्र का विद्या-प्रेम देखकर खुशी से इजाजत दे दी और चालीस अशर्फियाँ लड़के के कुरते में बगल के नीचे होशियारी से सीं दी, ताकि जरूरत के वक्त वे काम आ सकें।

चलते वक्त माँ ने कहा—"बेटा ? बगदाद जाकर तुम उच्च शिक्षा प्राप्त करोगे, किन्तु उसका पहला सबक आज मुझसे ले जाओ। वह यही है कि सदा सच बोलना और ईश्वर को कभी मत भूलना।"

गौसुल ने मस्तक झुकाकर माता से शिक्षा का पहला पाठ सीखा और एक क़ाफिले के साथ बगदाद के लिए रवाना हो गये। रास्ते में डाकुओं के एक गिरोह ने काफिले को लूट लिया। एक डाकू हजरत के पास आकर बोला—'लड़के ! तेरे पास कुछ है या नहीं ?' इन्होंने उत्तर दिया—'मेरे पास चालीस अशर्फियाँ हैं।' डाकू ने पूछा—"कहाँ है ?"

"कुरते के बगल में सिली हुई हैं।"

डाकू इस बात को नादान बच्चे का मजाक समझ कर चल दिया। किन्तु कुछ ही क्षणों में दूसरा डाकू आया और उसने भी अपने प्रश्न के उत्तर में यही जवाब पाया। सुनकर डाकू उसे अपने सरदार के पास ले गया।

सरदार ने भी कुतूहल प्रकट करते हुए उसकी अशर्फियाँ निकालने की आज्ञा एक डाकू को दी। बताई हुई जगह से चमचमाती हुई चालीस अशर्फियाँ निकल आयीं।

सरदार हैरत में आकर बोला—"लड़के ! तू बड़ा अजीब है। तूने डाकुओं को भी अपना धन बता दिया !"

हजरत गौसुल ने बड़े मधुर स्वर से उत्तर दिया—

"सरदार ! मेरी माँ ने चलते वक्त मुझे शिक्षा का पहला पाठ सिखाया था

कि सदा सत्य बोलना और ईश्वर को कभी मत भूलना। मैंने अपनी माता की दी हुई शिक्षा से ही सच बोला है।"

डाकुओं का सरदार गौसुल की सत्यवादिता से अत्यन्त प्रभावित हुआ। उसने हजरत गौसुल की अशर्फियाँ अपनी ओर से भी बहुत सा धन मिलाकर वापिस कर दीं। इतना ही नहीं उसने काफिले का सारा माल वापिस कर दिया और उस दिन से ही लूटमार छोड़कर भले रास्ते पर लग गया।

यह उदाहरण है शिक्षा के साथ-साथ दीक्षा लेने का। यह दीक्षा प्रत्येक समाज, वर्ग, देश, मत, सम्प्रदाय, मजहब और इज्म आदि के मानव के लिए समान रूप से आवश्यक है। इस दीक्षा के बिना कोई मानव मानव नहीं हो सकता और मानव हुए बिना अपने जीवन के लिए, जगत के लिए तथा आत्मा के लिए कुछ नहीं कर सकता। अन्त समय में उसे यही कहना पड़ता है—

हम फूल चुनने आए थे बागे हयात में।
दामन को खाक्जार में उलझा के रह गये॥

जो व्यक्ति मानव पर्याय और उच्च शिक्षा प्राप्त करके भी उत्तम संस्कारों को ग्रहण नहीं करता वह जीवन से कोई लाभ नहीं उठा पाता।

संस्कारित जीवन का ही दूसरा नाम दीक्षित होना है। दीक्षा के दो मुख्य अंग हैं—दायित्व और माँग। प्राकृतिक नियमानुसार दायित्व पूरा करने पर माँग की पूर्ति स्वतः होती है। दायित्व पूरा करने का अविचल निर्णय तथा माँग की पूर्ति करने में आस्था रखना ही दीक्षा है।

शिक्षा के द्वारा प्राप्त हुए सौन्दर्य से मानव दायित्व को पूरा करता है। हमें विचार करना है कि दायित्व क्या है? दायित्व वह नहीं होता जिसे पूरा करने में मानव असमर्थता अनुभव करे और वह भी दायित्व नहीं कहलाता जिसके पूर्ण करने में माँग की पूर्ति न हो। अपने पर क्या दायित्व है, इस पर मानव को स्वयं विचार करना है। जाने हुए दायित्व का समर्थन महान पुरुषों से ही होता है और उसी का नाम दीक्षा है।

शिक्षा सामर्थ्य है तथा दीक्षा प्रकाश। अगर व्यक्ति अपनी सामर्थ्य का उपयोग अँधेरे में ढेला फेंकने के समान करता है तो निश्चय ही वह अपने विनाश को निमन्त्रण देता है। शिक्षा का प्रभाव शरीर, इन्द्रिय, मन तथा बुद्धि आदि पर होता है और दीक्षा का प्रभाव अपने आप पर अर्थात् कर्ता पर होता है, करण पर नहीं। और करण कर्ता के अधीन कार्य करते हैं, इसलिए शिक्षा का उपयोग दीक्षा के अधीन होना चाहिये।

जब मनुष्य यह जान लेता है कि सबल उसका विनाश कर सकता है तो वह अपने बल का दुरुपयोग न करने का निश्चय करता है। उसका यह निश्चय कि वह किसी भी परिस्थिति में अपने बल का दुरुपयोग नहीं करेगा, उसमें कर्तव्य-भावना

को जन्म देता है। यही दीक्षा की महिमा है। सामर्थ्य तथा विवेक विरोधी कार्य न करने का निर्णय कर्तव्य-परायणता के लिये अनिवार्य है। इस दृष्टि से कर्तव्य-पथ पर चलने के लिये दीक्षा अनिवार्य है। भले ही यह दीक्षा मानव अपने विवेक से अपनाए अथवा किसी श्रेष्ठ आचार्य के द्वारा ग्रहण करे यह उसकी अपनी स्वाधीनता है, किन्तु दीक्षित न होना उसकी बड़ी भारी भूल है।

यद्यपि शिक्षा अत्यन्त महत्त्व की वस्तु है किन्तु दीक्षित हुए बिना शिक्षा के द्वारा घोर अनर्थ भी हो जाते हैं। अशिक्षित मनुष्य के द्वारा समाज की उतनी हानि नहीं होती जितनी दीक्षारहित शिक्षित मनुष्य से होती है। हमारे प्राचीन आचार्य अपने शिष्यों को शिक्षा देने के साथ-साथ दीक्षा देना कभी नहीं भूलते थे।

एक राजा ने अपने राजकुमार को किसी आचार्य के पास शिक्षा प्राप्त करने के हेतु भेज रखा था। जब राजकुमार की शिक्षा के समाप्त होने का समय आया तो महाराज स्वयं उसे गुरु के आश्रम से लिवा ले जाने के लिये आये।

राजा ने आचार्य से पूछा—'भगवन्! राजकुमार की शिक्षा समाप्त हो गई?'

गुरु ने उत्तर दिया—'राजन! इसकी शिक्षा पूरी हो गई है, सिर्फ दीक्षा का एक और सबक देना बाकी रह गया है। वह मैं अभी दिये देता हूँ।'

इतना कहकर गुरुजी ने राजकुमार को बुलाया और पास ही रखे हुए कोड़े से राजकुमार की पीठ पर तीन-चार प्रहार कर दिये। तत्पश्चात् कहा—'वत्स जाओ! तुम्हारा कल्याण हो।'

महाराज गुरु के इस कार्य से बड़े चकित हुए किन्तु उन्होंने नम्रतापूर्वक पूछा—'अपराध क्षमा हो गुरुदेव! किन्तु राजकुमार की दीक्षा का यह पाठ मेरी समझ में नहीं आया।'

गुरु ने मन्द-मन्द मुस्कराते हुए कहा—'अरे भाई! इसे शासक बनना है। अपनी सत्ता और शिक्षा के मद में अगर यह अन्याय, अत्याचार और मार-पीट करने पर उतारू हो जाएगा तो आज का यह सबक इसे याद दिला देगा कि मार की तकलीफ कैसी होती है। बिना दीक्षित हुए यह पराये दुख-दर्द को कैसे समझ सकता है?'

कितना सुन्दर उदाहरण है, हमारे भारत के मनीषियों के सामने भूत, भविष्य हस्त-आमलक के समान थे। उनकी दिव्यदृष्टि कहाँ नहीं पहुँचती थी? वे जीवन और मरण के रहस्य को, आत्मा और परमात्मा के सम्बन्ध को तथा लोक और परलोक की सूक्ष्म और जटिल बातों को भली-भाँति समझते थे। उनकी दृष्टि में मानव-जीवन महान तप का फल है जो बार-बार नहीं मिलता। मीराबाई के शब्दों में—

नहिं ऐसो जनम बारम्बार।
का जाणूँ कछु पुण्य प्रकटे मानुसा अवतार॥

वास्तव में ही इस महिमामय मानव-जीवन की प्राप्ति प्रकृष्ट पुण्य के उदय से होती है। विचार करने की बात है कि संसार की असंख्य योनियों से बचकर मनुष्य योनि पा लेना कितनी बड़ी बात है ? अनन्त-अनन्त सुकृतों के फलस्वरूप ही मनुष्य योनि प्राप्त होती है। दूसरे शब्दों में बड़ी भारी पुण्य-राशि व्यय करके यह मानव-भव पाया जाता है।

अगर मनुष्य हजारों-लाखों रुपये व्यय करके किसी वस्तु का क्रय करता है तो क्या कभी उसे व्यर्थ फैंक सकता है ? नहीं, उसे वह अपने प्राणों की भाँति प्यार करता है और सँभाल कर रखता है, यही बुद्धिमानी का लक्षण है। किन्तु यह मनुष्य-जीवन जो आपको प्राप्त है, क्या लाखों और करोड़ों रुपयों में मिलने वाली वस्तु से कम मूल्यवान है ? इसे तो करोड़पति अपना सर्वस्व देकर तथा चक्रवर्ती सम्राट अपना छः खंड का साम्राज्य न्योछावर करके भी प्राप्त नहीं कर सकता। अतः हमें विचार यही करना है कि ऐसे महान जीवन को पाकर हम किस प्रकार इसे सार्थक बना सकते हैं ? प्रेय की प्राप्ति करके अथवा श्रेय को प्राप्त करके। संसार की समस्त वस्तुएँ इन्हीं दो श्रेणियों में आती हैं।

प्रेय वे हैं, जो केवल मनमोहक हैं और क्षणिक सुख प्रदान करके भोर के नक्षत्र की भाँति शीघ्र ही विलीन हो जाते हैं। आज प्रेय की चकाचौंध ने मनुष्य को ऐसा मोहग्रस्त बना दिया है कि वह श्रेय को देख ही नहीं पाता। जैसे-तैसे पुस्तकीय शिक्षा प्राप्त करके और परीक्षाएँ दे-देकर उच्च डिग्रियाँ हासिल करके वह प्रेय-प्राप्ति के चक्कर में पड़ जाता है। पश्चिम जड़वादी है। उसके लिये इहलौकिक सुख ही सब कुछ है। खाओ, पीओ और आनन्द करो। मृत्यु के पश्चात् क्या होता है यह किसने देखा है—ऐसा सिद्धान्त जिस देश और जाति का है उसका भोग की ओर दौड़ना स्वाभाविक ही है। केवल शिक्षा प्राप्त करके ऐसे घोर अन्धकार में विचरण करने वाले व्यक्तियों की समझ पर ज्ञानी पुरुष तरस खाते हैं और उन्हें चेतावनी देने का प्रयत्न करते हैं। एक फारसी विद्वान इसलिए कहता है—

ऐ गिरफ्तारे पाए बन्दे अयाल।
दिगर आजादगी मबन्द खयाल।
गमे फरजजन्दो नानो जामाओ कूत।

अर्थात्—हे मनुष्य ! तू सन्तान, खान-पान, वेश-भूषा, आजीविका तथा अन्य सांसारिक पदार्थों के प्रेम में आसक्त रहकर किसी भी बन्धन से मुक्त नहीं हो सकता, क्योंकि उन पदार्थों की चिन्ता स्वर्ग और मोक्ष की चिन्ता में बाधक होती है।

इसलिए अगर हमारी अभिलाषा संसार-मुक्त होने की है तो हमें प्रेय के स्थान पर श्रेय को अपनाना होगा, अन्यथा सुख-प्राप्ति की आशा दुराशामात्र सिद्ध होगी। अब प्रश्न यह उठता है कि श्रेय, जो आत्मा को अव्याबाध सुख की प्राप्ति कराता है उसे कैसे पाया जाय ?

आज की शिक्षा प्रणाली सर्वथा दूषित है। इसने हमारे मस्तिष्क को तो पर्वत की शिखा पर पहुँचाने का प्रयत्न किया है किन्तु आत्मा अभी तलहटी में ही कर्म-भार से लदी हुई पड़ी है। अतः हमारा कल्याण इसी में है कि हम पुस्तकीय शिक्षा को ही जीवन का ध्येय न मानकर उसे जीवन के अभ्युदय में साधन मात्र मानें। तभी हमारी विद्या सद्विद्या सावित होगी। महर्षि मनु ने कहा है—

'सा विद्या या विमुक्तये।'

—विद्या वही है जो हमें विकारों से विमुक्त करती है और हमें स्वतन्त्रता प्रदान करती है।

वह विद्या, विद्या नहीं है जो जीवन की बेड़ियाँ तोड़ने में सहायक न वनती हो, आत्मा को भ्रमजाल व अज्ञानान्धकार से न वचाती हो तथा कुसंस्कारों और अन्धविश्वासों के दल-दल से न निकालती हो। ऐसी विद्या वध्या है और ऐसी शिक्षा निष्फल है और तो और वह ऐसी आत्म बंचना है जो इस दुर्लभ मानव पर्याय को निरर्थक बना देती है।

संस्कार

प्रत्येक मनुष्य के लिए आवश्यक है कि वह शिक्षित होने के साथ-साथ दीक्षित भी हो। दीक्षित होने का सीधा-साधा अर्थ है, संस्कारित होना। व्यक्ति का चरित्र उसके संस्कारों द्वारा निर्मित होता है। यदि मनुष्य के हृदय में शुभ संस्कार मुख्य रहें तो उसका चरित्र उज्ज्वल बनता है और अशुभ संस्कारों की बहुतायत रही तो वह पतन की ओर अग्रसर होने लगता है। जब मन में निरंतर शुभ संस्कार इकट्ठे होते रहते हैं तो वे स्वभाव का रूप धारण कर लेते हैं और मानव को सतत सत्कर्म करने की प्रेरणा देते हैं। उस स्थिति में अगर कुसंस्कार कभी अपना मस्तक उठाते भी हैं तो शुभ संस्कारों का प्रबल प्रभाव उन्हें उसी क्षण रोक देता है। इसलिए आवश्यक है कि एक-एक करके भी शुभ संस्कारों की ही हृदय में स्थापना की जाय। किसी कवि ने कहा भी है—

एक टहनी एक दिन पतवार बनती है,
एक चिनगारी दहक अंगार बनती है;
जो सदा रौंदी गई बेबस समझकर,
एक दिन मिट्टी वही मीनार बनती है।

उत्तम संस्कार चाहे वह छोटा सा भी क्यों न हो एक दिन उत्तम फल का कारण बनता है। शुभ विचारों के सतत प्रभाव से तथा शुभ संस्कारों को धारण करने से शुभ कर्म करने की प्रवृत्ति प्रबल हो जाती है और उनके फलस्वरूप मनुष्य अपनी इन्द्रियों पर कावू पा लेता है। उच्च चरित्र के निर्माण की यही रीति है।

चारित्र

संसार में जितने भी महापुरुष हुए हैं वे अपने उज्ज्वल चरित्र के कारण ही

महान बने हैं। वैसे देखा जाय तो चरित्र और शिक्षा में घनिष्ठ सम्बन्ध है। सद्शिक्षा से ही उत्तम चरित्र का निर्माण होता है। आवश्यकता है केवल उसके सही उपयोग की, जिससे मनुष्य के बुद्धि-बल के साथ-साथ आत्मिक बल भी बढ़े। जिस अभ्यास से दया, उदारता, प्रेम, शान्ति, सत्य तथा विवेक आदि सात्त्विक गुणों का उत्कर्ष हो वही सद्शिक्षा है। अगर व्यक्ति श्रेष्ठ विचारों को मन में धारण करके उनके अनुरूप अपने जीवन को ढाल लेता है तो वह उस व्यक्ति से हजारगुना अधिक शिक्षित है जिसने बिना मनन और आत्मसात किये समूचे पुस्तकालय का अध्ययन कर लिया हो। वह शिक्षा, जो मनुष्य को जीवन-संग्राम के योग्य नहीं बनाती, उसके चरित्र को ऊँचा नहीं उठाती तथा आत्मा की दिव्य शक्तियों को नहीं जगाती—भला शिक्षा कैसे कहला सकती है।

मुसलमानों के पवित्र तीर्थ-स्थान मक्का की एक मसजिद में एक भक्त पानी का घड़ा लेकर खड़ा रहता था और नमाज पढ़ने से पहले वजू करने के लिये जो लोग पानी माँगते थे, अपने घड़े से उनके हाथ-पैर धुला देता था। इसके पश्चात् वह व्यक्ति सबसे दूर जहाँ सबके जूते पड़े रहते थे, वहाँ जाकर बैठ जाता था। मस्जिद के अन्दर आकर उसने कभी भी नमाज नहीं पढ़ी थी।

भक्त मुसलमानों को यह देखकर बड़ा आश्चर्य हुआ और उन्होंने सोचा कि नमाज न पढ़ने वाला यह फकीर अवश्य ही गुप्त वेश-धारी कोई गुप्तचर है। अन्यथा बिना नमाज पढ़े यहाँ प्रतिदिन आकर खड़ा नहीं रहता।

लोगों ने उसे डराया-धमकाया और मारपीट कर वहाँ से निकाल दिया। साथ ही यह भी कह दिया—"अगर अब फिर इस मसजिद में आया तो तेरी खैर नहीं।" किन्तु अगले ही दिन देखा गया कि वह फकीर उसी प्रकार घड़ा लिये लोगों के हाथ-पैर धुलाने को तैयार था।

भक्तों के क्रोध का पारावार न रहा। वे फकीर को पकड़कर मुहम्मद पैगम्बर के पास ले गए। मुहम्मद साहब ने उससे पूछा—"भाई, तू नमाज क्यों नहीं पढ़ता है?"

फकीर बोला—"पैगम्बर सहाब, मैं दीन-हीन व्यक्ति हूँ। जो खुदा की बन्दगी करते हैं, उनको वजू कराकर और उनके जूतों में बैठकर ही अपनी जिन्दगी को कामयाब समझता हूँ। मेरे जैसे जाहिल इन्सान के मुँह से अल्लाह की बन्दगी क्या शोभा देती है?"

ईश्वर के प्रति उस दीन व्यक्ति की इतनी गहरी श्रद्धा देखकर तथा उसकी नम्रतापूर्ण वाणी को सुनकर हजरत मुहम्मद गद्गद हो गए और उन्होंने प्रेम-पूर्वक उसे गले लगा लिया।

इसके पश्चात् मुहम्मद साहब ने लोगों से कहा-"यह इन्सान हकीकतन खुदा का बन्दा है। इसकी इतनी नम्रता ही दरअसल एक बहुत बड़ी बन्दगी है। तुम लोगों

में ऐसे कितने इन्सान हैं, जो दूसरों की खिदमत करने का इरादा रखते हैं? मेरा लाख-लाख मुबारकबाद है ऐसे नेकचलन इन्सान को जो खुदा पर इतना यकीन रखता है।"

वास्तव में, हृदय की ऐसी सरलता, पवित्रता और निरभिमानता ही उच्च चरित्र की द्योतक हैं। प्रतिदिन नमाज पढ़ने वाले अहंकारी क्रोधी और अपने को सच्चा भक्त मानने वाले व्यक्तियों की अपेक्षा भक्तों की सेवा करने वाला तथा उनकी जूतियों के बीच में बैठने वाला नम्र फकीर ही चरित्र बल का सच्चा धनी है। अतुल धन, वैभव या शिक्षा चरित्र की कसौटी नहीं है। चरित्र की सच्ची कसौटी आत्मा की निर्मलता है। निर्धन से निर्धन व्यक्ति भी इस कसौटी पर खरा उतर सकता है। इसीलिए कहा गया है—

वृत्तं यत्नेन संरक्षेद् वित्तमायाति याति च।
अक्षीणो वित्ततः क्षीणो वृत्ततस्तु हतो हतः॥

अर्थात्—चारित्र की रक्षा यत्नपूर्वक करे; धन तो आता-जाता रहता है। धन से क्षीण क्षीण नहीं माना जाता, लेकिन आचार-भ्रष्ट को तो मरा ही समझना चाहिए।

बंधुओ! आपने भली-भाँति समझ लिया होगा कि शिक्षा और दीक्षा में क्या अन्तर है। शिक्षा मनुष्य की बुद्धि को विकसित करती है और दीक्षा हृदय को विशाल बनाती है। शिक्षा मनुष्य को जीवन और उसकी समस्याओं से परिचित कराती है तथा दीक्षा उन समस्याओं को क्रियात्मक रूप से सुलझाती है। शिक्षा जीवन के ध्येय की पूर्ति का साधन है और दीक्षा लक्ष्य-प्राप्ति के मार्ग पर चलने में गति प्रदान करने वाली प्रेरणा। शिक्षा मानव को महामानव बनाने के सिद्धान्तों का समूह है और दीक्षा उनकी प्रयोगशाला। विज्ञान की पाठ्य पुस्तक में विद्यार्थी जो कुछ पढ़ता है उसे वह प्रयोगशाला में प्रत्यक्ष देखता है, तभी उसे सिद्धान्तों के पीछे जो रहस्य होते हैं उनका ज्ञान होता है। इसी प्रकार हमारे शास्त्रों व सद्ग्रन्थों में जीवन और जगत, आत्मा और परमात्मा, तप और त्याग तथा संयम और साधना आदि का जो गूढ़ विवेचन दिया गया है, आत्मा को प्रवृत्ति-मार्ग से निवृत्ति-मार्ग की ओर ले जाने का उपाय बताया गया है, इन सबका ज्ञान करना तथा उसके अनुसार आत्मा को ऊँचाई की ओर ले जाना कोरे शिक्षित व्यक्ति के वश का रोग नहीं है। बड़े-बड़े शास्त्रों को पढ़कर और अनेक ग्रन्थों का अवलोकन करके भी वह तोता रटन्त के अलावा और कुछ नहीं कर सकता। ज्ञान के असीम भंडार से लाभ वही उठा सकता है जो भव्य प्राणी शिक्षित होने के साथ-साथ दीक्षित भी हो।

जिस प्रकार कोई व्यक्ति पानी में गोते लगाए बिना तैराक नहीं बन सकता, उसी प्रकार शिक्षा का असह्य बोझ मस्तिष्क में लाद लेने पर भी

उसे आचरण में लाए बिना मानव अपनी आत्मा का लेशमात्र भी भला नहीं कर सकता।

अनेक शास्त्र पढ़कर भी मनुष्य मूर्ख रह जाता है, अगर वह उनके अनुसार आचरण न करे। विद्वान् वही कहलाता है जो जाने हुए के अनुसार चलता है। आत्मा के अभ्युत्थान में ज्ञान के साथ-साथ क्रिया का होना भी आवश्यक है। क्रिया के अभाव में ज्ञान गतिहीन रहता है और आध्यात्मिक प्रगति में रुकावट बनता है। विनोबा भावे ने एक स्थान पर लिखा है—

"जिसने ज्ञान को आचरण में उतार लिया उसने ईश्वर को ही मूर्तिमान कर लिया है।"

स्मृतिकार ने भी आचरण का महत्त्व बताया है—

आचारः प्रथमो धर्मः आचारः परमं तपः।
आचारः परम ज्ञानमाचारात् किं न सिद्धयति ॥१॥

आचार ही परम धर्म है, आचार ही परम तप है, आचार ही परम ज्ञान है, ज्ञान का स्रोत है, आचार से क्या नहीं सिद्ध होता ?

कहने का अभिप्राय यही है कि शिक्षा तभी सद्‌शिक्षा कहला सकती है और सार्थक बन सकती है जबकि उसे आचरण में उतारने की चेष्टा की जाय। यह चेष्टा दीक्षा कहलाती है। दीक्षित व्यक्ति ही अपने ज्ञान को चिंतन, मनन, संयम और साधना के द्वारा आत्मिक उन्नति में सहायक बना सकता है। जिस व्यक्ति का ज्ञान केवल तर्क-वितर्क और वाद-विवाद के लिए होता है वह उसके उत्थान में अभिशाप बन कर रह जाता है और इसके विपरीत जो व्यक्ति अपने ज्ञान के द्वारा जीवन के मिथ्याचार, पापाचार और दुराचार को नष्ट करके आध्यात्मिक बल को बढ़ाता है तथा आत्मा की अनन्त शक्ति, अनन्त सौन्दर्य और अनन्त सुख को समझ लेता है वह सदा के लिये जन्म-मरण के चक्र से छूटकर परमात्म-स्वरूप को प्राप्त होता है। □

6

संभल-संभल पग धरिये

विराट विश्व के इस प्रांगण में अनन्तानन्त पदार्थ हैं, जो रूप, रंग, आकृति, प्रकृति, गुण एवं दोषों में एक दूसरे से सर्वथा भिन्न और रहस्यमय प्रतीत होते हैं। किन्तु मानव अपने बुद्धिबल से इन समस्त पदार्थों के गूढ़ से गूढ़ रहस्यों का उद्घाटन कर सकता है। सिर्फ मन ही उसके लिये एक ऐसी अद्भुत पहेली है, जिसको वह लाख प्रयत्न करने पर भी नहीं सुलझा सकता; तथा प्रतिक्षण अप्रत्याशित रूप में उदित होने वाली असंख्य निगूढ़ वृत्तियों को नहीं जान सकता।

यह मन एक क्षण पहले लावण्यवती ललनाओं के साथ विहार करना चाहता है तो अगले क्षण में नेत्रहारी नृत्य देखने की आकांक्षा करने लगता है। कभी वह सुरभित पुष्पों की मधुर सुगंध से घ्राणेन्द्रिय को तृप्त करना चाहता है और कभी श्रुतप्रिय संगीत की स्वर-लहरी में अपने आपको खो देना चाहता है। किसी अप्रिय प्रसंग के उपस्थित होने पर शोक-सागर में डूब जाता है और प्रिय वस्तु का संयोग होते ही हर्षातिरेक से पागल हो जाता है।

इस प्रकार, एक नहीं अनेक भावनाएँ उसके मन में नवीन-नवीन रूप धारण करके आती हैं और मन अपने स्वभावानुसार वैसा ही रूप धारण कर लेता है। कवि सुन्दरदास जी कहते हैं:—

> जो मन नारी की ओर निहारत,
> तो मन होत है ताही को रूपा।
> जो मन काहु से क्रोध करे तब,
> क्रोध मयी होए ताहि को रूपा॥
> जो मन माया ही माया रटे नित,
> बूड़त है वह माया के कूपा।
> सुन्दर जो मन ब्रह्म विचारत,
> तो मन होत है ब्रह्म सरूपा॥

पद्य की इन बातों से मन की चंचलता और प्रबलता सहज ही समझ में आ जाती है। बेचारा मानव इतना असहाय है कि वह कभी तो मन की चाह-दाह को

उपशान्त नहीं कर पाता। भाग्यवशात् अगर किसी एक चाह की पूर्ति कर भी लेता है, तो अन्य अनेक इच्छाएँ उसके समक्ष आ उपस्थित होती हैं और उसे विकल किये रहती हैं। परिणाम यह होता है कि मानव का जीवन आकुलताओं से भर जाता है तथा असंतुष्टि की ज्वालाएँ उसके हृदय को दग्ध किये रहती हैं। साधारण मानव अनादिकाल से इस कसक का अनुभव करता आ रहा है किन्तु उसकी भ्रान्त दृष्टि इसका प्रतिकार नहीं सोच पाती।

फिर भी जीवन को अत्यन्त बारीकी से देखने वाले और उसकी विविध वृत्तियों का गहराई से अनुशीलन करने वाले कुछ पुरुष-पुंगव ऐसे होते हैं जो मन की इस पहेली को सुलझाए बिना नहीं छोड़ते तथा उसके रहस्य को जाने बिना नहीं रहते। उनका विश्वास होता है कि प्रत्येक समस्या अपने साथ समाधान लेकर जन्मती है, प्रत्येक पहेली अपने सुलझने की क्षमता रखते हुए बनती है। यह सम्भव है कि मन की निगूढ़ पहेली को सुलझाने में समय लगे, उसके लिये अनिश्चित काल तक भी तपना और खपना पड़े किन्तु वह सुलझेगी अवश्य। उसका रहस्य खुले बिना नहीं रहेगा।

ऐसे मनीषियों ने ही आत्मा के निराकार, निर्विकार, निष्कलुष, निरंजन और शुद्ध चेतनमय स्वरूप को समझा तथा उसके अनन्तज्ञान, अनन्तदर्शन और अनन्तसुख मय स्वभाव को पहचाना। उन्होंने भलीभाँति जान लिया कि आत्मा अपने मूल रूप में निर्मल एवं कलुषरहित है। इसे मलिन बनाने वाले कारण हैं—क्रोध, मान, माया, लोभ, राग और द्वेष। मन के इन विकारों से दूषित होने के कारण ही आत्मा में वासनारूप दुर्गन्ध उत्पन्न होती है। परिणामस्वरूप निबिड़ कर्मों का बंध हो जाता है, और जन्म-जन्मान्तरों तक उसे नाना प्रकार की यातनाएँ सहनी पड़ती हैं। भगवान महावीर का कथन है :—

जह रागेण कडाणं, कम्माणं पावगो फलविवागो।
जह य परिहीणकम्मा, सिद्धा सिद्धालय मुवेन्ति॥

—औपपातिकसूत्र

अर्थात्—यह संसारी जीव राग-द्वेष रूप विकारों के कारण उपार्जित कर्मों का दुष्फल भोगता है; और जब समस्त कर्मों का क्षय कर डालता है तो सिद्ध होकर सिद्धि क्षेत्र को प्राप्त करता है।

तात्पर्य यही है कि जिस समय आत्मा की मलीनता दूर होती है, तो उसे मुक्त अवस्था की प्राप्ति हो जाती है। आत्म-शुद्धि के लिये विषय-विकारों को नष्ट करना तथा भावनाओं को शुद्ध रखना आवश्यक है। शुभ संकल्प के अभाव में सच्चा सुख कभी प्राप्त नहीं हो सकता। उर्दू के एक कवि ने कहा है :—

जब तक इसी सागर से तू मखमूर है।
जौक से जामे वका से दूर है॥

—जब तक तू सांसारिक पदार्थों के मद में उन्मत्त है, तब तक परम शान्ति के आनन्द से दूर ही रहेगा।

शुभाशुभ विचार

मूंग का एक दाना भूमि में बो दिया जाता है। उस छोटे से बीज से पौधा अंकुरित होता है। पौधे में सैंकड़ों फलियाँ लगती हैं और एक-एक फली में अनेकानेक दाने पड़ जाते हैं। इसी प्रकार हमारी एक छोटी सी अशुभ या शुभ भावना अनेकों अशुभ या शुभ फल उत्पन्न करती है। हमारे शास्त्र बताते हैं कि जीव एक समय (काल के सूक्ष्मतम भाग) में ही अनन्तानन्त कर्म परमाणुओं का बंध कर लेता है। अगर जीव की भावना अशुभ हुई तो अनन्त अशुभ परमाणुओं का और यदि शुभ हुई तो शुभ परमाणुओं का बंध होता है।

भावनाओं में अद्‌भुत शक्ति होती है—अर्थात् वह कल्पनातीत है। मनुष्य के मन की भावनाएँ अथवा विचार ही उसके जीवन का निर्माण करते हैं। प्रत्येक मनुष्य अपने विचारों का प्रतिबिम्ब होता है। निश्चयात्मक विचार से ही निर्माण शक्ति का विकास होता है। एक पश्चिमी विद्वान ने कहा भी है—

Great thoughts reduced to practice become great acts.

—हेज़लेट

—महान विचार कार्य रूप में परिणत होने पर महान कर्म बन जाते हैं।

विचारों का जीवन के साथ अत्यन्त घनिष्ट सम्बन्ध है। इसलिये यह समझ लेना अत्यावश्यक है कि विचार किस प्रकार अदृश्य रूप में काम करते हैं और उनसे किस प्रकार के परिणाम निकलते हैं। मनुष्य अनेकानेक पुस्तकें और ग्रन्थ पढ़कर समस्त ज्ञान अपने दिमाग में भर लेना चाहते हैं, किन्तु अपने अन्तःकरण को समझने का प्रयत्न नहीं करते। जिन विचारों का जीवन के उत्थान और पतन से घनिष्ठ सम्बन्ध है और जो अनन्त भविष्य के साथ भी सन्निकट का सम्बन्ध रखते हैं, उनके प्रति उदासीनता का भाव होना आश्चर्य और खेद की बात है।

हमारे विचारानुसार ही हमारे मानस-पटल पर आन्दोलन उत्पन्न होते हैं। वस्तुतः हमारा जीवन अपने ही विचारों के सांचे में ढलता है। दूषित और स्वार्थमय विचार मन में तुच्छ प्रकार के आन्दोलन उत्पन्न करते हैं। इसके विपरीत श्रेष्ठ विचार मन में उच्च प्रकार के आन्दोलन उत्पन्न करते हैं। तात्पर्य यही है कि जिस प्रकार के हमारे विचार होते हैं, उसी प्रकार का हमारे आन्तरिक शरीर का निर्माण होता है। उसी प्रकार की हम वाणी बोलते है और उसी प्रकार की क्रियाएँ करते हैं। इसीलिये कहा गया है—

यद् मनसा ध्यायति तद् वाचा वदति।
यद् वाचा वदति तत् कर्मणा करोति।
यत् करोति तत्फलमुत्पद्यते॥

तात्पर्य यही है कि हमारी समस्त प्रवृत्तियों का आधार हमारे मन के विचार ही हैं।

विश्व में अनेक प्रकार की शक्तियाँ विद्यमान हैं। एक विद्युत की शक्ति है जो महाकाय पर्वतों को खण्ड-खण्ड कर देती है। दूसरी एटम अर्थात् अणुशक्ति है जो विद्युत-शक्ति से भी अधिक प्रबल होती है क्योंकि वह विद्युत से अधिक सूक्ष्म होती है।

आज विज्ञान सिद्ध कर चुका है कि जो वस्तु जितनी अधिक सूक्ष्म होती है, वह उतनी ही अधिक शक्तिशालिनी होती है। पृथ्वी की अपेक्षा जल, जल की अपेक्षा वायु, वायु की अपेक्षा विद्युत और विद्युत की अपेक्षा 'ऐटम' अधिक सूक्ष्म एवं बलवान होता है।

इस सिद्धान्त के आधार पर जब हम विचारों के सम्बन्ध में सोचते हैं तो प्रतीत होता है कि विचार 'एटम' से भी अधिक सूक्ष्म हैं अतः उनकी शक्ति एटम से भी अधिक बलवान होनी चाहिए। क्योंकि विद्युत और एटम कितने भी सूक्ष्म या सूक्ष्मतर क्यों न हों, वे हैं तो भौतिक ही। भौतिक पदार्थों में स्वभावतः स्थूलता के अंश होते हैं। किन्तु विचार भौतिक पदार्थ नहीं हैं अतएव उनमें स्वभावतः सूक्ष्मता होती है। इस दृष्टिकोण से विचार करने पर स्पष्ट हो जाता है कि विचारों में ऐटम की अपेक्षा बहुत अधिक सूक्ष्मता है और यह सूक्ष्मता ही उन्हें अधिक शक्तिशाली बनाती है। स्वामी विवेकानन्द ने एक स्थान पर लिखा है :—

"अगर कोई मनुष्य गुफा में रहे और वहीं पर उच्च विचार करता हुआ मर जाय तो कुछ समय पश्चात वे विचार गुफा की दीवारें फाड़कर बाहर निकलेंगे और सब जगह छा जाएंगे तथा अन्त में सारे मानव समाज को प्रभावित कर देंगे। विचारों में इतनी अद्भुत शक्ति है।"

एक पाश्चात्य विद्वान ने भी कहा है—

"Guard well thy thoughts, our thoughts are heard in Heaven."

—यंग

—अपने विचारों की अच्छी तरह रक्षा करो, क्योंकि विचार स्वर्ग में सुने जाते हैं।

आज का मानव विचारों की इस शक्ति का अनुभव नहीं कर रहा है। इसका प्रथम कारण तो यह है कि उसे भौतिक पदार्थों के सम्बन्ध में चिन्तन और उसकी प्राप्ति के उपायों का अन्वेषण करने से ही इस ओर ध्यान देने का समय नहीं मिलता। दूसरे, सूक्ष्म वस्तु को जानने के लिये सूक्ष्म बुद्धि की आवश्यकता होती है। किन्तु सांसारिक भोग-पदार्थों में रत रहने के कारण आधुनिक युग के मनुष्य की बुद्धि स्थूल बन गई है। अतः स्थूलबुद्धि विचार-शक्ति को तोल ही नहीं पाती।

आध्यात्मिक विचारणा

हमारे ऋषियों और मुनियों ने भौतिक चिन्तन से ऊपर उठकर आध्यात्मिक विचारणा की। उस विचारणा का परिपाक होने पर उन्हें दिव्य-ज्ञान की उपलब्धि हुई। उस दिव्यज्ञान से उन्होंने विचार-शक्ति से भी अधिक सूक्ष्म एक और शक्ति का पता लगाया, जिसे आत्म-शक्ति कहा जाता है। किन्तु आज हमारी बुद्धि जब विचार शक्ति की महत्ता को समझने में ही असमर्थ है, तो वह आत्म-शक्ति का भान कैसे कर सकती है?

अध्यात्म ज्ञान को समझना बिरले महापुरुषों के लिए ही संभव है। जो पुरुष-पुंगव पहले विचारशक्ति को समझेगा वही आत्मशक्ति को समझने का अधिकारी बन सकेगा। विचारशक्ति की सूक्ष्मता बुद्धिगम्य होने पर ही आत्म-तत्त्व की सूक्ष्मता समझने की क्षमता आ सकती है। जहाँ विचार अपवित्र हैं, भावनाएँ कलुषित हैं और अन्तःकरण विकारों से परिपूर्ण है, वहाँ आत्म-तत्त्व को समझने का प्रश्न ही उपस्थित नहीं होता। एक छोटा-सा उदाहरण है।

किसी भौंरे ने गुबरीले से कहा—

"तुम देखने में मेरे जैसे ही लगते हो अतः तुम्हें गोबर का आहार और इसी में विहार करते देखकर मुझे बड़ा कष्ट होता है। अगर तुम मेरे साथ उद्यान में चलो तो वहाँ पुष्पों की मधुर गंध से तुम्हारा मन प्रफुल्लित हो जायेगा। फिर तुम इस गोबर की दुनिया में आने का कभी नाम भी न लोगे। मेरे साथ चलो। मैं तुम्हें तुम्हारे इस नरक से निकाल कर अपने स्वर्ग में ले चलता हूँ।"

गुबरीला आशंकित होकर बोला—"नहीं भाई! मेरे इस मोहनभोग से बढ़कर भी क्या कोई दिव्य पदार्थ इस पृथ्वी पर हो सकता है? जाओ! अपना काम करो, मैं मूर्ख नहीं हूँ जो तुम्हारी बातों में आ जाऊँगा।"

भौंरे ने उससे बहुत आग्रह किया और कहा—"अगर तुम्हें मेरा बाग पसन्द न आए तो लौट आना। मैं तुम्हें रोकूँगा नहीं। पर एक बार चलकर उसे देख तो लो।"

आखिर गुबरीले ने भौंरे का निमंत्रण स्वीकार कर लिया और चलने के लिये तैयार हो गया। पर चलने से पहले उसने तोशा लिया; और यह सोचकर कि भौंरे का उद्यान पसन्द तो क्या आने वाला है आखिर लौट तो आना ही है, वह भौंरे के साथ हो लिया।

दोनों पुष्पोद्यान में पहुँचे। भौंरा गुबरीले को तरह-तरह के खुशबूदार, सुन्दर तथा रंग-बिरंगे पुष्पों के पास ले गया तथा उसे अनेक तरह की मधुर गंधों का रसास्वादन कराने का प्रयत्न किया। किन्तु गुबरीले का उदास चेहरा तनिक भी प्रफुल्लित नहीं हो सका।

भौंरे को यह देखकर बड़ा आश्चर्य हुआ, पर उसे इसका कारण शीघ्र ही समझ में आ गया। वह बोला—"भाई ! ऐसा लगता है कि तुम्हें फूलों की ऐसी मधुर सौरभ का भी अनुभव नहीं हुआ। इसका कारण है तुम्हारा गले में गोबर की यह घुण्डी दबाए रहना। अगर इसे उगल दो तो तुम भी मेरी ही तरह फूलों की खुशबू ले सकोगे।'

कहने का अभिप्राय यही है कि जब तक हमारे विचारों में मलिनता है, मन भाँति-भाँति की कामनाओं से व्याकुल है, क्षुद्र से क्षुद्र घटना हृदय में क्रोध का संचार करती है, पर्याप्त वैभव से संतोष नहीं होता, अभिमान की लहरें उठती रहती हैं, मोह का अंधकार छाया हुआ है, हम विद्या, बुद्धि, धन, जन, बल, जाति, कुल और प्रभुत्व के नशे में चूर बने हुए हैं, बात-बात में झूठ, कपट का आश्रय लेते हैं और पराई उन्नति देखकर ईर्ष्या से जल उठते हैं, तब तक समझना चाहिए कि हमारे हृदय में अशुभ भावनाओं की घुण्डी बनी हुई है और ऐसी स्थिति में शास्त्राध्ययन का, धर्मोपदेश का तथा सत्संग का कोई असर नहीं हो सकता। अशुभ विचारों के कारण अध्यात्म तत्त्व को समझने जाकर भी हम कोरे के कोरे ही बने रहेंगे। बाहरी रूप, रंग और सुन्दर पहनावा हमारे किसी काम नहीं आएगा। किसी कवि ने बड़े सुन्दर शब्दों में कहा है—

> है गर्व तुम्हें जो अपनी धवल सफेदी का,
> वह मिथ्या है, छल है, घमंड है चेहरे का।
> रंगों का राजा तो है रंग भीतर वाला,
> बाहरी रंग तो द्वारपाल है पहरे का॥

बाग-डोर मोड़ो

प्रश्न उठता है कि मनुष्य-जीवन को सफल बनाने का उपाय क्या है ? किन साधनों से उसे सार्थक बनाया जा सकता है ?

इसके उत्तर में यही कहा जा सकता है कि मन की बाग-डोर फेर दो। शुभाशुभ विचारों का स्थान हमारा मन है। इसकी बागडोर तभी फिर सकती है, जबकि मन में कुविचारों के स्थान पर सुविचारों की स्थापना की जाए तथा अशुभ प्रवृत्तियों को त्यागकर शुभ प्रवृत्तियों के लिए उद्यत हुआ जाय। एक उर्दू कवि का कथन है :—

> गिरते हैं जब खयाल तो गिरता है आदमी।
> जिसने इन्हें संभाल लिया वो संभल गया॥

अशुभ भावनाओं को शुभ में परिणत करने और फिर उन्हें विशुद्ध रूप में लाने के लिए मन को साधने की अनिवार्य आवश्यकता है। वास्तव में साधना के जितने भी अंग हैं—व्रत, उपवास, तपश्चरण, यम, नियम आदि, इन सभी का प्रधान

आध्यात्मिक विचारणा

हमारे ऋषियों और मुनियों ने भौतिक चिन्तन से ऊपर उठकर आध्यात्मिक विचारणा की। उस विचारणा का परिपाक होने पर उन्हें दिव्य-ज्ञान की उपलब्धि हुई। उस दिव्यज्ञान से उन्होंने विचार-शक्ति से भी अधिक सूक्ष्म एक और शक्ति का पता लगाया, जिसे आत्म-शक्ति कहा जाता है। किन्तु आज हमारी बुद्धि जब विचार शक्ति की महत्ता को समझने में ही असमर्थ है, तो वह आत्म-शक्ति का भान कैसे कर सकती है?

अध्यात्म ज्ञान को समझना विरले महापुरुषों के लिए ही संभव है। जो पुरुष-पुंगव पहले विचारशक्ति को समझेगा वही आत्मशक्ति को समझने का अधिकारी बन सकेगा। विचारशक्ति की सूक्ष्मता बुद्धिगम्य होने पर ही आत्म-तत्त्व की सूक्ष्मता समझने की क्षमता आ सकती है। जहाँ विचार अपवित्र हैं, भावनाएँ कलुषित हैं और अन्तःकरण विकारों से परिपूर्ण है, वहाँ आत्म-तत्त्व को समझने का प्रश्न ही उपस्थित नहीं होता। एक छोटा-सा उदाहरण है।

किसी भौंरे ने गुबरीले से कहा—

"तुम देखने में मेरे जैसे ही लगते हो अतः तुम्हें गोबर का आहार और इसी में विहार करते देखकर मुझे बड़ा कष्ट होता है। अगर तुम मेरे साथ उद्यान में चलो तो वहाँ पुष्पों की मधुर गंध से तुम्हारा मन प्रफुल्लित हो जायेगा। फिर तुम इस गोबर की दुनिया में आने का कभी नाम भी न लोगे। मेरे साथ चलो। मैं तुम्हें तुम्हारे इस नरक से निकाल कर अपने स्वर्ग में ले चलता हूं।"

गुबरीला आशंकित होकर बोला—"नहीं भाई! मेरे इस मोहनभोग से बढ़कर भी क्या कोई दिव्य पदार्थ इस पृथ्वी पर हो सकता है? जाओ! अपना काम करो, मैं मूर्ख नहीं हूं जो तुम्हारी बातों में आ जाऊँगा।"

भौंरे ने उससे बहुत आग्रह किया और कहा—"अगर तुम्हें मेरा बाग पसन्द न आए तो लौट आना। मैं तुम्हें रोकूंगा नहीं। पर एक बार चलकर उसे देख तो लो।"

आखिर गुबरीले ने भौंरे का निमंत्रण स्वीकार कर लिया और चलने के लिये तैयार हो गया। पर चलने से पहले उसने तोशा लिया; और यह सोचकर कि भौंरे का उद्यान पसन्द तो क्या आने वाला है आखिर लौट तो आना ही है, वह भौंरे के साथ हो लिया।

दोनों पुष्पोद्यान में पहुंचे। भौंरा गुबरीले को तरह-तरह के खुशबूदार, सुन्दर तथा रंग-बिरंगे पुष्पों के पास ले गया तथा उसे अनेक तरह की मधुर गंधों का रसास्वादन कराने का प्रयत्न किया। किन्तु गुबरीले का उदास चेहरा तनिक भी प्रफुल्लित नहीं हो सका।

भौंरे को यह देखकर बड़ा आश्चर्य हुआ, पर उसे इसका कारण शीघ्र ही समझ में आ गया। वह बोला—"भाई! ऐसा लगता है कि तुम्हें फूलों की ऐसी मधुर सौरभ का भी अनुभव नहीं हुआ। इसका कारण है तुम्हारा गले में गोबर की यह घुण्डी दबाए रहना। अगर इसे उगल दो तो तुम भी मेरी ही तरह फूलों की खुशबू ले सकोगे।'

कहने का अभिप्राय यही है कि जब तक हमारे विचारों में मलिनता है, मन भाँति-भाँति की कामनाओं से व्याकुल है, क्षुद्र से क्षुद्र घटना हृदय में क्रोध का संचार करती है, पर्याप्त वैभव से संतोष नहीं होता, अभिमान की लहरें उठती रहती हैं, मोह का अंधकार छाया हुआ है, हम विद्या, बुद्धि, धन, जन, बल, जाति, कुल और प्रभुत्व के नशे में चूर बने हुए हैं, बात-बात में झूठ, कपट का आश्रय लेते हैं और पराई उन्नति देखकर ईर्ष्या से जल उठते हैं, तब तक समझना चाहिए कि हमारे हृदय में अशुभ भावनाओं की घुण्डी बनी हुई है और ऐसी स्थिति में शास्त्राध्ययन का, धर्मोपदेश का तथा सत्संग का कोई असर नहीं हो सकता। अशुभ विचारों के कारण अध्यात्म तत्त्व को समझने जाकर भी हम कोरे के कोरे ही बने रहेंगे। बाहरी रूप, रंग और सुन्दर पहनावा हमारे किसी काम नहीं आएगा। किसी कवि ने बड़े सुन्दर शब्दों में कहा है—

है गर्व तुम्हें जो अपनी धवल सफेदी का,
वह मिथ्या है, छल है, घमंड है चेहरे का।
रंगों का राजा तो है रंग भीतर वाला,
बाहरी रंग तो द्वारपाल है पहरे का॥

बाग-डोर मोड़ो

प्रश्न उठता है कि मनुष्य-जीवन को सफल बनाने का उपाय क्या है? किन साधनों से उसे सार्थक बनाया जा सकता है?

इसके उत्तर में यही कहा जा सकता है कि मन की बाग-डोर फेर दो। शुभाशुभ विचारों का स्थान हमारा मन है। इसकी बागडोर तभी फिर सकती है, जबकि मन में कुविचारों के स्थान पर सुविचारों की स्थापना की जाए तथा अशुभ प्रवृत्तियों को त्यागकर शुभ प्रवृत्तियों के लिए उद्यत हुआ जाय। एक उर्दू कवि का कथन है :—

गिरते हैं जब खयाल तो गिरता है आदमी।
जिसने इन्हें संभाल लिया वो संभल गया॥

अशुभ भावनाओं को शुभ में परिणत करने और फिर उन्हें विशुद्ध रूप में लाने के लिए मन को साधने की अनिवार्य आवश्यकता है। वास्तव में साधना के जितने भी अंग हैं—व्रत, उपवास, तपश्चरण, यम, नियम आदि, इन सभी का प्रधान

उद्देश्य मन का निग्रह करना है। इसीलिए सच्चा साधक सदा सजग रहकर मन को चेतावनी देता रहता है—

अरे मन ! संभल संभल पग धरिये……।

साधक के लिए सर्वप्रथम मन को वश में करना आवश्यक होता है। क्योंकि शरीर मन के द्वारा चलाया जाता है तथा वचन भी मन से ही प्रेरणा पाकर कार्य करता है। दोनों मन के अनुचर हैं। अपने आप में शारीरिक और वाचनिक साधना का कोई मूल्य नहीं होता; मूल्य तो मानसिक साधना का है। मन के सध जाने पर वचन और तन दोनों सध जाते हैं और मन न सधे तो इन दोनों के सधने से कोई लाभ नहीं होता। क्योंकि मन की शक्ति इतनी अधिक है कि वचन और तन के व्यापार के बिना ही केवल मन की प्रवृत्ति से ही जीव सातवें नरक तक की सामग्री जुटा लेता है। कहा भी है :—

मनसैव कृतं पापं, न वाण्या न कर्मणा।
येनैवालिंगिता कान्ता, तेनैवालिंगिता सुता॥

—मन के भाव से ही पाप माना जाता है, वचन या कर्म से नहीं। पत्नी और पुत्री के आलिंगन में भाव की ही भिन्नता है।

जो मनुष्य अशुद्ध विचारों का स्वामी बनकर अधर्म और अन्याय का पोषण करता है। दूसरे के अधिकारों का अपहरण करता है तथा दूसरों का अनिष्ट करने में लेशमात्र भी संकोच नहीं करता। वास्तव में देखा जाय तो वह अपना ही अनिष्ट करता है तथा अपने अधःपतन की सामग्री जुटाता है। कलुषित मन वाला अज्ञानी व्यक्ति आत्म-तत्त्व को नहीं समझ पाता, जबकि ज्ञानी व्यक्ति संसार में रहकर और सांसारिक पदार्थों का उपभोग करके भी उनसे अलिप्त रहता हुआ कालांतर में बंधन मुक्त हो जाता है। समयसार में बताया गया है :—

णाणी रागप्पजहो, सव्वदव्वेसु कम्ममज्झगदो।
णो लिप्पइ रजएण दु, कद्दममज्झे जहा कणयं॥
अण्णाणी पुण रत्तो, सव्वदव्वेसु कम्ममज्झगदो।
लिप्पदि कम्मरएण दु, कद्दममज्झे जहा लोहं॥

—कुन्दकुन्दाचार्य

अर्थात्—जिस प्रकार कीचड़ में पड़ा हुआ सोना कीचड़ से लिप्त नहीं होता, उसे जंग नहीं लगता है, उसी प्रकार ज्ञानी संसार के पदार्थ समूह में विरक्त होने के कारण कर्म करता हुआ भी कर्म से लिप्त नहीं होता।

किन्तु जिस प्रकार लोहा कीचड़ में पड़ कर विकृत हो जाता है, उसे जंग लग जाता है, उसी प्रकार अज्ञानी पदार्थों में राग-भाव रखने के कारण कर्म करते हुए विकृत हो जाता है, कर्म से लिप्त हो जाता है।

परिणाम यह होता है कि उसकी आत्मा कर्म-बन्धनों में जकड़ती चली जाती है और अनन्तानन्त पुण्यों के उदय से प्राप्त हुआ मानवभव व्यर्थ चला जाता है। प्राय: व्यक्ति एक-दूसरे की आलोचना करते समय कहते हैं—अमुक व्यक्ति अच्छा है और अमुक बुरा। लेकिन मनुष्य की अच्छाई और बुराई है क्या? वास्तव में मनुष्य के विचारों की अच्छाई और बुराई ही उसकी अच्छाई और बुराई है। बुरे विचारों से उत्पन्न होने वाला आचार मनुष्य को बुरा बनाता है तथा अच्छे विचारों से उत्पन्न होने वाला आचार व्यक्ति को अच्छा बना देता है। मनुष्य के मन के भाव ही उसके जीवन-क्षेत्र का निर्माण करते हैं। कहा जाता है—

कुटिलगतिः कुटिलमतिः कुटिलात्मा कुटिलशीलसम्पन्नः।
सर्वं पश्यति कुटिलं, कुटिलः कुटिलेन भावेन॥
सरलगतिः सरलमतिः सरलात्मा सरलशीलसम्पन्नः।
सर्वं पश्यति सरलं सरलः सरलेन भावेन॥

अर्थात्—दुर्जन व्यक्ति अपनी बुरी भावना के कारण वक्रगति, वक्रमति, दुष्टात्मा और निकृष्टशील से युक्त होकर सब प्राणियों को बुरा ही समझता है। इसके विपरीत एक सज्जन पुरुष अपने सरलतापूर्ण विचार के कारण सब को शुद्धगति, शुद्धमति, शुद्धात्मा और सुशील मानता है।

मनुष्य की प्रसन्नता का आधार भी उसके विचार हैं। दो व्यक्ति एक सरीखी परिस्थिति में होते हैं, किन्तु एक अपने विचारों की बदौलत विषाद, चिन्ता और परेशानी का अनुभव कर घुलता रहता है तथा दूसरा सदा प्रसन्नता का अनुभव करता हुआ गुनगुनाता रहता है। किसी ने सत्य कहा है—

बहुत से लोग बस अपने दुखों के गीत गाते हैं,
दिवाली हो कि होली हो, सदा मातम मनाते हैं।
मगर दुनिया उन्हीं की रागिनी पर झूमती हरदम–
कि जो जलती चिता पर बैठकर वीणा बजाते हैं॥

वास्तव में, सुख और दुःख की अनुभूति मन में होती है। मन में सुख न हो, मन में शांति न हो तो शरीर के सुखों का कुछ भी मूल्य नहीं रहता। प्रायः व्यक्ति दूसरों को सुखी मानते है और अपने आपको दु:खी, यह भावना गलत है। संसार की वास्तविकता क्या है, इस विषय पर विश्वकवि रवीन्द्रनाथ टैगोर ने कहा है—

नदीर ए पार कहे करमा पुकार,
जे शुख जगते शँ शकल ओ पारे।
ओ पार कहे छोड़मा दीर्घ श्वास,
शुखेर शकल खानी करे पार॥

—नदी का यह किनारा पुकार कर कहता है कि संसार में जितना भी सुख है

वह सबका सब दूसरे किनारे पर है, मैं ही दुखी हूँ और दूसरा किनारा भी निःश्वास लेकर कहता है कि सुख का भण्डार परले किनारे पर है, मेरे पास कुछ भी नहीं।

प्रायः मनुष्य निरर्थक ही अपने मन में उथल-पुथल मचाये रहते हैं तथा अपने विचारों को अपवित्र बनाते हैं। उन्हें यह विदित नहीं है कि प्रशस्त विचारों का परित्याग करके अप्रशस्त विचारों में रमण करने से प्राप्त तो कुछ होता नहीं, फिर क्यों अपने भविष्य को व्यर्थ ही बिगाड़ा जाय ? क्या एक व्यक्ति के सोचने से दूसरे का अनिष्ट हो जायेगा ? नहीं, दूसरे का इष्ट और अनिष्ट तो उसके विचारों पर निर्भर है। हाँ; दूसरे का अनिष्ट चाहने वाला अपध्यान करके स्वयं ही अपनी आत्मा को कलुषित कर लेगा। निरर्थक विचार जीवन के लिये घातक सिद्ध होते हैं। इसीलिये गुणज्ञ पुरुष मन की बागडोर को अशुभ से शुभ की ओर मोड़ने की प्रेरणा देते हैं।

हीनत्व त्यागो

यह सही है कि मन का स्वभाव चंचल है और उसकी चपलता असाधारण है। इसकी अस्थिरता के कारण क्षण-क्षण में मनुष्य के चेहरे पर भिन्न-भिन्न प्रकार के भाव आते और जाते रहते हैं। कभी उसका चेहरा प्रफुल्लता के कारण कांतियुक्त बन जाता है और कभी क्रोधावेश के कारण रुद्र के समान। कभी वह मधुर स्वर से गुनगुनाता है और कभी नेत्रों को रक्तवर्ण करके कटूक्तियाँ कहता है। जैसा कि कहा गया है—

जैसा यह मन भूत है, और न दुतिया बताल।
छिन में चढ़े अकास को, छिन में धँसे पताल।।
छिन में धँसे पताल होत छिन में कम जादा।
छिन में नगर निवास करे छिन बन का रादा।।
कह गिरधर कविराय बने छिन में वह ज्ञानी।
छिन में रचै कमाल रीति तेरी सब जानी।।

ऐसे मन का निग्रह करना अत्यन्त कठिन होता है, क्योंकि आत्मा से बाहर निकलने के उसने अनेक मार्ग बना रखे हैं। जब कोई व्यक्ति एक मार्ग बन्द करता है तो वह दूसरे मार्ग से बाहर निकल जाता है। इसमें अद्‌भुत मोहिनी शक्ति है। जो साधक इसे नियन्त्रण में रखकर अपने अधीन करना चाहते हैं वे इसकी मोहिनी शक्ति के वश में होकर स्वयं ही इसके अधीन हो जाते हैं।

किन्तु आध्यात्मिक साधना करने के इच्छुक साधकों को यह नहीं भूलना चाहिये कि मन कितना ही चपल, धृष्ट, बलवान और उद्दण्ड क्यों न हो, आखिर वह आत्मा की ही एक शक्ति है। वह आत्मा का स्वामी नहीं है, आत्मा उसका स्वामी है। अतएव आत्मा उसे नियंत्रण में अवश्य ला सकता है। आत्मा द्वारा प्रदत्त शक्ति को पाकर ही वह बलवान बना है तो आत्मा उसे अपने अधीन अवश्य कर सकता है।

जो व्यक्ति मनोनिग्रह को अशक्य कार्य समझते हैं और अपने आपको हीन मान-

कर उसे करने का प्रयत्न छोड़ देते हैं, वे बड़ी भूल करते हैं। हीनता के विचार मानव के सबसे प्रबल शत्रु हैं। जब तक ये मनुष्य के मस्तिष्क पर छाये रहते हैं तब तक जीवन में उच्चता का पनपना संभव नहीं होता। हीनत्व की भावना रखने वाला पुरुष उस हारे हुए मुसाफिर के समान साबित होता है, जो मार्ग में ही हिम्मत छोड़ देता है। एक उर्दू भाषा का कवि ऐसे व्यक्ति से सहानुभूति रखता हुआ कहता है—

हसरत पे उस मुसाफिरे बेकस की रोइये।
जो थक गया हो बैठ के मंजिल के सामने॥

जो व्यक्ति अपने में हीनता का अनुभव करता है वह हीन न होने पर भी धीरे-धीरे हीन बन जाता है। यद्यपि किसी भी प्राणी को हीन बनना अभीप्सित नहीं होता किन्तु हीनता के विचारों की जड़ें जब मानस में जम जाती हैं तब हीनत्व की विष-बेल पल्लवित हो उठती है।

मनुष्य के जीवन में परिस्थितियों का बड़ा महत्त्व है। उन पर कोई नियन्त्रण नहीं कर सकता और वे जब-तब अनुकूल और प्रतिकूल बनकर जीवन में उभरती रहती हैं। किन्तु मनुष्य को उनका दास नहीं, स्वामी बनना चाहिए। अगर व्यक्ति परिस्थिति की दासता स्वीकार कर लेता है तो वह अपना जीवन अपनी इच्छानुसार व्यतीत नहीं कर सकता, अपितु परिस्थिति उसे जैसे सांचे में ढाले, ढलना पड़ता है। परिस्थिति को अपनी चेरी बनाना एक कठोर साधना है किन्तु जो साधक इस साधना में सफल होता है वही अपने ध्येय को प्राप्त कर सकता है।

हीनता के मनोभावों से मनुष्य की असीम क्षमताएँ दब जाती हैं। वे मनुष्य को निराशा के कारागृह में डाल कर मन को लंगड़ा बना देते हैं और उस मन के लंगड़े व्यक्ति को असंख्य देवता मिलकर भी ऊँचा नहीं उठा पाते। इसीलिये किसी कवि ने मनुष्य को चेतावनी दी है—

ध्येय पाने को स्वयं पैर बढ़ाना होगा।
पथ के पत्थर को स्वयं दूर हटाना होगा॥
दूसरा कौन तेरे प्रश्न का उत्तर देगा?
अपने ही मन का तुझे दीप जलाना होगा॥

जो व्यक्ति अपनी क्षमता पर सदैव संदिग्ध बने रहते हैं वे अपने पैरों पर स्वयं कुल्हाड़ी मारते हैं। मैं शक्तिहीन हूं, यह कार्य सम्पन्न होना मेरे द्वारा संभव नहीं, ऐसे विचार मनुष्य की कार्यक्षमता को नष्ट कर देते हैं। अपनी क्षमता पर प्रत्येक को विश्वास होना चाहिए; अन्यथा वह फलप्रद नहीं बन सकती। विश्वास प्रयत्न में वेग भरता है, फलतः अशक्य कार्य भी शक्य बन जाता है।

हीनत्व की भावना जहां मनुष्य को प्रसुप्त व कार्यविरत बनाती है, वहां आत्म-विश्वास की भावना उसे प्रबुद्ध व कार्यरत बनाती है। अगर हम इतिहास के पन्ने पलटें तो ज्ञात होता है कि अनेकों ऐसे व्यक्ति, जिनके विषय में कभी किसी ने

कल्पना भी नहीं की थी, अपने विश्वासपूर्ण कृतित्व के बल पर चमके हैं। जैसे कि कहा गया है—

जीत ही उनको मिली, जो हार से जम कर लड़े हैं।
हार के भय से डिगे जो, वे धराशायी पड़े हैं॥
हर विजय संकल्प के पद पूजती देखी गई है।
वे किनारे ही बचे, जो सिन्धु को बांधे खड़े हैं॥

व्यक्ति जैसा चाहे वैसा बन सकता है किन्तु तब, जब उसे यह आत्म-विश्वास हो कि मैं जैसा चाहूँ वैसा बन सकता हूँ। सफलता का गगनचुम्बी भवन आत्म-विश्वास की सुदृढ़ नींव पर चुना जा सकता है, हीनत्व के रेगिस्तान में नहीं। इसलिए मन की चपलता अथवा प्रबलता से घबराकर हीनत्व और निराशा के सागर में डूबे रहना उचित नहीं है। लक्ष्य-प्राप्ति के लिए हीन-भावनाओं का परित्याग करना चाहिये।

मनस्वी बनो

मनुष्य के मन को जो भाए वह इष्ट होता है और जो नहीं भाता वह अनिष्ट कहलाता है। इष्ट की पहले कल्पना की जाती है, फिर पुरुषार्थ किया जाता है और तब कहीं सिद्धि हासिल होती है। यही क्रम अनिष्ट के लिए भी होता है। इष्ट-कल्पना पुरुषार्थ के द्वारा प्राणी को इष्ट की ओर ले जाती है तथा अनिष्ट कल्पना पुरुषार्थ को इष्ट की ओर मोड़ती है।

कल्पनाओं अथवा भावनाओं का मस्तिष्क व मन पर अद्भुत प्रभाव पड़ता है। कोई भी कल्पना ऐसी नहीं होती जो मनुष्य के मन व मस्तिष्क पर अपना प्रभाव डाले बिना ही समाप्त हो जाय तथा उसकी प्रवृत्ति पर कोई छाप छोड़े बिना चली जाय। इष्ट की कल्पना इष्ट को निमन्त्रण देती है और अनिष्ट की कल्पना अनिष्ट को। कहा भी है—

अमृतत्वं विषं याति सदैवामृत वेदनात्।
शत्रुर्मित्रत्वमायाति मित्रसंवित्तिवेदनात्॥

—योगवासिष्ठ

—सदा अमृत रूप से चिंतन करने से विष भी अमृत हो जाता है और सदा मित्रभाव से चिंतन करने से शत्रु भी मित्र हो जाता है।

प्रत्येक व्यक्ति इष्ट चाहता है अनिष्ट नहीं। फिर भी वह अनिष्ट चिंतन के सागर में डूबता-उतराता रहता है। इसका कारण क्या है? यही कि उसकी इष्ट कल्पना दृढ़ नहीं होती। जो व्यक्ति इष्ट कल्पना को पुष्ट बना लेगा उसके पास इष्ट अवश्य ही आएगा।

बहुत से व्यक्ति अपनी क्षमता का सही मूल्यांकन नहीं करते। फलतः वे अपने

प्रति उपेक्षाशील वन जाते हैं और विकास के प्रत्येक सुनहरे अवसर को ठुकरा देते हैं। ऐसे व्यक्ति जीवन में कभी भी सफलता प्राप्त नहीं कर पाते। उनके हीन मनोभावों से असीम क्षमताएँ कुंठित हो जाती हैं तथा कर्तृत्व-शक्ति का लोप हो जाता है। कोई भी लक्ष्य तभी फलित होता है जब मनुष्य तन्मयतापूर्वक उसके पीछे पड़ जाता है। इसके विपरीत अस्थिर बुद्धि वाला व्यक्ति असंख्य कार्यों को अपूर्ण छोड़कर अपनी अकर्मण्यता सावित करता है। अनेक कार्य अधूरे किये जा सकते हैं, किन्तु उनसे लाभ कुछ भी नहीं होता। वल्कि यह कहना अधिक संगत होगा कि अपूर्ण कार्य जीवन को अपूर्ण वना देते हैं।

आत्मोन्नति की आकांक्षा रखने वाले व्यक्ति के मार्ग में बाधाओं का आना स्वाभाविक है। उत्थान का पथ हास-परिहास का नहीं, वलिदान व उत्सर्ग का होता है। इस पर कायर और कापुरुष नहीं चल सकते, सिर्फ वे ही चल सकते हैं जो सिर पर कफन बाँध लेते हैं। उनके अन्तःकरण से सदा यही आवाज उठा करती है—

जिन्दगी पंथ है मंजिल की तरफ जाने का,
जिन्दगी गीत है मस्ती से सदा गाने का;
मौत आराम से सो जाने की बदनामी है,
जिन्दगी नाम है तूफान से टकराने का।

मनुष्य का सच्चा जीवन तव प्रारम्भ होता है जब वह यह अनुभव करता है कि शारीरिक जीवन अस्थिर है और इससे कभी स्थायी सन्तोष प्राप्त नहीं हो सकता। संसार में जितने भी महापुरुष हुए हैं, अपनी निस्पृहता, क्षमता, त्याग और वलिदान के आधार पर ही महान बने हैं। महानता वलिदान और साधना से प्रस्फुटित होती है, वह किसी से ली नहीं जाती और किसी पर थोपी नहीं जाती।

मनुष्य का शरीर कितना भी कृश और दुवला-पतला क्यों न हो, उसकी आत्मा दृढ़ होनी चाहिए। कमजोर आत्मा वाले व्यक्ति न अपनी प्रगति कर पाते हैं और न औरों को ही निर्द्वन्द्व बढ़ने देते हैं। किन्तु मनस्वी एवं उदार व्यक्ति न केवल स्वयं उन्नति करते हैं, अपितु औरों को भी उन्नति का अवसर प्रदान करते हैं। आधुनिक काल में हमारी जो सबसे वड़ी हानि हुई है, वह यही कि हमारा समग्र जीवन अनात्मवाद की लहरों में वह गया है। हम अपने आपको भूलकर तथा खोकर जगत को खोजने का प्रयत्न करने चले हैं। परिणाम यह हुआ कि न हम अपने आपको पा पाए और न जगत को ही पा सके। किसी उर्दू के कवि ने ठीक ही कहा है—

न खुदा ही मिला न विसाले सनम,
न इधर के रहे न उधर के रहे।

आज के वातावरण पर दृष्टिपात करने से ज्ञात होता है कि आज का मनुष्य एक कृत्रिम वातावरण में जी रहा है। उसके जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में वनावट दृष्टिगोचर होती है। सत्य को प्राप्त करने की उसे कोई जिज्ञासा, चिन्ता या लिप्सा नहीं

है। वह यह विचार नहीं करता कि हम अकस्मात नहीं उत्पन्न हो गये हैं। कहीं से आए हैं और कहीं जाने वाले हैं। हमारा पूर्वजन्म था और अगला जन्म भी होगा। आत्मा की आदि नहीं है और अन्त भी नहीं है, यह अजर-अमर और अक्षय है।

जो मनस्वी पुरुष इस सत्य को समझ लेते हैं तथा आत्मा के सच्चे स्वरूप की पहिचान कर लेते हैं, वे ही इस दुर्लभ मानव पर्याय को सार्थक बना सकते हैं। हमारे उपनिषद् साहित्य में स्पष्ट कहा गया है—

भिद्यन्ते हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्व संशयाः।
क्षीयन्ते चास्य कर्माणि, तस्मिनदृष्टे परावरे॥

अर्थात्—हृदय की सब गाँठें खुल जाती हैं, मन के सब संशय मिट जाते हैं, और साथ ही शुभ-अशुभ कर्म भी क्षीण हो जाते हैं, जब उस परम चैतन्य का अर्थात् आत्मा का ओर-छोर (पूर्ण स्वरूप) देख लिया जाता है।

आज के जीवन में जो भीरुता, संकीर्णता, परवशता, दीनता और अशांति का साम्राज्य है, उसका कारण जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में आत्म-विश्वास रहित और संशय-ग्रस्त होकर कार्य करना है। अविश्वासी पुरुष के लिए आत्म-प्राप्ति की बात तो दूर रही, वह सांसारिक पदार्थ भी प्राप्त नहीं कर सकता।

सफलता का रहस्य

सफलता मनुष्य के सत्प्रयत्न व सत्संकल्प में निहित है। जो साधक अपने ध्येय की प्राप्ति में सफल होना चाहता है, उसे दृढ़ संकल्प सहित साधना करनी होगी। जिसके मन में आत्म-विश्वास और दृढ़ता नहीं होती, उसका मन सदैव पारे की तरह चंचल रहता है। वह कभी इधर की सोचता है और कभी उधर की सोचता है, कभी एक राह पर चलता है और कभी दूसरी राह पर चल देता है। न तो उसके विचारों में स्थिरता आती है और न क्रियाओं में ही। इसके कारण, प्रथम तो वह एकनिष्ठ भाव से किसी साधना में तत्पर ही नहीं होता और अगर हो जाता है तो कभी उसे पूर्ण नहीं कर पाता। उसका मन अविश्वास की प्रचण्ड आँधी में रुई के समान इधर-उधर उड़ता रहता है।

अधिकांश व्यक्ति ऐसे होते हैं जो कार्य प्रारम्भ कर देते हैं किन्तु तनिक सी असफलता प्राप्त होते ही उनका उत्साह-दुर्ग ढह जाता है। वे भूल जाते हैं कि सफलता चाहने वाले को कभी असफलता भी हाथ लग सकती है। घुड़सवारी सीखने वाला व्यक्ति गिर भी सकता है। ध्रुव-संकल्प के अभाव में ध्येय सिद्धि की आकांक्षा कभी पूर्ण नहीं होती। युगपुरुष महात्मा गांधी ने भी कहा है—

An abiding vow is like a fortress affording protection against dangerous temptation. It cures one of weakness and vacillation.

दृढ़ संकल्प एक गढ़ के समान है जो कि भयंकर प्रलोभनों से हमको बचाता है, दुर्बल और डाँवाडोल होने से हमारी रक्षा करता है।

वही मानव समाज में आदरणीय और वंदनीय होता है, जिसकी आस्था और दृढ़ता भीषण से भीषण आपत्तियाँ आने पर भी कभी नहीं डोलती।

सर थामस ने अपने जीवन के अनेक वर्ष जेल-यातना भुगतते हुए व्यतीत किये, किन्तु राजा को इससे भी सन्तोष नहीं हुआ और उसने थामस को फाँसी का हुक्म सुना दिया।

सर थामस का एक मित्र यह समाचार लेकर उनके पास आया कि कल उन्हें फाँसी दी जाएगी। यह समाचार सुनकर भी थामस किंचित्‌मात्र भी विचलित नहीं हुए। यहाँ तक कि मृत्यु-दंड देने वाले राजा पर भी उन्होंने कोई आक्षेप नहीं लगाया।

थामस ने मित्र से कहा—आपने मुझ पर समय-समय पर जो उपकार किया तथा मुझे उच्चपद व सन्मान दिया उसके लिए मैं आपका कृतज्ञ हूँ। तथा उससे भी अधिक कृतज्ञ राजा का हूँ जिन्होंने मुझे जेल में रखा और मैंने इस एकान्त स्थल का लाभ उठाया। इस एकान्तवास में रहने से मैं सांसारिक जंजालों से मुक्त रहा और अपना अधिक से अधिक समय प्रभु की उपासना में लगा सका। यहाँ मुझे सहज ही चिन्तन और मनन का सुअवसर मिला है, उसके लिए मैं राजा का बहुत ही आभारी हूँ।

सर थामस के पास कुछ रुपये बचे हुए थे, उनसे एक अत्यन्त सुन्दर प्रतिमा खरीदकर उन्होंने जल्लाद को भेंट की और अपूर्व बलिदान का सुन्दर उदाहरण प्रस्तुत करते हुए वह वीर, शान्त और प्रभु का सच्चा उपासक इस संसार से चला गया।

कहने का अभिप्राय यही है कि मनुष्य प्रत्येक परिस्थिति में अपने मन को अडोल रखे। उपासकदशांगसूत्र में कामदेव श्रावक का वर्णन आया है। देवता ने उसे विचलित करने के लिए नाना प्रयत्न किये। भयानक से भयानक धमकियाँ दीं और फिर उन धमकियों को कार्य रूप में परिणत करके भी दिखा दिया। किन्तु कामदेव अपने सत्पथ से तिलमात्र भी च्युत नहीं हुआ।

इस प्रकार की अटलता जब मनुष्य में उत्पन्न होगी तभी वह जीवन में सफलता हासिल कर सकेगा। जिसका संकल्प प्रबल और प्रखर होता है, वही सफलता के सन्निकट पहुँचता है। ऐसा व्यक्ति कभी अधीर नहीं होता और मन को भी कभी अस्तव्यस्त नहीं होने देता।

बन्धुओ! मानव-जीवन सांसारिक जीव की सर्वश्रेष्ठ अवस्था है। इस महान जीवन को पाकर आप क्या बनना चाहते हैं? किस प्रकार इसका उपयोग करना

चाहते हैं ? किस तरह इसे सार्थक और सफल बनाना चाहते हैं ? इसका निर्णय आपको भगवान महावीर की वाणी स्मरण करते हुए शीघ्र ही कर लेना है—

समयं गोयम ! मा पमायए ।

—हे गौतम ! पल भर भी प्रमाद मत करो !

क्षण-क्षण करके नदी के प्रवाह की तरह जीवन चला जा रहा है, निमेषमात्र भी ठहरता नहीं है । असंख्य योनियों में अनन्तकाल बिता देने के पश्चात् इस क्षणिक मानव-पर्याय में भी अगर हमारे कदम डगमगा गए तो इसे प्राप्त करने का क्या लाभ हो सकेगा ? इसका ध्यान रखते हुए हमें अपना प्रत्येक कदम सावधानी से रखना है तथा दृढ़संकल्प एवं अदम्य उत्साहपूर्वक आत्मोत्थान के मार्ग पर बढ़ना है । तभी हम अपने लक्ष्य की प्राप्ति में सफल हो सकेंगे तथा आत्म-साक्षात्कार करके अनन्त एवं अव्याबाध सुख को प्राप्त कर सकेंगे । □

7
प्रगति की पहचान

उपस्थित आत्मबन्धुओ,

मानव के मन की अनादिकालीन कामना यही रही है कि वह अपने कदम प्रगति की ओर बढ़ाये। चाहे उसका विद्यार्थी जीवन हो, चाहे व्यवसायी का, चाहे कलाकार का अथवा साधक का, वह चाहता यही है कि उसका निरन्तर विकास होता रहे और कदम बढ़ते रहें।

गति की दिशा

हमें देखना यह है कि गतिशील प्राणी की गति हो किस ओर रही है? उसके कदम उन्नति की ओर बढ़ रहे हैं या अवनति की ओर? प्रगति तभी प्रशंसनीय होती है, जबकि वह औचित्य लिए हुए हो तथा उच्च उद्देश्य की ओर हो। अगर प्रगति उत्तम लक्ष्य की ओर न हो, उलटे हीन उद्देश्य की ओर हो रही हो या कि निरुद्देश्य ही मानव गति करता चला जा रहा हो तो उस गति को कुगति अथवा अगति की श्रेणी में रखा जाएगा। इसके अलावा गति करने वाले का पुरुषार्थ उसके लिए अहित-कर एवं आपत्ति का कारण बनेगा। जैसे—खरोटी नामक कीड़ा निरन्तर अपने मुंह से लार निकालता है और उसे अपने चारों ओर लपेटता रहता है। वही लार रेशम के धागे के रूप में परिणत हो जाता है जबकि उस कीड़े को रेशम बनाने की फैक्टरियों में गरम-गरम पानी में उबाला जाता है। हमने जम्मू में देखा था कि ढेरों ऐसे कीड़े उबलते जल की कड़ाहियों में डाल दिये जाते हैं और उन पर लिपटी हुई लार जो रेशम के तागे बनती है, उसके एक छोर को पकड़ कर खींचा जाता है। करीब चवालीस गज धागा खरोटी के ऊपर से उतरता है और उसके उतर जाने पर मृत जीव को फेंक दिया जाता है।

कहने का आशय यह है कि 'खरोटी' कीड़ा निरन्तर पुरुषार्थ करता है और उसके फलस्वरूप अपने शरीर पर कई गज धागा लपेट लेता है, किन्तु उसका वही पुरुषार्थ उसकी मृत्यु का कारण बनता है। दूसरे शब्दों में उसका पुरुषार्थ उसी के लिए संकट को निमंत्रण देता है।

नादिरशाह के विषय में आपने कभी सुना होगा कि वह जाति का गड़रिया

था तथा अपार साहस और बल का धनी था। अपने इन्हीं गुणों से पहले वह डाकू बना फिर डाकुओं का सरदार और उसके बाद धीरे-धीरे ईरान की गद्दी पर कब्जा करके उस पर बैठ गया। पर क्या सुलतान बनकर उसने कोई नेक काम किया ? नहीं, दिल्ली पर आक्रमण करके उसने कत्लेआम किया तथा एक दिन में करीब डेढ़ लाख आदमियों का खून बहा दिया। दिल्ली को उसने उजाड़ बना दिया तथा भवन-निर्माण कला के कारीगरों को पकड़ कर ईरान ले गया।

हिटलर भी जर्मन-सेना में एक छोटा-सा सैनिक था। धीरे-धीरे तरक्की करते हुए एक दिन वह वहाँ का डिक्टेटर बन गया पर वह भी बड़ा क्रूर एवं निर्दय शासक था। वह सोचता था कि पहले महायुद्ध में जर्मनी यहूदियों के कारण पराजित हुआ था अतः उसने यहूदियों की अगली पीढ़ी से ही प्रतिशोध लेने का हृदयहीन निर्णय किया तथा लगभग पचास या साठ लाख यहूदियों को विषैली गैस के द्वारा दम घुटवा कर मरवा डाला। इस प्रकार के अनेक उदाहरण हिटलर की नृशंसता को बताते हैं तथा इतिहास के पृष्ठों को काला किये हुए हैं।

ऐसे उदाहरणों से स्पष्ट हो जाता है कि व्यक्ति प्रगति तो करता है, किन्तु वह अन्य प्राणियों के लिए अहितकर तथा कष्टकर साबित होती है। परिणाम यह होता है कि वह व्यक्ति इस लोक में सभी की घृणा का पात्र बनता है, अपने चारों ओर विरोधी वातावरण बना लेता है तथा अपनी आत्मा को अनेकानेक कर्मों से जकड़ कर अगले जन्मों में भी कुगतियों को प्राप्त होता हुआ नाना प्रकार के कष्ट भोगता है। जीवन भर श्रम या पुरुषार्थ करते हुए भी वह व्यक्ति क्योंकि विपरीत दिशा में बढ़ता है या कि गति करता है अतः उसे उत्तम फल की अथवा उत्तम लक्ष्य की प्राप्ति नहीं हो पाती।

श्री उत्तराध्ययनसूत्र में कहा गया है—

पदुट्ठचित्तो च चिणाइ कम्मं,
जं से पुणो होइ दुहं विवागे।

—आत्मा प्रदुष्टचित्त यानी राग एवं द्वेषादि से कलुषित बनकर कर्मबंधन करती है और वे कर्म विपाक में यानी परिणाम में आने पर अत्यन्त दुखदायी साबित होते हैं।

कहने का अभिप्राय यही है कि जो व्यक्ति मानवोचित गुणों को न अपनाकर मानवता का हनन करने वाले दुर्गुणों को हृदय में स्थान देते हैं वे जीवन में गति तो करते रहते हैं किन्तु वह सही दिशा में नहीं होती और सुफल प्रदान करने के बदले कुफल-प्रदायी बन जाती है। इस प्रकार चारों गतियों में से सर्वश्रेष्ठ मनुष्य गति या मनुष्य-जीवन पाकर भी व्यक्ति उसे निरर्थक गँवा देते हैं।

एक पंजाबी कवि ने अपनी कविता में भी बताया है कि भगवान ने जिस मनुष्य को अपनी सर्वोत्कृष्ट एवं सुन्दर कृति बनाकर दिव्य मानव-जीवन प्रदान करते

हुए इस पृथ्वी पर भेजा, वह इसी आशा से कि वह उत्तम कर्म करके उसके श्रम को सार्थक करे तथा पृथ्वी के अन्य समस्त प्राणियों को सुख एवं शांति पहुँचाते हुए वहीं स्वर्ग का निर्माण करे। किन्तु परमात्मा की आशा के विपरीत मनुष्य क्या बन गया और किस प्रकार उसने अपने सर्वोत्तम जीवन का दुरुपयोग किया है। उसका जीवन देखकर भगवान हैरान-परेशान होकर कहते हैं :—

मैं तेनूं की बनाया तू की बन गया ए।
तूं अज होर दा होर इ बन गया ए।
तेरा दिल सी मैं फुल्ला तों नाजुक बनाया,
उसदे विच सी दर्श दा अहसास पाया।
तेरे तन च बुद्धि दा दीवा जगाया।
मुहब्बत दे नाल इक फुहारा सी लाया।
तेरे नाल गडया मैं यारा दा रिश्ता।
कि लगा करन इश्क हरेक फरिश्ता।

परमात्मा बड़े दुःख से कह रहे हैं:—"ओ बंदे! मैंने कितनी तमन्ना, कितने उत्साह और कितनी लगन से तेरा निर्माण किया था तथा न जाने कितनी आशाओं को लेकर तुझे मनुष्य बनाया था; किन्तु तू तो आकृति मात्र से ही मनुष्य रहा और प्रकृति से कुछ और ही बन गया।"

आगे कहते हैं:—"अरे मानव! मैंने तेरे दिल को फूलों से भी कोमल रूप दिया तथा उसमें भक्ति, करुणा एवं दया आदि की खुशबू बसाई। इतना ही नहीं मैंने तेरे मस्तिष्क में सुबुद्धि का दीपक जलाकर उसे आलोकित किया तथा प्रेम व मुहब्बत रूपी किरणों का उज्ज्वल प्रकाश भर दिया। मैंने तुझे ही अपनी अनुपम कृति मानकर तुझसे असीम प्यार का रिश्ता जोड़ा और यह देखकर प्रत्येक फरिश्ता तुझे चाहने लग गया। किन्तुः—

तूं अज की बन्दया फड़े उल्ट चाले।
तेरे अमल वे हो गये नेमस्यां तो काले।
तेरे हत्थ विच छुरियां कुहाड़े ते भाले।
ते तूं आन्डी-गवांडी दा दिल छाले।

तेरा हाल तक-तक के मैं दुखी हो रहा ए।
तेरी अक्ल उत्ते लट्टू हो रहा ए।
तूं बन बैठा ए रस्मां ते रीतां दा कैदी।
तूं बनाया ए मुहब्बत ते प्रीतां दा कैदी।

भगवान कहते हैं:—"अरे बंदे! मैंने तुझे सुबुद्धि प्रदान की, किन्तु तू उल्टा ही चल रहा है और तेरे कर्म स्याही से भी काले हो गये हैं। मेरे द्वारा पुष्पों से भी

कोमल हृदय पाकर तूने उसे पत्थर जैसा कठोर बना लिया है तथा हाथों में छुरियाँ और कुल्हाड़े लेकर अपने आस-पास के लोगों के दिलों को छीलना शुरू कर दिया है।"

"मैं तेरा यह हाल देख-देखकर अत्यन्त दुखी हो गया हूँ तथा तेरी अक्ल पर तरस खा रहा हूँ। पुराने रीति-रिवाजों और रूढ़ियों को पकड़कर तूने जो कट्टरता अपना रखी है उसके कारण तू प्रेम-मुहब्बत का पाठ तो भूल ही गया है। तनिक मुझे बता तो सही कि:—

तू कदे वी कोई रोंदा हंसादा ई दस्स खाँ ?
कदे कोई डिगदा उठाया ई दस्स खां ?
कदे कोई रूढ़दा बचाया ई दस्स खां ?
कदे कोई रूठा मनाया ई दस्स खां ?
कदे कोई अपना बनाया ई दस्स खां ?
कदे कोई भुक्खा रजाया ई दस्स खां ?
जे हत्थों तू फट किसे दा नहीं सीता।
ते निरी माला फेरी ते कख नहीं कीता।
तू फूल बनके बागां च रौनक लगा दे।
तूं सह नोक कंडे दी खुशबू बटा दे!
तेरा जग विच आवन दा मकसद ए बन्दया,
तू बन्दा बन्दगी करना वीं तेरा कम्म ई बन्दया।

ईश्वर ने आज के मनुष्य से पूछा है:—"क्या तूने आज तक किसी रोते हुए प्राणी को हँसाया है ? किसी गिरते हुए को उठाया है ? किसी मार्ग भ्रष्ट प्राणी को तूने मार्ग दिखाया है तथा किसी रूठे हुए को मनाया है ? क्या कभी तूने पराये को अपना बनाया है और भूखे को अन्न देकर तृप्त किया है ?"

"तूने किसी के टूटे हुए दिल को कभी जोड़ने की कोशिश नहीं की और न ही आज तक कोई उत्तम कार्य सम्पन्न किया है। इस स्थिति में मैं तो कहता हूँ कि अब तक ये असंख्य मालाएँ फेरकर भी तू कोरा का कोरा ही रहा है, कुछ भी हासिल नहीं कर सका है। इसलिए मैं अब भी तुझे यही कहता हूँ कि इस संसार-रूपी बगीचे में तू फूल बनकर संतप्त प्राणियों के लिये अपने उत्तम कर्मों की सुगंध फैला दे तथा उन समस्त जीवों के मुर्झाये हुए चेहरों पर रौनक ला दे। तू स्वयं संकट और दुःख-रूपी काँटों की चुभन को बर्दाश्त करले पर औरों के दिलों को मत दुखने दे। हे बंदे ! इस संसार में आने का तेरा यही उद्देश्य है और यही बंदगी है जिसके द्वारा तू जीवन का लाभ उठा सकता है।"

बंधुओ ! अपनी सुन्दर कविता में कवि ने परमात्मा के द्वारा किये गये मानव के तिरस्कार-पूर्ण शब्दों की कल्पना करके वस्तुतः आज के मनुष्य की सही स्थिति का वर्णन किया है। आज का मानव अपनी समझ में प्रगति कर रहा है। वह धन अधिक

कमा लेता है, ख्याति बढ़ा लेता है तथा अपनी विद्वत्ता का सिक्का भी औरों पर जमा देता है। किन्तु इन सबके पीछे उसकी जो भावनाएँ काम करती हैं वे आत्मा को उन्नत बनाने की बजाय अवनति की ओर ले जाती हैं। क्योंकि उसके मन में दम्भ, स्वार्थ, द्वेष, पक्षपात, होड़ एवं लोभ की भावनाएँ छिपी रहती हैं। मनुष्य केवल इसी बात में अपनी प्रगति मानता है कि वह अधिक से अधिक भौतिक सुविधा के साधन जुटाले तथा संसार के समक्ष धनी, विद्वान या नेता के रूप में ख्याति प्राप्त करले। वह यह कभी नहीं देखता कि ये सब बाह्य उपलब्धियाँ उसके मानस को उज्ज्वल बना रही हैं या नहीं? दूसरे शब्दों में आत्मा को संसार-मुक्ति के प्रशस्त पथ पर अग्रसर कर रही हैं या नहीं?

प्रगति का सही अर्थ

ध्यान में रखने की बात है कि मनुष्य की प्रगति धन बढ़ा लेने में, प्रसिद्धि प्राप्त करने में, भौतिक ज्ञान प्राप्त करके विद्वान कहलाने में अथवा नेता बन जाने में नहीं है अपितु आत्मिक गुणों की वृद्धि करने में है। भले ही मनुष्य का शरीर कमजोर हो, किन्तु उसकी आत्मा सशक्त होनी चाहिये; उसका मकान छोटा हो पर हृदय विशाल होना चाहिए। मन में अहंकार के स्थान पर पर-गुण-प्रशंसा का भाव तथा स्वार्थ के बजाय परोपकार की भावना होनी चाहिये। इसी प्रकार प्रतिशोध की इच्छा के स्थान पर अपने अनुचित व्यवहार के लिये पश्चात्ताप एवं क्षमा का भाव और अनीति के स्थान पर नेकनीयती व ईमानदारी होनी चाहिये। सबसे महत्त्वपूर्ण बात तो एक यह है कि आज का व्यक्ति धन के लिये, या ख्याति के लिये होड़ करता है तथा अन्य लोगों को पीछे छोड़ने के प्रयत्न में लगा रहता है। पर विचार करने की बात तो यह है कि क्या होड़ इन्हीं बातों के लिये करनी चाहिये? नहीं, होड़ की जानी चाहिए आत्म-ज्ञान की प्राप्ति में, होड़ की जानी चाहिये त्याग-वृत्ति को बढ़ाने में, होड़ की जानी चाहिये बारहों प्रकार के तपाचरण में और होड़ की जानी चाहिये आत्मा के सद्गुणों का संग्रह करने में। ऐसा करने पर ही या कि इन सबके लिये प्रयत्न करने पर ही उसकी गति विकास की ओर होगी और वह विकास प्रगति कहलायेगा।

तो बंधुओ! मनुष्य को वास्तविक प्रगति करनी चाहिये और वह तभी हो सकती है जबकि वह कृत-संकल्प होकर सत्प्रयत्न में जुट जाय। उसे अपना उत्थान औरों के पतन में नहीं देखना है तथा अपनी भलाई औरों की बुराई में नहीं। संसार के अन्य प्राणियों के प्रति सद्भावना रखने से उसकी आत्मा ऊँची उठेगी और उन सबकी भलाई करने से उसकी प्रगति स्वयं होती रहेगी। स्नेह देने से सम्मान स्वयं मिलेगा तथा त्याग से आत्मिक उपलब्धियाँ चरण चूमेंगी।

प्रकृति का अद्भुत् नियम

वास्तव में ही प्रकृति के नियम बड़े अजीब होते हैं। जो व्यक्ति देता है उसे देने के बदले में अनेक गुना अधिक प्राप्त होता है। दान देने से पुण्य की प्राप्ति हो

जाती है तथा तपस्या करने से कर्मों की निर्जरा हो चलती है। व्यक्ति अगर किसी को क्षमा करता है तो उसे आदर मिल जाता है तथा स्नेह देता है तो औरों का विश्वास पा लेता है। संक्षेप में, कोई भी उत्तम कार्य किया जाय, उससे किसी न किसी प्रकार की उपलब्धि अवश्य होती है। इसीलिये बुद्धिमान व्यक्ति थोड़ा देकर भी अनेक गुना लाभ हासिल करता है। प्रगति का यही रहस्य है। जो भव्य प्राणी अपनी प्रगति चाहता है वह अपने लिये कुछ नहीं करता क्योंकि उसमें अपना नुकसान मानता है। वह जो कुछ करता है औरों के लिये करने लगता है ताकि बदले में अधिक मिल सके।

आत्मा का हनन नहीं करूंगा !

एक बार हसीदी धर्म गुरु बालशेम से लोगों ने कहा—"गुरुदेव! आप अपने शिष्य यही-एल-मिखाल को आज्ञा दीजिये कि वे हमारा गुरुपद स्वीकार करें। हमारी प्रार्थना को तो उन्होंने ठुकरा दिया है।"

बालशेम ने मिखाल को बुलाकर कहा—"मेरे आदेश पर तुम गुरुपद स्वीकार कर लो अन्यथा मेरी आज्ञा के उल्लंघन से तुम्हारा इहलोक और परलोक दोनों ही बिगड़ जाएंगे।"

मिखाल ने बड़ी नम्रता से उत्तर दिया—"भगवन्! भले ही ऐसा हो जाय, किन्तु मैं जिस पद के अयोग्य हूँ उसे ग्रहण करके अपनी आत्मा को गिराना नहीं चाहता।"

बंधुओ! आत्मा के उत्थान और पतन का इस प्रकार ध्यान रखने वाले व्यक्ति ही सांसारिक प्रलोभनों से बचते हैं तथा अन्तर्मानस को उज्ज्वल बनाते हुए प्रगति के पथ पर अग्रसर हो चलते हैं। □

8

उन्नति या अवनति ?

उपस्थित आत्मबंधुओ !

इस वर्तमान युग में मानव उन्नति कर रहा है या अवनति की ओर अग्रसर हो रहा है ? यह प्रश्न बड़ा ही उलझन भरा और जटिल है। अगर हम आज के व्यक्तियों से यह कहते हैं कि मनुष्य अवनति करता चला जा रहा है तो उनके कान खड़े हो जाते हैं और वे संशय तथा अविश्वास से हमारी ओर देखने लगते हैं। पर अगर कोई यह कह देता है कि मानव निरंतर उन्नति या प्रगति कर रहा है तो हमारी आत्मा इसे स्वीकार नहीं करती। स्पष्ट है कि इस विषय पर चिंतन की बड़ी आवश्यकता है और इसीलिए मैं अपने विचार आपके सामने रख रही हूँ ताकि इन पर गहराई से दृष्टिपात करते हुए आप स्वयं ही सही निर्णय कर सकें।

सर्वश्रेष्ठ प्राणी

आज के युग को लोग विज्ञान का अथवा प्रगति का युग कहते हैं तथा विज्ञान की असाधारण शक्ति या चमत्कार का लोहा मानते हुए दाँतों तले अंगुलि दबा लेते हैं। सभी यह सोचते हैं कि मनुष्य एक साधारण कोटि का ही प्राणी है क्योंकि उसमें शेर के समान बल नहीं है, हाथी के समान विशाल शरीर नहीं है, बैलों और घोड़ों के समान भार-वहन की ताकत नहीं है तथा पक्षियों के समान आकाश-मंडल में निर्बाध उड़ने की क्षमता नहीं है। फिर भी वह इन सबको परास्त करके भगवान के बाद अतिश्रेष्ठ एवं शक्ति सम्पन्न साबित हो गया, इसका कारण क्या है ? उत्तर में कोई भी समझदार व्यक्ति सहज ही कह सकता है कि मनुष्य के पास असाधारण मस्तिष्क है, जिसके द्वारा अनेकानेक नवीनतम साधनों का आविष्कार करके उसने पृथ्वी पर होने वाले अत्यधिक बलशाली पशु-पक्षियों पर विजय प्राप्त करली है।

अपने मस्तिष्क के बल पर ही उसने सिंह के समान शक्तिशाली प्राणी को पिंजरे में कैद कर लिया तथा डंडे के बल पर उससे सर्कस में खेल करवाकर लोगों के मनोरंजन का साधन जुटाया। विशालकाय हाथी को अंकुश से डराकर सवारी के काम में लिया तथा घोड़ों और बैलों को तांगों व गाड़ियों में जोतकर सैकड़ों मन वजन इधर से उधर ले जाने का लाभ उठाया। इस प्रकार मनुष्य ने पृथ्वी के समस्त प्राणियों पर अपनी श्रेष्ठता का सिक्का जमा लिया।

असाधारण मस्तिष्क का धनी

अपने मस्तिष्क की असाधारण शक्ति के द्वारा मनुष्य ने न केवल पृथ्वी पर रहने वाले अन्य समस्त प्राणियों पर विजय ही प्राप्त की है, अपितु अग्नि, जल, वायु एवं पृथ्वी आदि तत्त्वों की सहायता से ऐसे-ऐसे आविष्कार किये हैं जिनके विषय में पहले सोचा भी नहीं जा सकता था। वह वायुयानों का निर्माण करके हजारों पक्षियों की सम्मिलित गति से भी अधिक तेजी से आकाश में गमन करता है। पृथ्वी के एक छोर पर की हुई ध्वनि को पृथ्वी के दूसरे छोर पर बैठा हुआ ध्वनि विस्तारक यन्त्र से सुन लेता है। मीलों गहरे सागर में गोते लगाकर उसकी तह में पहुँच जाता है तथा दूर-दर्शक यंत्रों के द्वारा यहाँ बैठा-बैठा चन्द्रादि ग्रहों के अन्दर झाँक लेता है।

अमेरिका में प्रातःकाल जो घास होती है वह छः बजे से नौ बजे तक के बीच में मशीनों के द्वारा कागज के रूप में और तत्पश्चात् प्रेस में छपकर अखबारों के रूप में लोगों के सामने आ जाती है। केवल तीन घण्टे में घास का अखबार के रूप में आ जाना कितने आश्चर्य की बात है ?

अमेरिका के ही एक वैज्ञानिक ने ऐसी गोलियों का आविष्कार किया है जो २-४ चूस ली जायँ तो फिर भोजन करने की आवश्यकता नहीं रहती।

एक रूसी इंजीनियर ने ऐसे जूतों का निर्माण किया है, जिनके द्वारा मनुष्य पानी पर चल सकता है, उसमें डूबता नहीं। वे जूते अपने आप खुल जाने वाली छतरी के समान होते हैं जिन्हें पहनकर पानी पर उतरते ही वे छतरीनुमा जूते खुल जाते हैं तथा जब कदम उठता है तब वे बन्द हो जाते हैं। बन्द होने पर जूतों के भीतर हवा की परत बन जाती है जिसके कारण उन्हें पहनने वाला व्यक्ति पानी में डूब नहीं पाता।

एक और भी चमत्कारिक आविष्कार है कि अमेरिका में एक ऐसे मकान का निर्माण किया गया है जिसमें चार यन्त्र लगे हैं—पहला यन्त्र चालू करने पर मकान में वायु भर जाती है, दूसरा यन्त्र खोलने पर बादल बन जाते हैं, तीसरे यन्त्र से बिजली चमकती है और चौथे से पानी बरसने लग जाता है।

और तो और अपने दिमाग की असाधारण बुद्धि के द्वारा एक फ्रांसीसी डॉक्टर 'गेगनान' ने काँच के बक्स में प्लास्टिक की थैली के अन्दर एक बच्चे को पैदा किया।

बंधुओ, इस आधुनिक युग में हो रहे विज्ञान के अनेकानेक अद्भुत आविष्कारों के विषय में कहाँ तक बताया जाय ? आप स्वयं ही अपने चारों ओर बिखरी हुई वस्तुओं के द्वारा जान सकते हैं कि मानव ने अपनी सर्वश्रेष्ठ बुद्धि के द्वारा भौतिक सुख-सुविधा के लिए क्या-क्या किया है ? विशालकाय कल-कारखानों और बृहत् बाँधों के द्वारा लोगों के लिए सुख-प्राप्ति के साधन जुटाये हैं। यह सब उसके

असाधारण मस्तिष्क की उपज ही है। मैंने एक स्थान पर यह भी पढ़ा है कि 'एलेन' और 'लायनल' नामक दो अमरीकी व्यक्तियों में तो ऐसी शक्ति है कि वे चाहे जितनी मोटी दीवालें क्यों न हों, उनके आर-पार इस प्रकार देख लेते हैं जैसे हाथ में रखी हुई प्रत्येक वस्तु हम देखते हैं। लोहे की भारी-भरकम तिजोरी के अन्दर रखी हुई वस्तुओं के नाम भी वे सहज ही गिना देते हैं तथा उनका आकार-प्रकार व रंग बताते हैं।

क्या विज्ञान के करिश्मे मानव की उन्नति के सूचक हैं ?

हमारे मन में यह प्रश्न उठता है कि ये सब वैज्ञानिक उपलब्धियाँ ही क्या मनुष्य की अधिकाधिक उन्नति या प्रगति की सूचक हैं ? अधिकतर व्यक्ति यही कहते कि मानव ने अत्यधिक उन्नति की है। किन्तु हमें ऐसा लगता है कि भौतिक क्षेत्र में अत्यधिक उन्नति करके मानव आध्यात्मिक क्षेत्र में अवनत होता चला गया है। वह यह नहीं समझ पाता कि उसकी सच्चे मायने में उन्नति किधर है ? भौतिक क्षेत्र में उन्नति करना उसकी उन्नति है या आध्यात्मिक क्षेत्र में उन्नति करना सच्ची उन्नति है ?

गंभीरतापूर्वक चिंतन किया जाय तो स्पष्ट होता है कि भौतिक या बाह्य क्षेत्र में मनुष्य कितनी भी प्रगति क्यों न करले, वह अपनी आत्मा का तनिक भी भला नहीं कर सकता। और आत्मा का भला न किया जाय तो सांसारिक लब्धियों को हासिल कर लेने से क्या होगा ? मनुष्य की सबसे बड़ी उन्नति आत्मा को पतन की ओर न ले जाकर उत्थान की ओर ले जाने में है तथा आत्मा का उत्थान उसे कर्मों से अधिकाधिक मुक्त करके संसार की अवधि कम करने में है। विज्ञान के करिश्मे कितने भी अधिक क्यों न दिखाये जाएँ, वे आत्मा का एक भी बन्धन नहीं तोड़ पाते, मनुष्य पत्थर या लोहे की दीवारों के आर-पार भले ही अपनी दृष्टि डाल ले पर वह अपने अन्दर रहे हुए ज्ञान, दर्शन एवं चारित्र रूपी रत्नत्रय को नहीं देख पाता; वह जल की छाती को चीरकर उस पर दैत्याकार जहाज चला लेता है किन्तु भव-समुद्र का एक छोटा-सा हिस्सा भी तैर नहीं पाता। साथ ही अग्नि तत्त्व को कैद करके उसके द्वारा असंख्य कल-कारखाने चालू कर सकता है पर अनन्त आत्म-शक्ति का एक लघु भाग भी अपने आप में पैदा नहीं कर सकता।

ऐसी स्थिति में बाह्य आविष्कार उसका कब तक साथ देंगे यानी वे कब तक उसे सुख-सुविधाएँ प्रदान करेंगे ? केवल मृत्यु आने से पहले इसी जन्म तक। पर यह जन्म अनन्त जन्मों के और उसमें व्यतीत होने वाले अनन्त काल के मुकाबले में है कितना ? विशाल सागर में रहे हुए अथाह जल में से केवल एक बूंद जल के जितना ही तो। इसके समाप्त होते ही जीव को महसूस होगा कि मैंने मानव-जीवन को पाकर भले ही भौतिक क्षेत्र में बहुत कुछ किया पर हुआ सब निरर्थक ही।

नसरुद्दीन की मूर्खता

कहते हैं कि एक बार मुल्ला नसरुद्दीन से किसी ने कह दिया—"तुम्हारी पत्नी कल रात को अमुक बगीचे में किसी व्यक्ति से बातचीत कर रही थी।" मुल्ला को बड़ा गुस्सा आया और वह अगले दिन एक मोटा डंडा लेकर उस बगीचे में शाम से ही छिपकर बैठ गया कि रात को दोनों की मरम्मत करेगा।

बैठे-बैठे नसरुद्दीन परेशान हो गया। डांस-मच्छर काटने लगे और समय मिनिट, घन्टे व प्रहर करके बीतने लगा। पूरी रात हो गई न नसरुद्दीन की पत्नी वहाँ आई और न ही पत्नी से बातचीत करने वाला कोई पुरुष। सम्पूर्ण रात्रि आँखों में व्यतीत कर देने के कारण नसरुद्दीन बहुत परेशान हो गया। प्रातःकाल होते ही उसका परिचित एक व्यक्ति उधर आ निकला तथा मुल्ला जी को हैरान और अजीब-सी मानसिक स्थिति में बैठे हुए देखकर पूछ बैठा—"नसरुद्दीन क्या बात है ? कैसे बैठे हो यहाँ ?"

सरल स्वभाव वाले नसरुद्दीन ने अपने बगीचे में आने और बैठने का कारण बता दिया और कहा—"सारी रात हो गई, न वह आदमी आया और न ही मेरी पत्नी।"

आगन्तुक व्यक्ति बहुत चकराया और कहने लगा—"नसरुद्दीन तुम्हारी शादी हो गई क्या ? कब हुई ?"

"शादी तो अभी मेरी नहीं हुई।" नसरुद्दीन ने सहज-भाव से उत्तर दिया।

"तब फिर तुम्हारी पत्नी यहाँ कहाँ से आती ?" आगत व्यक्ति ने मुस्कुराते हुए पूछा।

"अरे, यह तो मुझे ध्यान ही नहीं रहा कि जब शादी नहीं हुई है तो मेरी पत्नी यहाँ कैसे आ सकती थी।" कहते हुए नसरुद्दीन ने माथे पर हाथ रख लिया और रात भर परेशान होने के कारण पश्चात्ताप करता हुआ चल दिया।

प्रगति वधु के बदले ?

बन्धुओ ! जिस प्रकार नसरुद्दीन को रात भर परेशान होने के पश्चात् भी प्रातःकाल पश्चात्ताप करना पड़ा, ठीक इसी प्रकार जीवात्मा को जीवन भर संघर्ष और परिश्रम करने के बाद भी अन्त में पश्चात्ताप करना पड़ता है। यद्यपि नसरुद्दीन का उदाहरण जानकर हमें उसकी मूर्खता पर हंसी आती है, पर क्या हम भी उसके समान मूर्खता नहीं करते ?

आज के युग में लोग प्रगति या उन्नति के नाम पर नाना प्रकार के आविष्कार करते हैं, आश्चर्यजनक यन्त्र बनाते हैं तथा भिन्न-भिन्न ग्रहों में पहुँचने के लिये अपूर्व साधनों का निर्माण करके भाग-दौड़ करते रहते हैं। इस सबके साथ वे यह सोचते हैं कि प्रगति हमारे चरणों में झुक गई है। किन्तु मृत्यु के साथ ही उन्हें भली-भाँति महसूस हो जाता है कि जिसे प्रगति कहते हैं वह तो हमारे सन्मुख आई ही नहीं।

कितने आश्चर्य की वात है यह ? पर है विलकुल सही। जिस प्रगति वधु के स्वागत और समागम का आनन्द प्राप्त करने के लिये मनुष्य जीवन भर व्यस्त रहता है तथा नाना प्रकार के श्रम करता है, अन्त में वह अनुभव करता है कि उसका वरण तो हुआ ही नहीं। उलटे प्रगति या उन्नति के भ्रम में रहकर वह अवनति से गाँठ जोड़ लेता है तथा प्रगति के दर्शन भी नहीं कर पाता।

प्रगति की दिशा

आप सोचेंगे कि जीवन भर खपकर तथा बुद्धि का उपयोग कर-करके भी मनुष्य प्रगति को हासिल नहीं कर पाता और वह आँखों के सामने नहीं फटकती तो छिपी कहाँ रहती है और पहचान में क्यों नहीं आती ?

इसका उत्तर हमें वड़ी सावधानी से लेना चाहिये। मान लीजिये किसी व्यक्ति का गाँव पूर्व दिशा में है, किन्तु उस दिशा में पीठ करके व्यक्ति पश्चिम की ओर कदम उठाता चला जाय तो उसका गाँव या उस ओर जाने वाली राह यात्री को कैसे दिखाई देगी ? पीठ में तो आँखें होती नहीं।

प्रगति का इच्छुक व्यक्ति भी प्रगति की ओर पीठ करके चलता है। वह नहीं जानता कि मुझे प्रगति वाह्य दिशा या वाह्य क्षेत्र में भटकने से कभी नहीं मिलेगी क्योंकि उसकी दिशा अपने अन्दर की ओर है। वाहरी वस्तुओं का निर्माण कर-करके अम्बार लगा लेना प्रगति नहीं है क्योंकि वे सव शरीर छूटते ही यहीं रह जाती हैं। इसके अलावा उन सबके निर्माण में और उनके प्रति रही हुई आसक्ति में जो असंख्य कर्म जन्म लेते हैं वे आत्मा को अत्यधिक वोझिल वना देते हैं।

तो मैं वता यह रही थी कि प्रगति की दिशा वाहर की ओर नहीं अपितु अन्दर की ओर है। हम सभी जानते हैं कि शरीर तो अनन्त काल के मुकावले में अत्यल्प काल के लिए मिलकर छूट जाता है पर आत्मा को अपने कर्मों के अनुसार पुनः किसी गति में शरीर को धारण करना पड़ता है। इसलिए स्पष्ट महसूस होता है कि थोड़े काल के लिये मिले हुए शरीर का सुख अथवा इन्द्रियजन्य सन्तोष क्षणिक होने के कारण प्रगति की दिशा नहीं कहला सकता। अपितु आत्मा को शाश्वत सुख की प्राप्ति हो, कर्मों का भार हलका हो तथा जव तक जन्म लेना पड़े, निम्न गतियों में जाने से आत्मा वच सके इसके लिए किया हुआ प्रयत्न प्रगति की दिशा कहला सकता है और वह दिशा आत्मा के अन्दर की ओर होती है, वाहर की ओर नहीं। इसलिये मनुष्य को चाहिये कि वह अपने अन्दर झाँककर आत्मा में रहे हुए अनन्त ज्ञान, अनन्त दर्शन एवं अनन्त चारित्र को पहचाने तथा उत्तम आत्मिक गुणों का आविर्भाव करके सच्ची प्रगति की ओर वढ़े। ऐसा करने पर ही वह आत्मा के स्वभाव को परख कर सकेगा तथा धर्म को अपनाकर आत्म-शुद्धि की ओर अग्रसर होगा जो कि प्रगति की सही दिशा है।

आत्मा का स्वभाव

बाह्य जगत में आप देखते हैं कि धुँआ ऊपर की ओर जाता है तथा भाप भी ऊँची ही उठती है। इनका स्वभाव ऊँचा उठने का है। इसी प्रकार आत्मा का स्वभाव भी ऊँचा उठना ही है। ऊँचा उठने से तात्पर्य है कर्म-भार से हल्की होकर उर्ध्वगमन करते हुए मोक्ष की ओर बढ़ना। पर स्वभाव ऊपर उठने का होते हुए भी अगर मनुष्य कर्म-बन्धन करता जाता है तो वे आत्मा को अधिकाधिक बोझिल बनाकर ऊपर नहीं जाने देते तथा नीचे की ओर खींचते हैं। कर्म-भार जितना अधिक बढ़ता जाता है, अपने स्वभाव के विरुद्ध आत्मा बन्दी के समान नीचे झुकती चली जाती है।

ऐसा क्यों होता है ? इसलिये कि मनुष्य भौतिक अथवा बाह्य उन्नति को ही प्रगति समझ कर अपनी शक्ति, बुद्धि एवं ज्ञान को क्षणिक व पर-पदार्थों की प्राप्ति या उनके निर्माण में लगा देता है। परिणाम यह होता है कि उसका ज्ञान एवं आत्म-शक्तियों का उपयोग प्रगति की सही दिशा में न होकर उलटी दिशा में हो जाता है जिधर उसे प्रगति का भ्रम होता है। वैज्ञानिक प्रयोगों एवं आविष्कारों में ही अपने मन को, इन्द्रियों को तथा बुद्धि को व्यस्त रखने के कारण वह यह नहीं सोच पाता कि इन सबका उपयोग मुझे अपने अन्दर रहे हुए रत्नत्रय को तथा आत्मा के स्वाभाविक धर्म की पहचान और उनके विकास में करना है।

किसी हिन्दी के कवि ने आधुनिकता एवं विज्ञान की भर्त्सना करते हुए कहा है—

> धर्म से वंचित हुआ सा आज मानव जी रहा है।
> ज्ञान के शुभ पात्र में विज्ञान का विष पी रहा है॥
> धर्म से पथ-भ्रष्ट होकर आत्म का विश्वास हारा।
> रह गया है आज अणुबम मात्र जीने का सहारा॥

कवि ने ठीक ही कहा है कि आज का मानव आविष्कारों की दुनिया में खोया हुआ है, अतः धर्म से परे हो गया है। उसे पूर्वजन्मों में संचित शुभ कर्मों के फल स्वरूप अन्य प्राणियों से अधिक और विशिष्ट बुद्धि प्राप्त हुई है किन्तु वह अपनी बुद्धि और ज्ञान का प्रयोग गलत कार्यों में कर रहा है। कवि ने ज्ञान को एक दिव्य एवं दुर्लभ पात्र की उपमा देकर कहा है कि उसे इस शुभ पात्र में सम्यक् श्रद्धा एवं साधना का अमृत भरकर पीना चाहिये जिससे आत्मा सदा के लिये संसार-मुक्त होकर शाश्वत सुख एवं आनन्द की प्राप्ति कर सके। किन्तु वह मानव ज्ञान के उस ईश्वरीय पात्र में केवल विज्ञान का विष भरकर पिये जा रहा है।

विज्ञान विष क्यों है ?

अनेक व्यक्तियों के मन में यह प्रश्न उभर सकता है कि विज्ञान को विष क्यों कहा गया है जबकि संसार को यह वरदान दिखाई देता है। इसके कारण तो लोगों

को अनेकानेक ऐसी नवीन उपलब्धियाँ हुई हैं जिनसे जीवन में सुविधाओं की बढ़ोतरी होती चली गई है।

किन्तु वे यह नहीं देखते कि जिन वायुयानों के द्वारा वे एक देश से दूसरे देश में सहज हो चले जाते हैं तथा भ्रमण का आनन्द उठाते हैं, उन्हीं विमानों के द्वारा कुछ ही काल में बम वर्षा करके गांव के गांव नष्ट कर दिये जाते हैं तथा लाखों घरों की सुख-शांति पलभर में लुप्त हो जाती है।

बिजली के द्वारा जहाँ सम्पूर्ण घर प्रकाशित होता है उसी का करेन्ट आ जाने पर पलभर में ही लोग जीवन से हाथ धो बैठते हैं। इतना ही नहीं आप सभी जानते हैं कि वैज्ञानिकों ने जहाँ पृथ्वी और आकाश को एक करते हुए मंगल, चन्द्र एवं शुक्र आदि ग्रहों तक जाने के लिये अनेक उपग्रहों का निर्माण किया वहीं मानव-जीवन को समाप्त करने के लिये परमाणु बम का भी आविष्कार कर दिया है, जिसकी कल्पनामात्र से ही रोंगटे खड़े हो जाते हैं। जापान के हिरोशिमा एवं नागासाकी नगरों पर जब द्वितीय महायुद्ध के समय अणुबम या परमाणुबम गिराये गये तो उनकी भयानकता से विश्व थर्रा उठा। इसीलिये कवि ने ज्ञान के पात्र में विज्ञान के विष का उल्लेख किया है।

आगे कहा है—"विज्ञान के प्रभाव में आकर मानव धर्म को भूल गया है तथा आत्म-विश्वास खो बैठा है।" आत्मा में अनन्त शक्ति होते हुए भी वह अपने आपको भयभीत मानता है तथा जीने के लिये उसे अणुबमों को ढाल बनाना पड़ गया है। उन्नीस सौ पैंतालीस में जैसा कि अभी मैंने बताया, अमेरिका ने दूसरे महायुद्ध के समय विश्व को बता दिया है कि इस शक्ति के द्वारा किस प्रकार सम्पूर्ण संसार को कुछ ही क्षणों में नष्ट किया जा सकता है। हिरोशिमा में जो असंख्य प्राणी जीवन से हाथ धो चुके, उनका तो कहना ही क्या है पर जो बच गये हैं वे जीवन-पर्यंत के लिए किस प्रकार रोगी, अपंग, विकृत चेहरोंवाले, नपुंसक एवं अत्यन्त दयनीय हो गये हैं उनकी स्थिति का वर्णन करने में जबान कांप जाती है। अणुबम या परमाणुबम का अवर्णनीय एवं भीषण परिणाम देखकर सभी देशों ने बचाव के लिये अपने यहाँ भी इन्हें बनाने की होड़ लगा ली और इस प्रकार इसे ढाल बना लिया है।

कवि ने आगे कहा है—

> आधुनिकता से जगत ने मृत्यु आश्रित प्यार पाया।
> ज्ञान दुनिया के लिये विध्वंस का उपहार लाया॥
> आज न्यायोचित मनुजता विश्वभर से खो गई है।
> शक्ति की संपत्ति भौतिकवाद में लय हो गई है॥

कवि का यही कथन है कि आधुनिक युग की यह प्रगति संसार के लिए विध्वंस का खतरा बनकर आई है। सभी देश एक दूसरे को नीचा दिखाने के लिये और मौका मिले तो परास्त करने के लिए तैयार बैठे हैं। मनुष्यता तो मनुष्य में ढूंढ़ने से भी मिलनी मुश्किल हो गई है।

को अनेकानेक ऐसी नवीन उपलब्धियाँ हुई हैं जिनसे जीवन में सुविधाओं की बढ़ोतरी होती चली गई है।

किन्तु वे यह नहीं देखते कि जिन वायुयानों के द्वारा वे एक देश से दूसरे देश में सहज ही चले जाते हैं तथा भ्रमण का आनन्द उठाते हैं, उन्हीं विमानों के द्वारा कुछ ही काल में बम वर्षा करके गाँव के गाँव नष्ट कर दिये जाते हैं तथा लाखों घरों की सुख-शांति पलभर में लुप्त हो जाती है।

बिजली के द्वारा जहाँ सम्पूर्ण घर प्रकाशित होता है उसी का करेन्ट आ जाने पर पलभर में ही लोग जीवन से हाथ धो बैठते हैं। इतना ही नहीं आप सभी जानते हैं कि वैज्ञानिकों ने जहाँ पृथ्वी और आकाश को एक करते हुए मंगल, चन्द्र एवं शुक्र आदि ग्रहों तक जाने के लिये अनेक उपग्रहों का निर्माण किया वहीं मानव-जीवन को समाप्त करने के लिये परमाणु बम का भी आविष्कार कर दिया है, जिसकी कल्पनामात्र से ही रोंगटे खड़े हो जाते हैं। जापान के हिरोशिमा एवं नागासाकी नगरों पर जब द्वितीय महायुद्ध के समय अणुबम या परमाणुबम गिराये गये तो उनकी भयानकता से विश्व थर्रा उठा। इसीलिये कवि ने ज्ञान के पात्र में विज्ञान के विष का उल्लेख किया है।

आगे कहा है—"विज्ञान के प्रभाव में आकर मानव धर्म को भूल गया है तथा आत्म-विश्वास खो बैठा है।" आत्मा में अनन्त शक्ति होते हुए भी वह अपने आपको भयभीत मानता है तथा जीने के लिये उसे अणुबमों को ढाल बनाना पड़ गया है। उन्नीस सौ पैंतालीस में जैसा कि अभी मैंने बताया, अमेरिका ने दूसरे महायुद्ध के समय विश्व को बता दिया है कि इस शक्ति के द्वारा किस प्रकार सम्पूर्ण संसार को कुछ ही क्षणों में नष्ट किया जा सकता है। हिरोशिमा में जो असंख्य प्राणी जीवन से हाथ धो चुके, उनका तो कहना ही क्या है पर जो बच गये हैं वे जीवन-पर्यंत के लिए किस प्रकार रोगी, अपंग, विकृत चेहरोंवाले, नपुंसक एवं अत्यन्त दयनीय हो गये हैं उनकी स्थिति का वर्णन करने में जबान काँप जाती है। अणुबम या परमाणुबम का अवर्णनीय एवं भीषण परिणाम देखकर सभी देशों ने बचाव के लिये अपने यहाँ भी इन्हें बनाने की होड़ लगा ली और इस प्रकार इसे ढाल बना लिया है।

कवि ने आगे कहा है—

> आधुनिकता से जगत ने मृत्यु आश्रित प्यार पाया।
> ज्ञान दुनिया के लिये विध्वंस का उपहार लाया॥
> आज न्यायोचित मनुजता विश्वभर से खो गई है।
> शक्ति की संपत्ति भौतिकवाद में लय हो गई है॥

कवि का यही कथन है कि आधुनिक युग की यह प्रगति संसार के लिए विध्वंस का खतरा बनकर आई है। सभी देश एक दूसरे को नीचा दिखाने के लिये और मौका मिले तो परास्त करने के लिए तैयार बैठे हैं। मनुष्यता तो मनुष्य में ढूंढ़े से भी मिलनी मुश्किल हो गई है।

एक शायर ने लिखा है—

अगर तूफां में किश्ती हो तो हो सकती है तदबीर।
जब किश्ती में ही तूफां हो तो क्या तदबीर काम आवे ?

इन पंक्तियों में बड़ी रहस्यमय बात छिपी है। कहा है—समुद्र में तूफान के आने पर तो किश्ती को किसी प्रकार बचाकर किनारे पर लाया जा सकता है किन्तु अगर किश्ती के अन्दर ही तूफान आ जाये तो फिर उसे डूबने से बचाने में कौन समर्थ हो सकता है ?

ठीक यही हाल आज मानव का हो रहा है। उसका जीवन भी किश्ती या नाव के समान है। शायर अन्योक्ति के द्वारा यही बता रहा है कि मानव की जीवन रूपी नाव को अकाल, महामारी, रोग, अर्थ-संकट, अतिवृष्टि आदि बाह्य संकटों के तूफान से तो किसी तरह बचा लिया जाता है, किन्तु आधुनिक मानव के मन में जो ईर्ष्या, द्वेष, स्वार्थ, वैमनस्य, हिंसात्मक विचार आदि असंख्य दुर्भावनाओं की प्रचंड लहरें तूफान के रूप में उठती रहती हैं, उनसे उसको बचाना किस प्रकार संभव है ?

वरदान भी और अभिशाप भी

बन्धुओ! मेरे कहने का अभिप्राय यही है कि इस युग में विज्ञान का बोलबाला है। मैं इस बात से इन्कार नहीं करती कि विज्ञान से मनुष्य को बहुत फायदे हैं और इसके उचित प्रयोग से प्रकाश आदि साधारण लाभों की अपेक्षा भी अणुशक्ति से अत्यधिक लाभ उठाया जा सकता है। दुर्गम पर्वतों को तोड़कर यातायात के साधनों की सुविधा इसके द्वारा होती है। और इसके द्वारा ला-इलाज रोग भी दूर किये जाते हैं। किन्तु मनुष्य इससे जितना लाभ उठाता है, उसकी अपेक्षा हानिकारक वस्तुओं का तथा विनाशकारी शस्त्रास्त्रों का निर्माण करके अपने नुकसान का सामान ज्यादा इकट्ठा कर लेता है और इस प्रकार वह एक ओर जहाँ वरदान बनता है, दूसरी ओर अभिशाप साबित हो जाता है। दूसरे शब्दों में विज्ञान अच्छे और बुरे प्रयोग से अच्छा या बुरा बनता है।

किसी कवि ने कहा है:—

न सूरत बुरी है न सीरत (आदत) बुरी है।
बुरा है वही जिसकी नीयत बुरी है॥
उठाले कदम कोई राहे खुदा में।
न दुनिया बुरी है न जन्नत बुरी है॥

पद्य में बड़ी सुन्दर और यथार्थ बात कही गई है कि अगर मनुष्य की नीयत अच्छी हो तो उसकी कोई हरकत बुरी साबित नहीं होती। जो व्यक्ति विश्वास एवं श्रद्धापूर्वक ईश्वर को प्राप्त करने के लिए साधना में या खुदा को पाने के लिए इबादत में जुट जाता है, उसे न दुनिया बुरी लगती है और न स्वर्ग। अर्थात् वह संसार में रहता है तब भी सन्तुष्ट रहता है और स्वर्ग या जन्नत में भेज दिया जाता है तब भी वैसा ही बना रहता है।

ध्यान में रखने की बात

बंधुओ ! अभी मैंने आपको यह कहा है कि विज्ञान भौतिक दृष्टि से लाभदायक भी है और हानिकर भी। इस दृष्टि से अगर इसका उपयोग सही किया जाय तो यह मानव को बाह्य दृष्टि से नुकसान न पहुँचाते हुए जीवन में अनेक प्रकार की सुविधाएँ पहुँचा सकता है तथा उसे रोगादि से मुक्त करने में भी समर्थ बन सकता है।

किन्तु ध्यान में रखने की बात यह है कि विज्ञान भले ही मनुष्य को जीवन में कितनी ही सुख-सुविधाएँ प्रदान करे, वह आत्मा को रंचमात्र भी सुखी नहीं कर सकता और मानव-जीवन के लिये संकटों का कारण बनने पर भी आत्मा का अहित नहीं कर सकता। दूसरे शब्दों में विज्ञान के द्वारा भौतिक दृष्टि से लाभ हो या हानि उससे आत्मा का कुछ भी बनता-बिगड़ता नहीं, पर इतना अवश्य होता है कि विज्ञान से प्राप्त सुख-सुविधाओं में उलझ कर और वैज्ञानिक आविष्कारों में ही व्यस्त रहकर मानव आत्मा का भान भूल जाता है, आत्मा का लाभ किस प्रकार होता है इस विषय में सोचने की भी उसे फुरसत नहीं रहती। इसके अलावा नवीन आविष्कारों की होड़ में वह एक-दूसरे को हानि पहुँचाने के प्रयत्न में मन को मलिन बना लेता है। वैज्ञानिक प्रगतियाँ हिंसात्मक एवं विध्वंसात्मक प्रवृत्तियों को बढ़ावा देती हैं अतः मानव स्वयं अपने या देश के स्वार्थ के वशीभूत होकर देश का भला तो कर पाए या नहीं, पर अपनी आत्मा का बुरा तो करता ही चला जाता है। उसके मानस में स्वार्थ, ख्याति और लाभ की आकांक्षा एवं मिथ्या अहंकार का जन्म और पोषण होता रहता है तथा संसार के सम्पूर्ण प्राणियों के प्रति करुणा, स्नेह, सद्भावना एवं मैत्री की उत्तम भावना का लोप हो जाता है। परिणाम यह होता है कि विकारों की वृद्धि से आत्मा पर कर्म-बंधनों की तहें जमती जाती है और जन्म-जन्मान्तरों तक भी उनसे छुटकारा नहीं मिल पाता।

इस सबके बावजूद भी तारीफ की बात तो यह है कि मानव केवल इस जीवन में क्षणिक लाभ पहुँचाने वाली और आत्मा को निविड़ बंधनों से जकड़ने वाली प्रवृत्तियों को ही अपनी प्रगति मानता है तथा भौतिक सुख-दुख देने वाली वैज्ञानिक उपलब्धियों को प्रगति की सही दिशा समझता है। यह उसकी ऐसी जबर्दस्त भूल है जिसका दुष्परिणाम अनेक जन्मों तक भोगना पड़ेगा, इसमें तनिक भी संदेह नहीं है।

बन्धुओ ! मेरे कथन का यह अभिप्राय नहीं है कि मानव विज्ञान का नाम ही न ले, उससे प्राप्त होने वाली सुविधाओं का लाभ न उठाए और अपूर्व तथा अद्भुत आविष्कारों को पृथ्वी पर से निर्मूल कर दे। मेरे कहने का आशय केवल इतना ही है कि नवीन युग की इन उपलब्धियों को ही वह सब कुछ न समझे और इन्हें ही अपनी प्रगति की सीमा न माने। उसे यह भली-भाँति समझ लेना चाहिए कि भौतिक उपलब्धियाँ क्षणिक हैं तथा वे प्रगति नहीं कहला सकतीं। प्रगति का सच्चा अर्थ आत्मा की उन्नति से है। अगर मनुष्य भौतिकता का जीवन में लाभ उठाते हुए

भी अपनी आत्मा की भलाई किस में है यह ध्यान में रखे तो भौतिक सुखों का उपभोग करते हुए भी आत्मा की उन्नति या आध्यात्मिक दिशा में प्रगति कर सकता है जो सच्ची प्रगति कहलाती है। एक उदाहरण से यह बात स्पष्ट हो जाती है।

कहते हैं कि एक बार सम्राट सेन ने तथागत बुद्ध से पूछा—"भगवन्! मुझे कोई ऐसा सरल उपाय बताइये जिससे मैं राज्य-कार्य भी करता रहूँ साथ ही आध्यात्मिक क्षेत्र में प्रगति करता हुआ अपनी आत्मा का उद्धार भी कर सकूँ।"

बुद्ध ने कुछ क्षण विचार कर उत्तर दिया—"सम्राट्! तुम राजा हो और राज्यकार्य से समय अधिक नहीं निकाल सकते हो तो मैं एक छोटा सा सूत्र तुम्हें बताता हूँ। इसे अगर हमेशा याद ही रख लोगे तो निश्चय ही एक दिन आत्मा के शुद्ध स्वरूप को पा सकोगे। वह सूत्र है—'मैं मरणधर्मी हूँ।' यानी एक दिन मुझे अवश्य मरना है। मौत को स्मरण रखने पर तुम कभी भी अन्याय, अनीति और असत्य के मार्ग पर नहीं बढ़ोगे।"

वस्तुतः जो व्यक्ति मृत्यु को स्मरण रखता है वह मृत्यु के पश्चात् प्राप्त होने वाले जीवन के लिए भी सजग बना रहता है। मैं भी आपसे यही कह रही हूँ कि आप भले ही भौतिक संसार में उलझे रहें, किन्तु यह कभी न भूलें कि मेरी आत्मा शरीर के समान नश्वर नहीं है और इसे एक दिन अपने कर्मानुसार पुनः किसी गति में जाना है। जो भव्य-प्राणी इस बात को स्मरण रखेगा वही सच्ची उन्नति या प्रगति कर सकेगा। □

9
भोजन, भवन और वसन

बन्धुओ !

आप सभी और प्रत्येक मानव जानता है कि भोजन, भवन और वसन अर्थात् वस्त्र ये तीनों ही शरीर की सुरक्षा के लिए आवश्यक वस्तुएँ हैं। इनके बिना मनुष्य का काम नहीं चलता। शरीर की शक्ति को बनाए रखने के लिए भोजन करना अनिवार्य है; शीत, ग्रीष्म और वर्षा से बचने के लिए मकान का होना आवश्यक है और लज्जा निवारण के साथ ही साथ सौन्दर्य-वृद्धि के लिए भाँति-भाँति के वस्त्र पहनना जरूरी है।

इन तीनों का महत्त्व समझाना किसी के लिए भी आवश्यक नहीं है क्योंकि सभी मनुष्य इनके महत्त्व को समझते हैं और इसीलिए इनका उपयोग करते हैं किन्तु हमें समझना यह है कि क्या ये तीनों केवल शरीर की सुरक्षा के लिए ही आवश्यक है ? नहीं, शरीर की सुरक्षा के लिए इनका जितना महत्त्व है, उससे अनेक गुना अधिक महत्त्व आत्मा की सुरक्षा के लिए भी है। किन्तु इस महत्त्व के विषय में प्रत्येक मनुष्य नहीं जानता और इसे जानना ही हमारे आपके विचार-विमर्श का विषय है। निश्चय ही शारीरिक अर्थात् बाह्य-सुरक्षा के लिए ये तीनों जितने उपयोगी हैं उससे बहुत अधिक उपयोगी आंतरिक अथवा आत्मिक सुरक्षा के लिए हैं। अतः हम इन तीनों पर क्रम से विचार करेंगे तथा भली-भाँति समझेंगे कि इन तीनों का सही उपयोग शरीर-रक्षा और उसके सौन्दर्य की वृद्धि के साथ-साथ आत्मिक सुरक्षा और आंतरिक सौन्दर्य की किस प्रकार अभिवृद्धि करता है तथा इनका दुरुपयोग किस प्रकार शरीर के लिए अहितकारी और आत्मा के लिए भी उतना ही अनिष्टकारी बन जाता है। संक्षेप में बाह्यजीवन एवं आंतरिक जीवन दोनों पर ही इसके कुप्रभाव और सुप्रभाव के विषय में हमें समझना है। आइये, प्रथम हम भोजन के चमत्कार पर ही प्रारम्भ करें।

भोजन का वास्तविक उद्देश्य

भोजन का वास्तविक उद्देश्य है शरीर और साथ ही मन को सबल बनाना। मन की सबलता से तात्पर्य है उसे शुद्ध अर्थात् दोषरहित रखना। किसी ने यह तो सत्य कहा है कि स्वस्थ शरीर में ही स्वस्थ मन रहता है। किन्तु आप इस बात से

भी इन्कार नहीं कर सकते कि मन के स्वस्थ न रहने पर भी काफी सीमा तक जिसे हम केवल शारीरिक स्वस्थता कहते हैं वह बनी रहती है पर उससे आत्मा को कोई लाभ नहीं होता बल्कि उसको हानि ही होती है। इसलिए आवश्यक है कि शरीर को ऐसी खुराक दी जाय जिससे शरीर भी स्वस्थ रहे और मन भी तथा इन दोनों की शुद्धता से आत्मा उन्नत हो सके। स्पष्ट है कि आध्यात्मिक उन्नति के लिए शरीर का स्वस्थ होना अनिवार्य है। कहा भी जाता है—

'शरीरमाद्यं खलु धर्म-साधनम्'

—सभी धर्म-कर्मों के लिए शरीर ही पहला साधन है।

इतना ही नहीं अन्न का महत्त्व बताने वालों ने तो उसे अतुलनीय रत्न साबित किया है। कहा है—

"अन्न समं रत्नं न भूतं न भविष्यति"

—वैद्य रसराज समुच्चय

अर्थात्—अन्न एक ऐसा उत्कृष्ट कोटि का रत्न है जिसकी तुलना अपेक्षा विशेष से किसी अन्य के साथ न तो की जा सकती है और न ही की जा सकेगी।

वस्तुत: अन्न ऐसी ही अमूल्य वस्तु है जो जीवन के लिए अमृत का काम करती है। किन्तु वह अमृत का काम तभी कर सकता है, जब वह शुद्ध और निर्दोष हो। 'वेदव्यासजी' का कथन है—

"जो पुरुष शुद्ध भोजन करता है उसके लिए अन्न अमृत रूप हो जाता है और अशुद्ध अन्न विष के समान। अधर्मी राजा का अन्न खाने वाले विद्वानों की भी बुद्धि मारी जाती है।"

—महाभारत

कबीर ने भी अपनी सरल भाषा में यही बात कही है—

जैसा अनजल खाइये तैसा ही मन होय।
जैसा पानी पीजिये तैसी बानी सोय॥

इस सबका अर्थ यही है कि मनुष्य को शुद्ध आहार ही करना चाहिए। व्यक्ति अपने जीवन में कितनी आहार-शुद्धि कर सकता है, इसकी कोई मर्यादा नहीं है, परन्तु हमारे समाज ने आहार-शुद्धि के लिए पर्याप्त प्रयत्न और तपस्या की है। अनन्त प्रयत्न करके हमारे पूर्वजों ने इस दिशा में जो प्रयत्न किये हैं और उसे संस्कृति का रूप दिया है, उसे हमें गँवाना नहीं है अपितु नष्ट हुए भाग को पुनः सुधार लेना है, उसकी मरम्मत करना है। हमें येन-केन-प्रकारेण जीवित नहीं रहना है। यह तो पशु भी कर लेता है। वे भी किसी न किसी तरह जीवित रह ही लेते हैं। तब क्या हमें पशुओं के समान ही रहना है? नहीं, पशुओं में और हममें जमीन-आसमान का

हुए आत्मा की अनन्त काल से चली आ रही क्षुधा को भी शांत करना है और यही हमारे भोजन का वास्तविक लक्ष्य है।

प्रत्येक श्रावक और साधु का लक्ष्य यही होता है कि वह उत्तरोत्तर कर्म-भार से आत्मा को मुक्त करता चला जाय और अन्त में उसे सर्वथा निष्कलुष बनाकर परमात्म पद प्राप्त करे। किन्तु इसके लिए बड़ी भारी साधना करनी होती है और उस साधना में एकमात्र सहायक यह शरीर ही होता है अतः इससे सहायता लेते रहने के लिए हमें इसे शुद्ध और सात्त्विक आहार देकर सतेज बनाए रखना है। तभी यह हमें भव-सागर से पार कर सकेगा। कहा भी है—

> जगत-जलधि से पार उतरने को शरीर नौका है।
> मानव-भव शाश्वत सुख पाने का अनुपम मौका है॥

तो यह शरीर जो संसार-सागर से पार उतरने के लिए एक नौका के समान है और साधना में सर्वोत्तम सहायक है, इसे कैसा भोजन देना चाहिए अर्थात् किन-किन दोषों से हमें अपने भोजन को मुक्त रखना चाहिए, यही हमारे लिए विचारणीय है। इसके दोषों में सबसे बड़ा दोष मांस और मदिरा का उपयोग करना है।

मांसाहार महाअनिष्टकारी है

मांस-भक्षण शारीरिक स्वास्थ्य की दृष्टि से भी निषिद्ध वस्तु है। इसके प्रयोग से मनुष्य को कैंसर, तपेदिक, पायरिया, गठिया, मस्तक-शूल, मिरगी, अनिद्रा, लकवा एवं पथरी आदि भयंकर रोगों का सामना करना पड़ता है। यह शारीरिक और मानसिक दोनों ही शक्तियों पर अत्यन्त खराब प्रभाव डालता है।

कहा जाता है कि यूरोप के ब्रुसेल्स विश्वविद्यालय में दस हजार विद्यार्थियों का परीक्षण किया गया। जिनमें से पाँच हजार को केवल अन्न, फल और शाकाहार पर रखा गया और पाँच हजार को मांसाहार पर। छः मास पश्चात् जब उनकी परीक्षा की गई तो प्रमाणित हुआ कि शाकाहारी विद्यार्थी मांसाहारियों की अपेक्षा अध्ययन में विलक्षण बुद्धि वाले साबित हुए और क्षमा, दया, स्नेह, सेवा-भाव आदि अनेक गुणों के अधिकारी बने; तथा मांसाहारी छात्र मन्द-बुद्धि, क्रोधी, क्रूर, स्वार्थी तथा भोग्यन आदि अनेक दुर्गुणों के शिकार बन गये। इसीलिए कहा गया है—

"अमांसाशा नीरोगाश्च बलवन्तः सुखान्विता।"

—इतिहास समुच्चय

—जो मांस-भक्षण नहीं करते हैं, वे रोगरहित, बलवान और सुखी होते हैं।

मांस खाना मानव-प्रकृति के भी सर्वथा विरुद्ध है। मनुष्य प्रकृति से शाकाहारी है, मांसाहारी नहीं। शाकाहारी और मांसाहारी प्राणियों के शरीर की बनावट में काफी अन्तर होता है। मांसाहारी पशुओं के नाखून पैने और नुकीले होते हैं जैसे सिंह, कुत्ता, बिल्ली आदि के। शाकाहारी पशुओं के वैसे नहीं होते जैसे हाथी, गाय,

भी इन्कार नहीं कर सकते कि मन के स्वस्थ न रहने पर भी काफी सीमा तक जिसे हम केवल शारीरिक स्वस्थता कहते हैं वह बनी रहती है पर उससे आत्मा को कोई लाभ नहीं होता बल्कि उसको हानि ही होती है। इसलिए आवश्यक है कि शरीर को ऐसी खुराक दी जाय जिससे शरीर भी स्वस्थ रहे और मन भी तथा इन दोनों की शुद्धता से आत्मा उन्नत हो सके। स्पष्ट है कि आध्यात्मिक उन्नति के लिए शरीर का स्वस्थ होना अनिवार्य है। कहा भी जाता है—

'शरीरमाद्यं खलु धर्म-साधनम्'

—सभी धर्म-कर्मों के लिए शरीर ही पहला साधन है।

इतना ही नहीं अन्न का महत्त्व बताने वालों ने तो उसे अतुलनीय रत्न साबित किया है। कहा है—

"अन्न समं रत्नं न भूतं न भविष्यति"

—वैद्य रसराज समुच्चय

अर्थात्—अन्न एक ऐसा उत्कृष्ट कोटि का रत्न है जिसकी तुलना अपेक्षा विशेष से किसी अन्य के साथ न तो की जा सकती है और न ही की जा सकेगी।

वस्तुतः अन्न ऐसी ही अमूल्य वस्तु है जो जीवन के लिए अमृत का काम करती है। किन्तु वह अमृत का काम तभी कर सकता है, जब वह शुद्ध और निर्दोष हो। 'वेदव्यासजी' का कथन है—

"जो पुरुष शुद्ध भोजन करता है उसके लिए अन्न अमृत रूप हो जाता है और अशुद्ध अन्न विष के समान। अधर्मी राजा का अन्न खाने वाले विद्वानों की भी बुद्धि मारी जाती है।"

—महाभारत

कबीर ने भी अपनी सरल भाषा में यही बात कही है—

जैसा अनजल खाइये तैसा ही मन होय।
जैसा पानी पीजिये तैसी बानी सोय॥

इस सबका अर्थ यही है कि मनुष्य को शुद्ध आहार ही करना चाहिए। व्यक्ति अपने जीवन में कितनी आहार-शुद्धि कर सकता है, इसकी कोई मर्यादा नहीं है, परन्तु हमारे समाज ने आहार-शुद्धि के लिए पर्याप्त प्रयत्न और तपस्या की है। अनन्त प्रयत्न करके हमारे पूर्वजों ने इस दिशा में जो प्रयत्न किये हैं और उसे संस्कृति का रूप दिया है, उसे हमें गँवाना नहीं है अपितु नष्ट हुए भाग को पुनः सुधार लेना है, उसकी मरम्मत करना है। हमें येन-केन-प्रकारेण जीवित नहीं रहना है। यह तो पशु भी कर लेता है। वे भी किसी न किसी तरह जीवित रह ही लेते हैं। तब क्या हमें पशुओं के समान ही रहना है? नहीं, पशुओं में और हममें जमीन-आसमान का अन्तर है। उस अन्तर को चरम सीमा तक बढ़ाकर हमें जठराग्नि को शांत करते

हुए आत्मा की अनन्त काल से चली आ रही क्षुधा को भी शांत करना है और यही हमारे भोजन का वास्तविक लक्ष्य है।

प्रत्येक श्रावक और साधु का लक्ष्य यही होता है कि वह उत्तरोत्तर कर्म-भार से आत्मा को मुक्त करता चला जाय और अन्त में उसे सर्वथा निष्कलुष बनाकर परमात्म पद प्राप्त करे। किन्तु इसके लिए बड़ी भारी साधना करनी होती है और उस साधना में एकमात्र सहायक यह शरीर ही होता है अतः इससे सहायता लेते रहने के लिए हमें इसे शुद्ध और सात्त्विक आहार देकर सतेज बनाए रखना है। तभी यह हमें भव-सागर से पार कर सकेगा। कहा भी है—

जगत-जलधि से पार उतरने को शरीर नौका है।
मानव-भव शाश्वत सुख पाने का अनुपम मौका है॥

तो यह शरीर जो संसार-सागर से पार उतरने के लिए एक नौका के समान है और साधना में सर्वोत्तम सहायक है, इसे कैसा भोजन देना चाहिए अर्थात् किन-किन दोषों से हमें अपने भोजन को मुक्त रखना चाहिए, यही हमारे लिए विचारणीय है। इसके दोषों में सबसे बड़ा दोष मांस और मदिरा का उपयोग करना है।

मांसाहार महाअनिष्टकारी है

मांस-भक्षण शारीरिक स्वास्थ्य की दृष्टि से भी निषिद्ध वस्तु है। इसके प्रयोग से मनुष्य को कैंसर, तपेदिक, पायरिया, गठिया, मस्तक-शूल, मिरगी, अनिद्रा, लकवा एवं पथरी आदि भयंकर रोगों का सामना करना पड़ता है। यह शारीरिक और मानसिक दोनों ही शक्तियों पर अत्यन्त खराब प्रभाव डालता है।

कहा जाता है कि यूरोप के ब्रुसेल्स विश्वविद्यालय में दस हजार विद्यार्थियों का परीक्षण किया गया। जिनमें से पाँच हजार को केवल अन्न, फल और शाकाहार पर रखा गया और पाँच हजार को मांसाहार पर। छः मास पश्चात् जब उनकी परीक्षा की गई तो प्रमाणित हुआ कि शाकाहारी विद्यार्थी मांसाहारियों की अपेक्षा अध्ययन में विलक्षण बुद्धि वाले सावित हुए और क्षमा, दया, स्नेह, सेवा-भाव आदि अनेक गुणों के अधिकारी बने; तथा मांसाहारी छात्र मन्द-बुद्धि, क्रोधी, क्रूर, स्वार्थी तथा भीरुपन आदि अनेक दुर्गुणों के शिकार बन गये। इसीलिए कहा गया है—

"अमांसादा नीरोगाश्च बलवन्तः सुखान्विता।"

—इतिहास समुच्चय

—जो मांस-भक्षण नहीं करते हैं, वे रोगरहित, बलवान और सुखी होते हैं।

मांस खाना मानव-प्रकृति के भी सर्वथा विरुद्ध है। मनुष्य प्रकृति से शाकाहारी है, मांसाहारी नहीं। शाकाहारी और मांसाहारी प्राणियों के शरीर की बनावट में काफी अन्तर होता है। मांसाहारी पशुओं के नाखून पैने और नुकीले होते हैं जैसे सिंह, कुत्ता, बिल्ली आदि के। शाकाहारी पशुओं के वैसे नहीं होते जैसे हाथी, गाय,

भैंस आदि के हम देखते हैं। मनुष्य भी नितान्त शाकाहारी है—मांसाहार की आदत उसकी विकृति है, मूल प्रकृति नहीं।

हमारे जैनधर्म में मांसाहार का बड़ी दृढ़ता से विरोध किया गया है। करुणा के अवतार भगवान महावीर ने मांसाहार को महान दुर्व्यसन और नरक का कारण माना है। 'स्थानांगसूत्र' में बताया गया है कि प्राणी चार कारणों से नरक में जाता है—(१) महाआरम्भ करने से (२) महापरिग्रह रखने से (३) पंचेन्द्रिय जीवों का वध करने से और (४) मांस-भक्षण करने से।

राजा श्रेणिक ने मिथ्यात्व-दशा में मांस खाया था, जिसके परिणाम स्वरूप उन्हें अब तक नरक के महा भयानक दुखों को भोगना पड़ रहा है। मांस खाने का तो विचारमात्र करना भी पाप है—

"मांसं महा दुःखमनेकवारं ददाति जग्धं मनसापि पुंसां"

—सुभाषित रत्न संदोह

—मांस खाने का केवल मन से विचार करने मात्र से ही प्राणियों को अनेक बार महान् दुखों को भोगना पड़ता है। ऐसी स्थिति में मांस खाने वालों की तो कैसी दुर्गति होती होगी ?

संसार में पापों की कोई गणना नहीं है। एक से एक भयानक पाप यहाँ होते हैं। किन्तु मांस-भक्षण जैसा भयंकर और निन्दनीय पाप कोई दूसरा नहीं है। यह मानव के हृदय में रही हुई कोमल भावनाओं को नष्ट करके उसके हृदय को क्रूर बना देता है। मांस किसी जीवित और चलते-फिरते प्राणियों को मारे बिना प्राप्त नहीं होता। मनुष्य स्वयं तो एक काँटे की चुभन को भी बर्दाश्त नहीं कर सकता पर अन्य प्राणियों की गर्दन पर छुरी चलाने को तैयार हो जाता है। वह भी किसी घातक हमले से बचने के लिए अथवा प्राण-नाश के भय से नहीं, केवल जिह्वा के क्षणिक स्वाद के लिए। कितनी बीभत्सता है यह ? जब मनुष्य किसी को जीवन दे नहीं सकता तो उसे दूसरे का जीवन नष्ट करने का क्या अधिकार है ?

आहार-विहार में प्रमादवश होने वाली साधारण हिंसा भी जब निन्दनीय मानी जाती है, तब स्थूल पशुओं की हत्या करना तो कैसा राक्षसी कृत्य होता है ? सहृदय व्यक्ति तो उसे देख ही नहीं सकता, कल्पना भी नहीं कर सकता। वह तो पुकार-पुकार कर बार-बार कहता है—

तूं मांस न खाईं वे छोड़ स्वादां नूँ !
जैसा बकरा पकड़ मंगाया, ऐसा ही पुत्तर अपना जाया।
सीस न लाईं वे, छोड़ स्वादां नूँ !
बिसमिल्ला कह छुरी चलाई, सत्तनाम कह गरदन लाई।
बना गुनाही वे, छोड़ स्वादां नूँ !
चंगा खाना क्यों नहीं खांदा, मांस पिछे तूं रुड़दा जांदा।

न जुल्म कमाई वे, छोड़ स्वादाँ नूँ !
दूध जलेबी बरफी पेड़े, खावन नूँ कर सब कुछ तेरे ।
दित्ते साँई वे, छोड़ स्वादाँ नूँ !
केड़ी पुस्तक दे विच आया ? करना खून किस बतलाया ?
आख सुनाई वे, छोड़ स्वादाँ नूँ !
तूं मांस न खाई वे,…………।

आजकल के कुछ नास्तिक पुरुष तर्क करते हैं—"मनुष्य अन्न खाता है, हजारों गेहूँ के दाने पीस कर अपना पेट भरता है, क्या इसमें जीव हिंसा नहीं होती ? बकरे आदि के मारने में तो एक जीव की हिंसा होती है, पर अन्न खाने में हजारों जीवों की हिंसा होती है ।"

ऐसे नासमझ प्राणियों को जानना चाहिए कि गेहूँ अव्यक्त चेतना वाला जीव है और बकरा व्यक्त चेतना वाला । दूसरे बकरे को मारने वाले के भाव अत्यन्त क्रूर, दयाहीन और पातकी होते हैं जबकि गेहूँ पीसने वाले के वैसे नहीं होते । मांस जैसी अपवित्र, घृणित और तामसी पदार्थ की सात्त्विक अन्न से तुलना कभी नहीं की जा सकती । इसका सर्वथा त्याग करना अनिवार्य है । मनुस्मृति में कहा भी गया है—

"प्रसमीक्ष्य विवर्तेत सर्वमांसस्य भक्षणात् ।"

—जीवहिंसा में ही मांस की उत्पत्ति रही हुई है अतः जीवन-पर्यन्त के लिए मांस-भक्षण जैसे जघन्य कार्य से दूर ही रहना चाहिए ।

अधिक क्या कहा जाय, धार्मिक, आर्थिक, सामाजिक तथा स्वास्थ्य आदि सभी दृष्टियों से मांसाहार अत्यन्त हेय है, अतः जो मनुष्य कहलाने का अधिकारी बनना चाहता है उसे मांस-भक्षण का त्याग करना चाहिए । निर्दय और क्रूर व्यक्ति में मनुष्यता रह ही नहीं सकती । यही कारण है कि यूरोप में जो उच्च तथा प्रतिष्ठित न्यायाधीश होते हैं, वे कसाई की गवाही स्वीकार नहीं करते । उनकी दृष्टि में कसाई इतना हृदयहीन और विपरीत विचारधारा वाला होता है कि वह मनुष्य कहलाने लायक ही नहीं रहता । उसकी विचारधारा को वे न्याय-संगत नहीं मानते ।

वस्तुतः जो अज्ञानी व्यक्ति पंचेन्द्रिय प्राणी का घात करके उससे प्राप्त मांस को अपने भोजन का अंग बनाता है वह धर्मसाधना के पथ का पथिक कदापि नहीं बन सकता । नृशंस मनुष्य के कठोर हृदय में धर्म का कोमल अंकुर कदापि उत्पन्न नहीं हो सकता । उसे अपना चित्त कोमल और करुणामय बनाना होगा । तभी वह अपने आहार को विशुद्ध और सात्त्विक रखकर मुक्ति जैसे पवित्र लक्ष्य की ओर बढ़ सकेगा ।

मदिरा-पान

मदिरा-पान के विषय में आपको अधिक बताने की आवश्यकता नहीं है । इसके प्रयोग से बेभान हुए व्यक्ति आपको गली-कूँचों में लड़खड़ाते और ठोकरें खाते

हुए प्रायः दिखाई देते होंगे तथा यह भी आप जानते होंगे कि इसकी लत पड़ जाने पर किस प्रकार आबाद घर बर्बाद होते रहते हैं तथा स्वर्ग के समान खुशहाल गृह नर्क बन जाते हैं। इसके सेवन से उदीयमान और प्रतिभाशाली व्यक्ति भी महामूढ़ और अकर्मण्य बनकर रह जाता है। किसी ने कहा भी है—

'When the wine is in, the wit is out.'

—जब शराब मनुष्य में प्रवेश करती है तो बुद्धि बाहर निकल जाती है।

वस्तुतः जो एक बार मदिरापान का व्यसनी बन जाता है वह इतना असमर्थ, सत्त्वहीन और लाचार बन जाता है कि उसे छोड़ना चाहकर भी नहीं छोड़ सकता। अतएव जो व्यक्ति अपनी इंसानियत का दिवाला निकालना नहीं चाहता है उसे मदिरा-पान से सदा दूर ही रहना चाहिए। मदिरा एक ऐसा प्रवेश-द्वार है, जिससे धीरे-धीरे जुआ, चोरी, असत्य और वेश्यागमन आदि अनेक दुर्गुण मानव में प्रवेश कर जाते हैं।

दुख की बात है कि भारत जैसे धर्मप्रधान देश में यह महाभयंकर दुर्गुण अब भी मौजूद है। प्रजा की खुशहाली के लिए सरकार को इसके आयात, निर्माण और सेवन पर पूर्ण प्रतिबन्ध लगाना चाहिए। जिस देश की दरिद्र प्रजा भोजन भी पेट भर नहीं कर पाती, उस देश में करोड़ों रुपये मदिरापान में व्यय हों और करोड़ों व्यक्ति निकम्मे व अकर्मण्य बन जायँ उस देश में कैसे अमन-चैन रह सकता है? मदिरापान मनुष्य जाति के ऊपर महान कलंक के समान है। एक पाश्चात्य लेखक के विचार हैं—

"युद्ध, दुर्भिक्ष तथा महामारी इन तीनों ने मिलकर मनुष्य जाति को इतनी हानि नहीं पहुँचाई जितनी अकेली मदिरा ने पहुँचाई है।" —ग्लेडस्टन

मांस-भक्षण और मदिरा-पान दोनों प्रायः साथ ही मनुष्य के मन और मस्तिष्क पर आक्रमण करते हैं। क्योंकि दोनों का परस्पर घनिष्ठ सम्बन्ध रहता है। अतः खान-पान में इसके प्रयोग से आत्मोन्नति के इच्छुक व्यक्ति को कोसों दूर रहना चाहिए।

नियमित भोजन

मनुष्य अन्न का कीड़ा है। भोजन उसके लिए आवश्यक है। बिना खाए जीवन टिक नहीं सकता। किन्तु भोजन की भी एक सीमा होती है। जीवन के लिए भोजन है, भोजन के लिए जीवन नहीं। पर आज के युग में भोजन के लिए जीवन बन गया है और इसके सम्बन्ध में हमारी धार्मिक संस्कृति के आधार पर बनाए हुए सभी नियम प्रायः भुला दिये गये हैं।

जो कुछ भी जिह्वा को स्वादिष्ट लगने वाली वस्तुएँ मनुष्य के सामने आती हैं उन्हें वह किसी भी स्थान पर और किसी भी समय में झटपट उदरस्थ कर लेना चाहता है। न उसे मांस से घृणा होती है और न मद्य से परहेज। न वह भक्ष्य का

ध्यान रखता है और न अभक्ष्य का। भोजन के फेर में पड़ा हुआ लोलुप प्राणी धर्म के साथ-साथ स्वास्थ्य की भी चिन्ता छोड़ देता है। प्रातःकाल चाय पीने के पश्चात् बिस्तर से उठना आज का फैशन बन गया है। उसके पश्चात् घर पर खाना, मित्रों के यहाँ खाना, बाजार में चाट-पकौड़ी उड़ाना, और तो क्या दिन छिपते-छिपते तथा रात्रि को भी खाना और बिस्तर पर जाते हुए भी और कुछ नहीं तो दूध का गिलास खाली कर देना उसका नित्य क्रम बन गया है। अभिप्राय यही है कि नींद खुलने के साथ ही साथ रात को नींद आने तक भी उसके खाने का कार्य समाप्त नहीं होता। यह कितना विस्मयकारी है ?

हमारे प्राचीन शास्त्रकारों ने भोजन के सम्बन्ध में अत्यन्त सुन्दर नियमों का विधान किया है। उन्होंने बताया है—भोजन में शुद्धता, पवित्रता, स्वच्छता तथा मुख्य रूप से नियमितता का ध्यान रखना आवश्यक है, स्वाद का नहीं। मांस-मदिरा आदि अभक्ष्य पदार्थों से घृणा करनी चाहिए। भोजन शुद्ध और सात्विक हो, पर वह भी नियमित समय पर भूख लगने पर ही खाना चाहिए। शास्त्रकारों के वचनानुसार भूख के बिना भोजन का एक कौर खाना भी पापमय अन्न को खाने के समान है। मुझे स्मरण है जब मैं शैशवावस्था में थी, मेरे पिताजी खाने से पूर्व एक छोटी-सी सीधी-सादी प्रार्थना मुझसे बुलवाया करते थे। उसकी कुछ पंक्तियाँ थीं—

भगवत नाम सुमर कर खाना,
दीन-दुखी को देकर खाना।
जितना पचता उतना खाना,
पच न सके वह कभी न खाना।
चलते नहीं चबेना खाना,
लेटे हुए कभी मत खाना।
ठीक समय पर खाना खाना,
कभी न रात पड़े फिर खाना।
मांस-मद्य तुम कभी न खाना,
सदा शुद्ध औ सात्विक खाना।

बालकों को प्रारम्भ से ही भोजन के इन नियमों का ध्यान दिलाने के लिये हमारे गुरुजन ऐसे सरल पद्यों का निर्माण करते थे जो आगे चलकर उनके जीवन को उच्च बनाने में सहायक होते थे। पर आजकल कोई भी व्यक्ति अपने बालकों को भोजन के इन नियमों को बताने की आवश्यकता नहीं समझता क्योंकि वह स्वयं भी इनका पालन नहीं करता। बार-बार खाना और खूब खाना बस ये ही दो नियम आज प्रचलित हैं। ठूंस-ठूंस कर खाने के पश्चात् पेट की क्या दशा होगी इसकी फिक्र कोई नहीं करता। और अगर कहीं से निमन्त्रण आजाए भोजन करने का, फिर तो पूछना ही क्या है। एक ब्राह्मण पंडित का उदाहरण इस विषय में बड़ा मनोरंजक है।

कहते हैं कि एक ब्राह्मण देवता को किसी भोज में सम्मिलित होने का निमन्त्रण मिला। पंडितजी फूले न समाये और ठीक वक्त पर वहाँ पहुँच गए।

भोजन शुरू होने पर पंडितजी को फिर ध्यान न रहा कि पेट कब भर गया। लड्डू पर लड्डू उदरस्थ करते गए। अन्त में जब एक ग्रास भी नहीं लिया जा सका तो उठने का विचार किया। पर उठना और उठकर घर तक पहुँचना उनके लिये बड़ी भारी समस्या बन गया। पर वहाँ बैठे भी कब तक रहते ? बड़ी कठिनाई से काँखते, कराहते धीरे-धीरे वे अपने घर तक पहुँच पाये। दरवाजे में प्रवेश कर वहीं आँगन में धम्म से बैठ गये और जोर-जोर से हाँफने लगे।

ब्राह्मणी ने पतिदेवता की यह दशा देखी तो पूछा—"क्या बात है ?"

"बात और क्या होगी। भोजन करके आया हूँ सो कुछ पेट फूल रहा है।"

"तो थोड़ा सा चूरन खालो ! ठीक हो जायेगा।"

"क्या बात करती हो ? चूरन की जगह होती तो एकाध लड्डू ही और नहीं खा लेता। चूरन खाकर क्या अपने पूर्वजों को लज्जित करूँगा ? वे तो हवा के प्रवेश करने की जगह भी पेट में नहीं रखते थे। तुम जानती क्या हो ?" गुस्सा होते हुए ब्राह्मण ने पत्नी को झिड़का।

पति की झिड़की पाकर ब्राह्मणी को भी तैश आ गया वह क्रोधित होकर बोली—"ओहो, तो तुमने इतना-सा खाकर क्या मीर मार लिया ? आखिर घर तक तो आ ही गए। मेरे पूर्वज न्योता पाकर भोजन करने जाते थे तो उठकर वहाँ से आ ही नहीं सकते थे। चार आदमियों को खाट पर डालकर ही उन्हें लाना पड़ता था।"

संसार में ऐसे अज्ञानियों की भी कमी नहीं है जो अधिक से अधिक खाने में अपने कुल का गौरव समझते हैं। किन्तु हमें तो भोजन सिर्फ खाने के उद्देश्य से ही नहीं करना है अपितु जीवन के लिये आधारभूत बना रहे इसी दृष्टि से करना है। महापुरुषों का तो कथन है-—

"वायोः संचरणार्थाय चतुर्थमवशेषयेत्।" —कात्यायन

—श्वासोच्छ्वास के आने-जाने के लिये पेट की अन्न की थैली का चौथा भाग खाली रखे। अर्थात् मनुष्य भूख से कुछ कम ही खाए।

हमारे शास्त्रों में इसी को ऊनोदरी तप भी माना है। कर्मों की निर्जरा करने के लिये बारह प्रकार के तप किये जाते हैं। उनमें से एक तो अनशन अर्थात् कुछ नहीं खाकर स्वाध्याय, आत्म-चिन्तन व साधना में समय व्यतीत करना है और दूसरा ऊनोदरी अर्थात् भूख से कम खाना है। जैसा कि अभी एक श्लोक के द्वारा बताया गया है कम खाना स्वास्थ्य के लिये भी लाभदायक है और आध्यात्मिक साधना की दृष्टि से भी अत्यन्त लाभदायक है। जितनी भूख हो उसकी अपेक्षा भी अधिक खाने से तथा मांस आदि तामसी पदार्थों के सेवन से आलस्य और निद्रा का आक्रमण होता

है तथा साधक की साधना और आत्म-चिन्तन में बाधा पड़ती है। इसलिये कर्मों की निर्जरा करने के इच्छुक प्राणी अत्यन्त शुद्ध, सात्विक और सन्तुलित भोजन करते हैं तथा प्रमाद व आलस्य आदि से बचने के लिये जानबूझकर भूख की अपेक्षा कम भोजन करते हैं। ताकि साधना अधिक से अधिक सफल बन सके।

रात्रि-भोजन

रात्रि को भोजन करना भी भोजन का बड़ा भारी दोष है, तथा स्वास्थ्य एवं धर्म की दृष्टि से महा हानिकर है। शरीर-शास्त्र के ज्ञाता रात्रि-भोजन को बल, बुद्धि और आयु का नाश करने वाला बताते हैं। वे कहते हैं—दिन की अन्य सभी प्रवृत्तियों के साथ ही भोजन की प्रवृत्ति को भी समाप्त कर देना चाहिये तथा रात्रि में जठर को पूर्ण विश्राम देना चाहिये। रात्रि में हृदय और नाभि-कमल संकुचित हो जाते हैं, अतः अन्न का परिपाक ठीक तरह से नहीं हो सकता और इसके परिणामस्वरूप अनेक प्रकार की व्याधियाँ शरीर में घर कर जाती हैं।

वैसे भी हम साधारण तौर पर रात्रि-भोजन से होने वाली हानियों को देखें तो रात्रि को खाना सर्वथा अनुचित जान पड़ता है। रात्रि के कम प्रकाश में खाने के साथ चींटी खाने से बुद्धि का नाश, जूँ खाने से जलोदर नामक व्याधि, मक्खी खाने से वमन, छिपकली खा ली जाय तो कोढ़ और बाल गले में चिपक जाए तो स्वर-भंग हो जाता है। इसके अलावा बिच्छू अगर भोजन के साथ में मुँह में चला जाय तो वह तालू को ही भेद डालता है। इस प्रकार रात्रि-भोजन से अनेकों दुष्परिणाम होने की सम्भावना बनी रहती है। सैंकड़ों व्यक्ति ऐसी दुर्घटनाओं के शिकार बनकर अपनी जान खो बैठते हैं।

जैनधर्म में रात्रि-भोजन के निषेध पर बहुत बल दिया है। प्राचीन काल में तो रात्रि-भोजन का त्याग जैनत्व की पहचान का एक विशिष्ट लक्षण था। जैनधर्म ने इसमें हिंसा का दोष बताया है। अन्य धर्म भी इसे अच्छा नहीं समझते। कूर्म पुराण आदि वैदिक पुराणों में रात्रि-भोजन का पूर्णरूप से निषेध है। मार्कण्डेय ऋषि ने कहा है—

"रात्रौ अन्नं मांससमं प्रोक्तम्"

—रात्रि-भोजन मांसाहार के समान कहा गया है।

महाभारत में भी रात्रि-भोजन वर्जित बताया है—

"वर्जनीया महाराजन् ! निशीथे भोजनक्रिया" (शांति पर्व)

—हे महाराज ! रात्रि में भोजन करना मना किया हुआ है।

महात्मा गांधी ने भी लगभग चालीस वर्ष की आयु के पश्चात् जीवन-पर्यन्त रात्रि-भोजन का त्याग रखा। इस व्रत का वे पूर्ण दृढ़ता से पालन करते रहे। यहाँ तक कि यूरोप गए तब भी उन्होंने रात्रि-भोजन कभी नहीं किया।

स्पष्ट है कि प्रत्येक मनुष्य और विशेषकर जैन कहलाने वालों का तो

कर्तव्य ही है कि वे रात्रि-भोजन का त्याग करें। अन्यथा वे अहिंसा व्रत का पालन कदापि नहीं कर सकते।

अनेक प्रकार के इतने छोटे-छोटे सूक्ष्म जीव होते हैं जो दिन में सूर्य के प्रकाश में तो दृष्टिगोचर हो सकते हैं किन्तु रात्रि में कितना भी तेज प्रकाश क्यों न कर लिया जाय दिखाई नहीं दे सकते। वे सूक्ष्म जीव भोजन में गिरकर दांतों में पिसते हुए भोजन के साथ पेट में चले जाते हैं और अनर्थकारी बनते हैं। जिस व्यक्ति के मांसाहार का त्याग होता है वह मांसाहार के दोष से दूषित हो जाता है। अनेकानेक जीवों की मनुष्य के प्रमाद और अज्ञान से हिंसा होती है।

आज के युग में कुछ व्यक्ति तर्क करते हैं कि रात्रि-भोजन का निषेध सूक्ष्म जीवों के दृष्टिगोचर न होने से ही किया गया है। अगर हम बिजली का खूब प्रकाश करलें तो फिर क्या हानि है? ऐसे अज्ञानी जीवों को जानना चाहिये कि बिजली, गैस या चन्द्रमा का प्रकाश कितना भी अधिक क्यों न हो, वह सूर्य के प्रकाश की तुलना नहीं कर सकता। सूर्य के प्रकाश जैसा प्रखर, सार्वत्रिक, उज्ज्वल, अखंड और आरोग्यवर्धक और कोई भी प्रकाश नहीं है। जीव-रक्षा से बचने में अन्य कोई भी प्रकाश समुचित सहायता नहीं कर सकता। इसके अलावा हम प्रायः देखते हैं कि दीपक और बिजली आदि के प्रकाश के समीप अनेकानेक जीव-जन्तु आकर इकट्ठे हो जाते हैं। वर्षा ऋतु में तो उनकी संख्या हजारों की तादाद तक पहुँच जाती है। फिर कैसे जीवों की हिंसा से बचा जा सकता है?

दूसरे त्याग-धर्म का मूल संतोष है। इस दृष्टि से भी मनुष्य को दिन में भर-पेट खाकर संतोष कर लेना चाहिये। एक पाश्चात्य विद्वान का कथन है—

"Contentment is the best food to preserve a sound man, and the best medicine to restore a sick man." —डब्लू० सीकर

—मनुष्य को स्वस्थ रखने के लिये संतोष एक सर्वोत्तम भोज्य पदार्थ है एवं रोगी को नीरोग रखने के लिये सर्वोत्तम औषधि है।

महाकवि तुलसीदासजी ने भी कहा है कि जिस प्रकार नाव जल के विना नहीं चल सकती, उसी प्रकार संतोष के विना मनुष्य कभी भी सुख, चैन अथवा विश्राम प्राप्त नहीं कर सकता चाहे वह कोटि प्रयत्न ही क्यों न करे—

कोउ विस्राम कि पाव, तात सहज सन्तोष विन।
जल विन चलइ कि नाव, कोटि जतन रचि पचि मरिय॥

इसलिये कम से कम दिन की समाप्ति के साथ तो संतोप धारण कर रात्रि में पुनः खाने की लालसा का त्याग करना चाहिये। इससे आध्यात्मिक साधना को वल मिलता है और सव प्रकार से आरोग्य वृद्धि होती है। निद्रा अच्छी आती है और बुद्धि का भी विकास होता है। हमारे धर्म का यह नियम पूर्णतया आध्यात्मिक और वैज्ञानिक दृष्टि को लिये हुए है।

संक्षेप में, मनुष्य का भोजन अभक्ष्य, अति-भोजन व रात्रि-भोजन आदि के दोषों से रहित, शुद्ध और संतुलित होना चाहिये। तभी वह शारीरिक और मानसिक स्वस्थता का अनुभव करते हुए आत्मोन्नति के प्रशस्त पथ पर बढ़ सकेगा।

भवन और उसके भूषण

अभी हमने भोजन के विषय में विस्तृत विचार किया है और अब अपने नियत विषयों के दूसरे अंग भवन पर आएँगे। मनुष्य खाता है, रहता है और पहनता है। अपने रहने के लिए वह जो स्थान बनाता है वे ही आकार-प्रकार से छोटे होने पर मकान और घर कहलाते हैं तथा बड़े, सुन्दर और साज-सज्जा युक्त होने पर भवन कहलाने लगते हैं। पर उपयोग उनका वही होता है अर्थात् रहना, सोना, खाना-पीना इत्यादि सभी कार्य उस स्थान पर किये जाते हैं। प्रत्येक मनुष्य को अपने घर, मकान, भवन या बिल्डिंग पर मोह होता है। भले ही वह उसका अपना हो अथवा किराये पर लिया हुआ हो।

हम साधुओं के लिये तो यह बात नहीं है। आज यहाँ और कल वहाँ दिखाई देने वाले भिक्षु तो जहाँ खड़े हों वहीं उनका घर है। भर्तृहरि ने कहा भी है—

> महीरम्या शैया विपुलमुपधानं भुजलता।
> वितानं चाकाशं व्यजनमनुकूलोप्यमनिलः॥

—जिसने घर का त्याग कर दिया है, ऐसे अनगार के लिये पृथ्वी ही सुन्दर शैया है, भुजाएँ कोमल तकिया, छत आकाश और पवन शीतल हवा प्रदान करने वाला पंखा है।

किन्तु आप लोग हमारी तरह 'रमते राम' नहीं हैं, आगारी हैं। आपका कार्य मकानों और भवनों के बिना नहीं चलता। इसीलिये आप अपने लिये उत्तमोत्तम भवनों का निर्माण करवाते हैं। धार्मिक संस्कारों और विश्वासों की दृष्टि से तो भले ही आप प्राचीन काल से नीचे उतर आए हों, किन्तु समस्त आधुनिक उपकरणों से युक्त भवनों के निर्माण में बहुत ऊँचे उठ गये हैं। आज मनुष्य पचास और साठ-साठ मंजिल के भवन बनाकर उसमें रहता है जबकि प्राचीन इतिहास में प्रायः 'सतखंडे' मकानों का ही उल्लेख मिला करता है।

किन्तु वास्तव में भवन किसे कहा जा सकता है—हमें यही देखना है। ईंट, चूने और सीमेण्ट के द्वारा बड़े-बड़े महल बनाकर उनमें भोग-विलास के उपकरण एकत्रित कर लेने से ही वह महल, महल या भवन नहीं कहला सकता। किसी विद्वान के विचारों से भवन वह कहलाता है :—

> यन्मनीषि पदाम्भोज रजःकण पवित्रितम्।
> तदेव भवनं नो चेद् भकारस्तत्र लुप्यते॥

—भवन वही है जो मनीषियों के चरण-कमल की धूलि से पवित्र हो चुका है,

और यदि ऐसा नहीं है तो उसमें से भकार लुप्त हो जाता है। अर्थात् वह घर वन के समान है।

वस्तुतः भवन वही है, जिसके निवासी संत, महात्मा, विद्वान तथा गुणी-जनों का आदर-सम्मान करते हों, अतिथियों का अन्तःकरण से स्वागत करते हों तथा कोई भी याचक जिनके द्वार से निराश न लौटता हो। बड़े-बड़े भवनों में रहकर भी जो मनुष्य अहंकारी, स्वभाव से रूक्ष, स्वार्थी और हृदयहीन बने रहें तो उनके भवन, भवन नहीं कहला सकते वरन् उनकी तुलना में एक छोटा-सा ऐसा घर जिसमें रहने वाला मनुष्य सहृदय, करुणामय, अतिथि-प्रेमी तथा गुणी-जनों की संगति का इच्छुक हो तो वह निस्संदेह भवन कहलाने योग्य है। चाहे सातमंजिला महल हो अथवा घास-फूस से छाई हुई कुटिया। भवन वही है जिसके द्वार पर पहुंचने में साधु, अतिथि या अन्य कोई भी अनागत व्यक्ति संकोच का अनुभव न करता हो, दीन-दुखी एवं अभावग्रस्त प्राणी के लिये जो अहर्निश खुला रहता हो तथा जिसकी गृहस्वामिनी उदारहृदया एवं अत्यन्त सौम्य व्यक्तित्व की अधिकारिणी हो। महाभारत के शांतिपर्व में वेदव्यास जी ने कहा भी है :—

"वास्तव में घर को घर नहीं कहते, गृहिणी को ही घर कहते हैं, जिस घर में सुगृहिणी न हो वह वन के समान है।"

वेदव्यासजी का कथन नितान्त सत्य है। घर में अगर नारी सुशीला, मधुर-भाषिणी और विशाल-हृदया हो तो वह अपने सम्पूर्ण परिवार को अपने जैसा ही बनाकर छोड़ती है। उसके बनाने से ही घर स्वर्ग बन सकता है। उसकी उदारता ही झोंपड़ी को भवन का रूप दे सकती है।

सुप्रसिद्ध महाकवि माघ अपनी उदारता के लिये विख्यात थे। कहा जाता है कि कभी कोई याचक उनके यहाँ से निराश नहीं लौटता था।

उनके पास पूर्व में काफी सम्पत्ति थी। किन्तु सरस्वती का उपासक जान लेने पर लक्ष्मी ने धीरे-धीरे उनका साथ छोड़ दिया। किन्तु गया केवल धन ही, उनकी उदारता कहीं नहीं गई।

एक बार एक ब्राह्मण जिसने उनकी उदारता की प्रशंसा सुनी थी उनके यहाँ आया। ब्राह्मण कवि की निर्धनावस्था से अनभिज्ञ था। जिस समय वह महाकवि के घर पहुँचा कवि अपनी काव्य रचना में संलग्न थे। ब्राह्मण को देखकर वे प्रफुल्ल हो उठे और रचना-कार्य को छोड़-छाड़कर अतिथि के स्वागत में लग गये। कुशल-क्षेम पूछने के पश्चात् उन्होंने आगत से अपने आने का अभिप्राय पूछा कि—

ब्राह्मण ने बताया—"मैं अत्यंत निर्धन हूँ पर कन्या विवाह योग्य हो गई है। उसके विवाह के लिये आपसे कुछ सहायता माँगने आया हूँ। आपकी उदारता की मैंने बहुत तारीफ सुनी है।"

आगन्तुक को आश्वासन देकर कवि 'माघ' घर के अन्दर आए। पर अन्दर आकर बड़े विचार में पड़ गये कि ब्राह्मण को क्या दें, पैसा तो पास में था नहीं और पत्नी के अनेक जेवर भी हाथ से निकल गये थे। केवल दो कंगन ही थे जिन्हें वह हाथों में पहने हुए थी।

संयोगवश उस समय उनकी पत्नी सो रही थी। कवि उसके पास गये और निद्राधीन स्त्री के एक हाथ से कंगन उतार लाये। लाकर ब्राह्मण को दे दिया।

इसी बीच पत्नी जाग गई। हाथ की कलाई सूनी देखकर वह सारी बात समझ गई। दौड़कर बाहर आई और दूसरे हाथ से कंगन उतार कर ब्राह्मण के हाथों में देते हुए बोली—"भाई, यह भी ले जाओ। भला एक कंकण से कन्या का विवाह कैसे करोगे ?"

आगन्तुक ब्राह्मण भौंचक्का होकर बारी-बारी से पति-पत्नी की ओर देखने लगा। उसकी समझ में नहीं आया कि दोनों में से किसकी उदारता अधिक है। मूक प्रशंसा के भावों को लिये हुए उसके नेत्रों से आनन्दाश्रु छलक पड़े।

अन्त में उसने उदार दम्पत्ति को नमस्कार किया और धीरे-धीरे वहाँ से चला गया। माघ कवि और उसकी पत्नी प्रफुल्लतापूर्वक उसे जाते हुए देखते रहे।

कहने का अभिप्राय यही है कि दरिद्रता का निवास होने पर भी जिस गृह के गृह-स्वामियों में ऐसी उदारता हो, करुणा और दया का जहाँ अनवरत स्रोत बहता हो, वही घर भवन कहलाने योग्य होता है। इसलिये प्रत्येक मानव को ऐसे ही भवन में निवास करना चाहिये। अपने घर को स्वच्छ और सुन्दर रखने के साथ ही साथ हृदय को भी सद्‌गुणों के सौन्दर्य से भूषित बनाये रखना मानव का सच्चा धर्म है, इंसानियत का तकाजा है। वस्त्र और आभूषण जिस प्रकार शरीर को सुशोभित करते हैं, उसी प्रकार मनुष्य के सद्‌गुण उसके गृह को सुशोभित करते हैं। ऊँचे और विशाल भवन को देखकर ही संत, महात्मा, विद्वान अथवा अन्य प्राणी उसके द्वार पर नहीं आते, वे आते हैं भवन-वासी के स्नेह, सौहार्द, सम्मान-भावादि सद्‌गुणों के आकर्षण के वशीभूत होकर, और तभी वह भवन सुशोभित होता है।

वसन का महत्व

मानव के लिये वस्त्र पहनना आवश्यक है। वस्त्र के द्वारा वह अपनी लज्जा निवारण करता है तथा शीत व तापादि, प्राकृतिक प्रकोपों से भी अपनी रक्षा करता है। हमें तो अभी सिर्फ यह देखना है कि उसे वस्त्र कैसे पहनने चाहिये, तथा उनका गलत चुनाव करने से जो अनेकानेक पापों का दोष लगता है उनसे बचने के लिये वस्त्रों का सही चुनाव करके संयम, तप, त्याग और दान की भावना को किस प्रकार दृढ़ बनाना चाहिये ?

आप में से बहुत से व्यक्ति सोचते होंगे कि वस्त्र ही तो हैं, बेजान पदार्थ। उनके पहनने से ऐसे कौन से महान पापों का उपार्जन होता है ? आपके इसी मूकप्रश्न का उत्तर मैं थोड़े में समझाने का प्रयास कर रही हूँ।

बंधुओ, रेशमी वस्त्रों के विषय में तो आपने प्रायः सुना होगा, पढ़ा होगा, और मैसूर आदि अनेक स्थानों पर देखा भी होगा कि घास के ढेरों के समान किस प्रकार कीड़ों के ढेर लगे रहते हैं और किस प्रकार उन्हें उबालते हुए उनके शरीर पर से रेशम का या सिल्क का धागा खींचा जाता है। ऐसी प्रत्यक्ष हिंसा से बने सिल्क आदि के कपड़ों के विषय में आपको अधिक बताने की आवश्यकता नहीं है। आप स्वयं ही इनके दोषों को जानते हैं।

मुझे बताना यह है कि रेशम के अलावा भी आप जो मील के बने हुए वस्त्र पहनते हैं इनमें भी गहराई से देखने पर छहों काय के जीवों की हिंसा होती है—एकेन्द्रिय से लेकर पंचेन्द्रिय की। आपको यह सुनकर अवश्य आश्चर्य होगा और जानने की जिज्ञासा होगी कि यह कैसे? इसका स्पष्टीकरण ही मैं कर रही हूं।

प्रथम तो मीलें बनाने के लिये मीलों लम्बी और चौड़ी जमीन ली जाती है। उसमें पृथ्वीकाय की स्पष्ट हिंसा होती है। इंजिन चलाने के लिये भाप की आवश्यकता रहती है और उसके बनाने के लिये जल व अग्नि का उपयोग किया जाता है। मशीनें चलाने से वायु की हिंसा स्वाभाविक है, और मीलों लम्बे-चौड़े शहर के बाहर के स्थान मील बनने के लिये काम में लेने पर अनेक पेड़, पौधे व वृक्ष कटते हैं अतः वनस्पति की हिंसा हो जाती है। साथ ही कीड़े-मकौड़े आदि कितने विकलेन्द्रिय जीवों का घमासान उस महारम्भ के लिये होता है, यह भी आपसे छिपा नहीं है। मशीनों में लगने वाले सैकड़ों चमड़े के पट्टों के लिये तथा चरबी का कपड़ों में उपयोग होने से निर्दोष पशुओं का घात किया जाता है। अब बची एक मानव हिंसा, वह किस प्रकार होती है यह भी आप समझ लीजिये।

मील में काम करने वाला प्रत्येक व्यक्ति उतने चरखों को बेकार कर देता है, जितनों पर करीब डेढ़ सौ व्यक्ति काम करके अपनी रोजी-रोटी निकालते हैं। इस प्रकार सैकड़ों मिलें हजारों, लाखों व्यक्तियों को ही नहीं उससे भी अधिक को बेकार कर देती हैं। परिणाम यह होता है कि भरण-पोषण का जरिया न रहने पर पेट न भर पाने की स्थिति में उनके बाल-बच्चे, स्त्रियां और वे स्वयं भी धीरे-धीरे मृत्यु की ओर अग्रसर हो जाते हैं। अब आप ही विचार करिये कि क्या यह मानव-हिंसा नहीं है?

मिलों के द्वारा उपार्जन किया हुआ द्रव्य उनके मालिकों की तिजोरियाँ भरता है और वर्ग-भेद बढ़ता जाता है। एक ओर तो दरिद्र व्यक्ति भूखे मरते हैं तथा दूसरी ओर धनाढ्य लोग भोग-विलास और कुकृत्यों में पड़कर महापाप के भागी बनते हैं जिनसे अनेकानेक भवों तक भी उनका पीछा नहीं छूटता। कहा भी है :—

"कृतकर्मक्षयो नास्ति कल्पकोटिशतैरपि।"

—विक्रमचरित्र

—अरबों युगों के व्यतीत हो जाने पर भी किये हुए कर्मों का फल भोगे बिना छुटकारा नहीं है। अर्थात् कर्म फलरहित अवस्था में क्षीण नहीं होते।

इस प्रकार मिलों के निर्माण से हर तरह अनर्थ ही होता है। कितना अच्छा हो अगर इस अनर्थ का निवारण करने के लिये हम हाथ से कते और बुने हुए खादी के वस्त्र ही पहनें ? कम से कम जैन कहलाने वाले व्यक्तियों को तो खादी के पवित्र वेश को जैनत्व का मुख्य अंग मानना ही चाहिये।

खादी सादगी का प्रतीक है, इसे अपनाने वाला विलासिता की ओर से विमुख हो जाता है अतः उससे शील की आराधना होती है। मनुष्य कितना भी ऐश्वर्यशाली क्यों न हो जाय शील के विना सब फीका रहता है। कहा भी है—

शील प्रधानं पुरुषे तद्यस्येह प्रणश्यति।
न तस्य जीवितेनार्यो न धनेन बंधुभिः॥

—वेदव्यास

—शील मानव-जीवन का अनमोल रत्न है। उसे जिस मनुष्य ने खो दिया उसका जीना व्यर्थ है। वह चाहे जितना धनी हो, उसका कोई मूल्य नहीं रहता।

हमारी वहनें तो कीमती वस्त्रों को अपनी उच्चता का चिह्न मानती हैं। चाहे वह इतने महीन ही क्यों न हों कि जिसमें से उनके शरीर के अंग दिखाई देते रहें। ऐसे महीन वस्त्रों को पहन कर मुख पर घूँघट डालना कोई अर्थ नहीं रखता। चेहरे को ढकना और वह भी पारदर्शक कपड़े से, उनके लज्जावती होने का प्रमाण नहीं माना जा सकता। कीमती वस्त्र ऐश्वर्य का नाप भी नहीं है। गांधीजी, जिन्हें सारा संसार श्रद्धा और आदर की दृष्टि से देखता था, कौन से कीमती वस्त्र पहनते थे ? केवल खादी के दो टुकड़े ही तो ! पर फिर भी अपने गुणों के वल पर मानव मात्र को अपने समक्ष झुकाने की क्षमता रखते थे।

जिन व्यक्तियों ने उनका केवल नाम ही सुना होता और अगर वे उनसे मिलने आते तो हैरान रह जाते। क्योंकि संसार प्रसिद्ध गांधीजी से मिलने का न कोई विशेष स्थान होता, न समय और न ही चपरासी-दरवान के साथ अपने नाम की चिट भेजने की ही आवश्यकता पड़ती। वे कभी आश्रम में झाड़ू लगाते हुए, कभी मिट्टी खोदते हुए और कभी चक्की पीसते हुए मिल जाते। कभी-कभी तो आगन्तुक उन्हीं से पूछ लेते—"महात्मा गांधीजी किधर हैं, हम उनसे मिलना चाहते हैं।" एक वार की वड़ी मनोरंजक घटना है—

महात्मा गांधी चम्पारन से वेतिया जा रहे थे। वे ट्रेन के तीसरे दर्जे के डिब्बे में वैठे थे। उसी में किसी एक स्टेशन से एक किसान चढ़ा। गांधीजी कुछ अस्वस्थता के कारण लेटे हुए थे। किसान उन्हें खींचते हुए वोला—"उठकर सीधे वैठो ! तुम तो ऐसे पसरे हुए पड़े हो जैसे तुम्हारे वाप की गाड़ी है।"

गांधीजी तुरन्त उठकर वैठ गए। वह किसान भी उनके समीप आराम से वैठ गया और कुछ देर वाद गाने लगा—"धन-धन गांधीजी महाराज दुखी का दुःख मिटाने वाले।" वेचारे ने कभी उन्हें देखा तो था नहीं।

महात्माजी उसका गीत सुनकर मुस्कराते रहे, बोले कुछ नहीं।

जब गाड़ी बेतिया स्टेशन पर पहुँची और उनके स्वागत के लिए सैकड़ों व्यक्ति स्टेशन पर आए तो किसान को अपनी भूल का पता चला। वह गांधीजी के पैरों पर गिर पड़ा और रोने लगा। पर उन्होंने उसे बड़े प्रेम से उठाया और तनिक भी दुख न करने के लिए कहकर वहाँ से चल दिये।

मेरे कहने का अभिप्राय यही है कि वस्त्रों के द्वारा ही कोई व्यक्ति महान् नहीं कहलाता न ही उनसे बड़प्पन प्रगट होता है। व्यक्ति का बड़प्पन और उसकी महानता केवल उसके गुणों पर निर्भर होती हैं। तो फिर क्यों न व्यक्ति सीधे-सादे खादी के वस्त्र ही धारण करे, और अनेकों पापों से बचने का प्रयत्न करे?

खादी पहनने से एक महान् लाभ और होता है, वह है दान का भागी बनना। कुछ व्यक्ति खादी के लिये दलील करते हैं कि वह मँहगी होती है। उनकी यह दलील उचित नहीं है। प्रथम तो उसे खरीदते समय जो भी कुछ पैसा अधिक लगता है वह उसके ज्यादा दिन चलने से वसूल भी हो जाता है। अन्य अनेक प्रकार के वस्त्र जो खादी से भी अनेक गुना अधिक मँहगे आते हैं वे खादी की अपेक्षा बहुत कम समय में ही फट जाते हैं। खादी के लिए यह बात नहीं है। कुछ मोटी और मजबूत होने से वह सहज ही ज्यादा दिन चल जाती है।

दूसरें, अगर उसे खरीदने में कुछ अधिक पैसा लगता भी है तो उससे मनुष्य गुप्त-दान का भागी अवश्य बनता है। खादी न खरीदने का अर्थ है करोड़ों व्यक्तियों के मुँह का कौर छीन लेना। गांधीजी ने तो कहा है :—

"खादी को छोड़ने के मानी होंगे भारतीय जनता को बेच देना, भारतवर्ष की आत्मा को बेच देना।"

कितनी गहराई से विचार कर कही गई बात है यह? जो कि निर्विवाद सत्य है। जिस पृथ्वी को नदी से लिए गए बड़े-बड़े पाइप भी सींच नहीं पाते उसी को वर्षा की छोटी-छोटी बूंदें सींच देती हैं। इसी प्रकार बड़ी-बड़ी रकमें दान देने से लाखों व्यक्तियों को समान लाभ नहीं होता किन्तु खादी खरीदने से एक-एक पाई का वितरण सुन्दर ढंग से हो जाता है। खादी खरीदने का अर्थ है अनेकों व्यक्तियों को भर-पेट भोजन मिल जाना। नेहरूजी ने भी एक स्थान पर लिखा है :—

"खादी खरीदने और पहनने से हम अपने करोड़ों नंगे, भूखे भाइयों की झोंपड़ियों में उम्मीदों से भरी हुई झलक चमका सकते हैं।"

वास्तव में खादी खरीदने से जो गुप्तदान होता है वह सम्पूर्ण अर्थों में सुपात्र दान भी सिद्ध होता है। इसके लिये खर्च किया हुआ पैसा उन्हें ही मिलता है जो श्रमशील होते हैं और सही मायनों में उसे प्राप्त करने के अधिकारी होते हैं तथा इसके विपरीत आज दिखावे के लिये आप जो दान देते हैं, वह आलसी, कामचोर,

जुआरी, शराबी अथवा चोर-उचक्कों को भी मिल सकता है क्योंकि सुपात्रता किसी के चेहरे पर लिखी नहीं होती, चाहे जैसा वेश और भेष धारण कर व्यक्ति दूसरे की आँखों में धूल डाल सकता है। किन्तु खादी-क्रय में दिया जाने वाला पैसा इस प्रकार व्यर्थ नहीं जाता, वह धीरे-धीरे अपने सही स्थान-स्थान पर पहुँचता है। तो बताइये दान का इससे सही ढंग और कौन-सा होगा ?

संक्षेप में खादी धारण करने से दान, शील, तप और भावना का एक बड़ी सीमा तक आराधन हो जाता है। दूसरे शब्दों में इसे हम धर्माराधना करना भी कह सकते हैं। इसके द्वारा दान और शील का आराधन कैसे होता है यह मैं बता ही चुकी हूँ अब रही भावना और तप की बात। खादी पहनने का विचार करने से ही हृदय में शुभ भावनाओं का प्रारम्भ हो जाता है और उसको पहनना प्रारम्भ करने पर सादगी से रुचि और विलासिता से अरुचि हो जाने पर आत्म-संयम की मात्रा बढ़ती है तथा मन संतुष्टि का अनुभव करता हुआ त्याग की ओर अधिकाधिक अग्रसर होता है। यही उत्तम मानसिक तप कहलाता है। गीता में कहा गया है :—

मनःप्रसादः सौम्यत्वं मौनमात्मविनिग्रहः।
भावसंशुद्धिरित्येतत्तपो मानसमुच्यमे ॥

—श्रीकृष्ण

—मन की प्रसन्नता, शान्ति-भाव मौन, आत्म-संयम और अन्तःकरण की शुद्धता, यह सब मानसिक तप हैं।

इसलिए मनुष्य को अनेकानेक लाभ हासिल कराने वाली खादी अवश्य पहननी चाहिए। वस्त्र पहनने का उद्देश्य उसके लिए अपने बड़प्पन का प्रदर्शन व इन्द्रियों की तृप्ति नहीं वरन लज्जा ढकना एवं आत्म-संतुष्टि ही होना चाहिए। इसमें किसी प्रकार का अधिक कष्ट होने की बात तो है नहीं, केवल इतना ही कि अन्य वस्त्रों की तुलना में यह तनिक मोटी हो सकती है लेकिन इसमें क्या विशेष फर्क पड़ता है ? स्वादिष्ट और रसयुक्त पदार्थों के मुकाबले में रूखा-सूखा और रसहीन भोजन जिह्वा के लिए कष्टकर तथा बड़े-बड़े भवनों की तुलना में अनेक असुविधाओं के कारण छोटे-छोटे मकानों में रहना कठिन जान पड़ता है किन्तु वस्त्रों के चुनाव में अगर खादी को चुना जाय तो कोई भी असह्य कष्ट नहीं होता। उलटे यह धर्माराधन का साधन बन जाती है।

बन्धुओ ! आप समझ गए होंगे कि भोजन, भवन और वसन जो कि मनुष्य-जीवन के आवश्यक अंग हैं किस प्रकार धर्म से भी सम्बन्ध रखते हैं और इनका शुद्ध और सही उपयोग मनुष्य को किस प्रकार आत्मोन्नति की ओर बढ़ाता है ? धर्माराधन के लिए उसे मन्दिर, मस्जिद या गुरुद्वारा आदि में जाकर धर्म-क्रियाएँ करना ही अनिवार्य नहीं है, अपितु अपने खाने, पहनने और रहने के तरीकों को दोष-रहित बनाकर भी वह बड़ी सीमा तक धर्म का पालन कर सकता है, धर्माराधान कर सकता है।

वास्तव में मनुष्य अपने में देवत्व और दानवत्व दोनों ही छिपाए रहता है। और यह सम्पूर्ण रूप से उस पर निर्भर है कि वह देवत्व को प्रकाश में लाये या दानवत्व को। अगर वह अपने विवेक से काम लेता है तो देवत्व को जगाकर आत्मा को कर्म-मुक्त कर सकता है, अन्यथा अपने दानवत्व के कारण असंख्य जन्म-मरण की शृंखला को और भी बढ़ा लेता है। ऐसे मनुष्य के लिए ही कहा जाता है—

दुर्लभं मानुषं जन्मामूल्य एकोऽपि तत्क्षणः।
तथापि काकिणीतुल्यं तद्व्ययं कुर्वते जनाः॥

—मनुष्य का जन्म दुर्लभ है, उसका एक क्षण भी अमूल्य है। तो भी बड़ा आश्चर्य है कि मनुष्य कौड़ियों के समान उसका व्यय करते हैं।

किन्तु आपको ऐसा नहीं करना है। आपको अपने जीवन का उद्देश्य आत्म-शुद्धि और आत्म-दर्शन ही मानना है तथा उसके लिए एक-एक कदम सँभाल कर रखना है। पर यह तभी होगा जबकि आप अपने भोजन, भवन और वसन तीनों को धर्ममय रखते हुए अपने निर्दिष्ट की ओर बढ़ेंगे। ऐसा करने पर ही आपकी आत्मा सबल बनेगी तथा आत्म-साधना के पथ पर दृढ़तापूर्वक चल सकेगी। ☐

10

जैनधर्म और जैनाचार

सृष्टि में ज्यों-ज्यों मानवता का विकास हुआ एक प्रश्न हमारे सामने नए-नए ढंग से उपस्थित हुआ कि धर्म क्या है ? धर्म का जीवन में क्या स्थान है ? धर्म से हमें क्या लाभ है ?

निस्संदेह यह प्रश्न अत्यन्त गम्भीर और महत्त्वपूर्ण है। अगर हम बुद्धिमत्ता-पूर्वक विचार करें तो निश्चय ही हमें इस निर्णय पर पहुँचना पड़ेगा कि इस दुर्लभ मानव-जीवन में यदि कुछ सत्य है, साध्य है, नित्य है और मंगलमय है तो वह धर्म है। धर्म की शक्ति ही जीवन की शक्ति है, धर्म की दृष्टि ही जीवन की दृष्टि है। इतना ही नहीं हमारे आचार्यों का तो कथन है—

"मृता नैव मृतास्तेऽत्र ये नरा धर्मकारिणः।"

—तत्त्वामृत

—जिन मनुष्यों ने जीवन पर्यन्त धर्म का आचरण किया है, वे मृत्यु-प्राप्त हो जाने पर भी मरे नहीं हैं। क्योंकि उनकी अजर-अमर कीर्ति काल द्वारा मिटाई नहीं जा सकती है।

किन्तु आज जिस युग में हम जी रहे हैं, मनुष्यों के विचार परस्पर भिन्नता लिए हुए हैं। वे धर्म को तर्क की कसौटी पर कसना चाहते हैं। उनकी दृष्टि में धर्म वह नहीं है जो अन्तरात्मा की चीज है बल्कि वह है जो धर्म-संगठनों का परिणाम है।

वर्तमान मानव की शंका

जब हम धर्म का नाम लेते हैं तो आज का मानव शंकित हृदय से पूछता है—धर्म से क्या लाभ है ? और आज तक क्या लाभ हुआ है इससे ? हजारों वर्षों से अनेकों धर्म-संस्थाएँ बनीं और बिगड़ गईं, अब भी अनेकों विद्यमान हैं किन्तु मनुष्य में क्या कोई परिवर्तन आया ? क्या वह दानव से देवता बन सका ? क्या उसने परस्पर सद्भावना, सहयोग एवं निःस्वार्थ सेवा का पाठ पढ़ा ? धर्म-संस्थाएँ जो दावा करती थीं कि वे मनुष्यों को विश्वबन्धुत्व का पाठ सिखाकर उनके हृदयों की दूरी को समाप्त कर देंगी, क्या वे उसमें सफल हुईं ? नहीं, पारस्परिक दूरी को मिटाना तो दूर वे सिर्फ उसे बढ़ावा ही देती रहीं। हिन्दू और मुसलमान वर्षों तक साथ रहकर भी

क्या एक-दूसरे को गले से लगा सके ? भारत विभाजन के समय धर्म के इन अनुयायियों ने जिस क्रूरता तथा आसुरी-वृत्ति का परिचय दिया क्या उसे भुलाया जा सकता है ?

भारतवर्ष अनेकानेक धर्मों का निवासस्थान है, किन्तु यहाँ के निवासी सुखी, सम्पन्न और नैतिक दृष्टि से सुदृढ़ होने के स्थान पर उत्तरोत्तर दुखी, दरिद्र और जर्जर होते गए। क्या इस अवनति का कारण धर्म-प्रसार के लिए बनी हुई धार्मिक संस्थाएँ ही नहीं हैं ? एक ओर जहाँ विज्ञान ने हजारों मील की भौगोलिक दूरी को समाप्त कर दिया। हम घर बैठे ही हजारों मील दूर रहने वाले व्यक्तियों की बातें सुन सकते हैं, उन्हें देख सकते हैं, इतना ही नहीं चन्द्रलोक तक भी जा सकते हैं। दूसरी ओर धर्म और धर्म-संगठनों ने क्या किया ? यह तो मनुष्यों के हृदयों की दूरी को भी नहीं मिटा सका। इस तनिक से व्यवधान को भी समाप्त नहीं कर सका। एक पंजाबी कवि भी कहता है—

दौर हुण देश विच चलया ए पाप दा।
गला जांदा घुटया ए, अज इन्साफ दा।
दिल में सचाई नूँ तां रहन दिंदे लोग ना।
रैंदी होगी कदे ऐथे, अज मिले खोज ना।

छल-कपट झूठ बढ़ता दिन-दिन जायदा-दौर हुण—
राम राज गाँधी एथे कैंहदे सी बनावांगे,
दर्शन दुखियाँ दे दुख नूँ मिटावांगे,
राज पर एथे हाये होया आपधाप दा—दौर हुण—

कवि का कथन है कि अब तो देश में पाप का दौर चल पड़ा है और इन्साफ का गला घुट रहा है। लोगों के दिलों में सच्चाई का तो नामोनिशान ही नहीं है। हो सकता है वह कभी यहाँ रहती होगी किन्तु आज तो खोजने से भी नहीं मिल रही है।

गांधीजी कहते थे कि यहाँ राम-राज्य की स्थापना करेंगे तथा दुखियों के दुखों को जड़मूल से मिटा देंगे। किन्तु अफसोस है कि आज तो यहाँ सब अपना-अपना राज्य जमाने की कोशिश कर रहे हैं। अपने ही स्वार्थ-साधन में लगे हुए हैं।

कहने का अभिप्राय यही है कि समाज की गिरती हुई दशा और मानव के हृदय में बढ़ते हुए स्वार्थ, छल, कपट, ईर्ष्या, कटुता आदि दुर्गुणों को देखकर अनेक व्यक्तियों की आस्था धर्म पर से उठती जा रही है और वे धर्म तथा धर्म-संगठनों को शंका की दृष्टि से देखने लगे हैं। किन्तु यह उनकी भूल है। वे धर्म के सच्चे स्वरूप को नहीं समझ पा रहे हैं। धर्म क्या है, और वह कहाँ रहता है, इस विषय में वे बड़े भारी भ्रम में हैं।

भ्रम निवारण

वास्तव में देखा जाय तो धर्म और धर्म-संस्थाओं में बड़ा भारी अन्तर है।

धर्म उन मौलिक और शाश्वत सिद्धांतों का नाम है जिनके आधार पर व्यक्ति और समाज टिके हुए हैं तथा जिनके न रहने पर इनका अस्तित्व रह नहीं सकता। इन सिद्धान्तों ने ही अब तक मानवता की रक्षा की है। जब-जब मनुष्य इन्हें भूला है उस पर घोर संकट आए। किन्तु उसी समय कोई महापुरुष उत्पन्न हुआ और उसने पुनः मनुष्य का ध्यान उस ओर आकृष्ट करके उसे विनष्ट होने से बचाया। इसीलिए कहा गया है—

"धर्म एव स्वसामर्थ्याहत्ते हस्तावलम्बनम्।"

—शुभचन्द्राचार्य

—पाप के गड्ढे में गिरते हुए प्राणी को केवल धर्म ही अपनी शक्ति के अनुसार सहारा और सहायता पहुँचाया करता है।

किन्तु स्वार्थान्ध मानव महापुरुषों की वाणी का सदुपयोग न करके उससे अपने अहंकार का पोषण करने लगा। वह भूल गया कि भगवान महावीर, बुद्ध, मुहम्मद और ईसामसीह अगर आपस में मिलते तो वे एक-दूसरे को गले से लगाते और उन्मुक्त हृदय से एक-दूसरे का स्वागत करते। किन्तु उनके अनुयायी उनका नाम ले-लेकर आपस में प्रतिस्पर्धा करने लगे। प्रत्येक अनुयायी यह चाहने लगा कि उसके धर्माचार्य ने जो कहा है सारा संसार उसी को सुने और उसी पर चले। केवल उसके धर्माचार्य को ही वंदन करे तथा उनकी वाणी के अलावा अन्य किसी की वाणी अपने कर्ण-कुहरों तक न पहुंचने दे। इतने पर भी अगर दूसरे व्यक्ति उस वाणी को न सुनते और न मानते तो तलवार, भालों और बन्दूकों से मनवाने का प्रयत्न करते।

परिणाम यह होता है कि इस प्रकार धर्म का मिथ्या अहंकार सच्चे धर्म की हत्या कर डालता है तथा धर्म उन्नति के स्थान पर पतन का कारण बन जाता है। धार्मिक-संस्थाएँ अथवा संगठन इस मिथ्याभिमान का मूर्त-रूप होते हैं। वे मनुष्य की विवेक-शक्ति को कुण्ठित कर देते हैं, अथवा नष्टप्राय करके छोड़ते हैं। वे मानव को अपनी आत्मा की आवाज नहीं सुनने देते तथा उसकी बुद्धि पर ऐसा परदा डाल देते हैं कि वह वास्तविकता से दूर हो जाता है और अपने अहंकार की पुष्टि को ही धर्म समझने लगता है।

धर्म का सच्चा स्वरूप

विश्व के अनेक विचारकों ने अपनी-अपनी दृष्टि से धर्म पर प्रकाश डाला है, उसके स्वरूप को प्रकट किया है। लार्ड मोर्लेन के कथनानुसार तो धर्म की अब तक करीब एक हजार व्याख्याएँ हो चुकी हैं। किन्तु अब हमें यह विचार करना है कि धर्म का वास्तविक स्वरूप क्या है? हमारे श्री कुन्दकुन्दाचार्य ने अत्यन्त संक्षेप में इसके विषय में कहा है:—

"वत्थुसहावो धम्मो।"

—वस्तु का स्वभाव ही धर्म है।

जिस प्रकार मिश्री मीठी, मिर्च चरपरी, नमक खारा तथा आँवला कसैला होता है, उसी प्रकार आत्मा अपने स्वभाव से सत्, चित् एवं आनन्दमय है; ज्ञान, दर्शन तथा चारित्रमय है। ऐसी आत्मा किसी भी काल और किसी भी समय में दुष्कर्मों के कुटिल और अन्धकारमय घेरे में कैसे रह सकती है? अहंकार और क्रूरता की परतों में उसे कैसे दबाया जा सकता है?

यदि प्रत्येक जीवात्मा अपने सहज और विशुद्ध स्वभाव में रह सके तभी हम कहेंगे कि वह धर्ममय है, स्वधर्म में स्थित है। आत्मा के सहज गुणों को, जिन्हें हम धर्म कहते हैं, दस प्रकार से बताया गया है :—

"खंती मुत्ती अज्जव मद्दव लाघव सच्चे
संजम तवे चेइम वंभचेर।"

—क्षमा, निर्लोभ, सरलता, मृदुता, लघुता, सत्य, संयम, तप, ज्ञानवृद्धि एवं ब्रह्मचर्य।

मनुस्मृति में भी धर्म के दस प्रकार माने गए हैं :—

धृतिः क्षमा दमास्तेय, शौचमिन्द्रियनिग्रहः।
धैर्यं विद्या सत्यमक्रोधो, दशकं धर्म लक्षणम्॥

अर्थात्—मन की स्थिरता, क्षमा, आत्मदमन, अचौर्य, शुद्धता, इन्द्रियनिग्रह, धैर्य, विद्या, सत्य तथा अक्रोध—ये धर्म के दस लक्षण कहे गये हैं।

धर्म के ये लक्षण प्रत्येक प्राणी की आत्मा के सहज और निज गुण हैं। ये केवल जैनग्रन्थों में अथवा मनुस्मृति में ही नहीं वरन् ईसाइयों के धर्म ग्रन्थ बाइबिल तथा इस्लाम धर्म के मुख्य ग्रन्थ कुरान शरीफ आदि सभी धर्मग्रन्थों में बताए गए हैं। कोई भी धर्मग्रन्थ यह नहीं कहता कि चोरी करो, असत्य बोलो, हिंसा करो, अथवा छल, कपट, झूठ और ईर्ष्या को हृदय में स्थान दो। सभी धर्मों के मूल नियम मानवता को नष्ट करने वाले इन दुर्गुणों को त्याग करने को कहते हैं।

हम जिस सत्, चित् और आनन्द के विषय में पहले कह चुके हैं, उनकी प्राप्ति एवं उनकी अनुभूति आत्मा को यदि हो सकती है तो वह विशुद्ध सत्य, संयम, तप और अहिंसा आदि में स्थित रहकर ही। क्योंकि आत्मा का यही स्वभाव है, तथा स्वभाव के विरुद्ध आचरण कभी सुख-शान्ति प्रदान कर ही नहीं सकता।

आत्म-स्वभाव की उपेक्षा करके क्रिया-काण्ड को महत्त्व देने वाले और इनके कारण आपस में झगड़ने वाले अज्ञानियों को महात्मा कबीर ने भी बार-बार फटकारा है। धर्म के सम्बन्ध में कबीर के विचार बड़े उदार थे। वे राम, रहीम, महादेव, मुहम्मद सभी को एक ही परमात्मा के भिन्न-भिन्न रूप मानते थे। उनका कथन है :—

दुइ जगदीश कहाँ ते आए कहु कौने भरमाया।
अल्ला राम करीम केशव हरि हजरत नाम धराया॥

गहना एक कनक ते गहना तामें भाव न दूजा।
कहन सुनन को दुइ कर राखे यक नमाज यक पूजा॥
वही महादेव वही मुहम्मद ब्रह्मा आदम कहिये।
कोई हिन्दू कोई तुरक कहावे एक जिमी पर रहिये॥
वेद किताव पढ़ें वे कुतवा वे मौलाना वे पांडे।
विगत विगत के नाम धराये यक माटी के मांडे॥

कवीरजी ने सभी धर्मावलम्बियों को एकता का उपदेश देते हुए मिथ्या अभिमान, मिथ्या आडम्बर और ढोंग को हटाने के लिये सदा प्रयत्न किया। क्योंकि वे जानते थे कि यह वृथा आडम्बर ही भिन्न-भिन्न मतावलम्बियों में मतभेद उत्पन्न करता है।

धर्म आत्म-विकास का एकमात्र साधन है। इस पर शंका करना या इसके विषय में मतभेद करना जीवन में अमंगल को आमंत्रित करना है। भारतवर्ष की संस्कृति ने सदा ही धर्मशील जीवन जीने का आग्रह किया है। तथा हमारा जैनधर्म, भारत का अनन्य दर्शन, पुकार-पुकार कर कहता रहा है :—

"न धर्म सदृशः कश्चित् सर्वाभ्युदय साधकः।
धर्मो गुरुश्च मित्रं च धर्मः स्वामी च बान्धवः॥"

—[illegible]

—सभी प्रकार की भौतिक और आध्यात्मिक उन्नति की कामना करने वाला धर्म के समान दूसरा कोई भी पदार्थ नहीं है।

—धर्म गुरु भी है और मित्र भी है। इसी तरह से धर्म स्वामी भी है और बंधु भी है।

हम पहले विचार कर चुके हैं कि आत्मा के जो [illegible] गुण हैं उन्हीं का नाम धर्म है। सृष्टि के प्राणियों का अस्तित्व आत्मा के कारण से ही है। आत्मा के अतिरिक्त शेष जो कुछ है, वह जड़ है अनित्य है। अतः जब हम अपनी मुक्ति के विषय में विचार करते हैं, तब हमें [illegible] रूप से ही अपनी आत्मा के विकास और विशुद्धि का ही विचार करना होता है।

प्रत्येक वह व्यक्ति, जो अपने दुर्लभ मानव-जीवन को व्यर्थ नहीं गँवाना चाहता, उसे अपनी आत्मा को भलीभांति जानना चाहिए। उसे विश्वास होना चाहिए कि —

निरामयो [illegible] [illegible]।
निर्विकारो [illegible] [illegible]॥

—राग-द्वेष से जनित किसी भी प्रकार के विकार से मैं रहित हूँ, शरीर-इन्द्रिय आदि भौतिक पदार्थों से रहित होने के कारण से मैं पूर्णतया निराकार हूँ, मैं सर्वथा निर्दोष हूँ, अनादि-अनन्त रूप होने से अव्यय हूँ, अक्षय और शाश्वत हूं।

आत्मा का निज गुण जैसा कि मैंने कहा है सत्, चित् और आनन्दमय है तथा वह अपने आप में सहज और विशुद्ध है किन्तु जिस प्रकार जल स्वभाव से शीतल होने पर भी अग्नि के संसर्ग से गरम हो जाता है उसी प्रकार आत्मा भी क्रोध, मान, माया तथा लोभादि कषायों के वशीभूत होकर कर्म-बंधनों में जकड़ जाती है। कषाय के कारण कर्म-परमाणुओं का आत्मा से मिल जाना अर्थात् बँध जाना ही बंध कहलाता है। और उनसे मुक्त न हो सकने के कारण वह नाना गतियों में भ्रमण करती रहती है। इसीलिये हमारे जैनाचार्य बार-बार प्राणियों को आगाह करते हैं :—

"बुज्झिज्ज तुयट्टिज्जा।"

—बंध को भलीभाँति समझो और तोड़ो।

यह सब केवल तात्त्विक विवेचन ही नहीं है, अपितु अधिक से अधिक उपयोगी और व्यावहारिक विचार भी है। आत्मा के सहज-स्वभाव अर्थात् 'धर्म' के विपरीत आचरण करने पर कर्मों का बन्धन होता है और आत्मा को अनेक जन्मों तक भी उनसे छुटकारा नहीं मिलता। साथ ही मनुष्य को इस लोक में भी अपयश और दुःख का भागी बनना पड़ता है। क्योंकि धर्म हमें आचरण की शिक्षा देता है और आचरण से पृथक हो जाने पर जीवन में कुछ भी शेष नहीं रहता। जिस क्षण से हमारा आचरण गलत होना प्रारम्भ हो जाता है, उसी क्षण से जीवन का नाश आरम्भ हो जाता है। कहा भी है :—

"क्रियाविहीनाः खरवद्वहन्ति।"

—सुश्रुत

भावार्थ—जो व्यक्ति ज्ञानी होने पर भी क्रिया अर्थात् आचरण से शून्य हैं तो वे गधे के समान ही ज्ञान का बोझा ढोने वाले हैं। उनके जीवन में कोई सार नहीं है।

आचारः परमो धर्मः

संस्कृत में कहा गया है—आचार ही सबसे पहला धर्म है। व्यक्ति कितने भी धर्मशास्त्र पढ़ जाय और श्रवण करले, किन्तु अगर उसे जीवन में न उतारे तो उससे कोई लाभ नहीं होता। वह उसके लिये भारभूत ही साबित होता है। ठीक वैसा ही, जैसा कि अभी-अभी मैंने एक उदाहरण दिया है। गधे की पीठ पर भले ही चन्दन की भारी रख दी जाय, पर वह उसके लिये बोझ के अलावा और कुछ महत्त्व नहीं रखता। इसी प्रकार विद्वान पुरुष अगर अपनी विद्या अथवा ज्ञान को आचरण में न उतारे तो उसकी विद्वत्ता का कोई मूल्य नहीं होता।

न ज्ञानात्परं चक्षुः

यह नितान्त सत्य है कि ज्ञान सृष्टि की सर्वश्रेष्ठ वस्तु है। भौतिक पदार्थों के

और आध्यात्मिक तत्त्वों के स्वरूप को समझने के लिये ज्ञान के अतिरिक्त दूसरी कोई आँख इतनी शक्तिशाली नहीं है। ज्ञान के अभाव में न भौतिक-साधना ही हो सकती है और न ही आध्यात्मिक साधना। ज्ञान ही वह अद्वितीय शक्ति है जो मन के विकारों को नष्ट करके उसे दोषरहित और पवित्र बनाती है तथा आत्मा को कर्म-बन्धनों से मुक्त होने में सहायक बनती है। कहा भी है :—

"तपसा किल्विषं हन्ति विद्ययाऽमृतमश्नुते।"

—मनुस्मृति

—तप की साधना करने से पाप नष्ट हो जाते हैं और ज्ञान की आराधना करने से "आत्मा की अनन्तता" प्राप्त होती है।

किन्तु यह कब हो सकता है ? जबकि ज्ञान को केवल मस्तिष्क में ही संचित न करके आचरण में उतारा जाय। जिस प्रकार रोगी औषधि के उच्चारण मात्र से ही निरोग नहीं हो सकता, उसी प्रकार तोतारटंत स्वाध्याय अर्थात् शास्त्रों के पठन-पाठन से भी मनुष्य को कोई लाभ नहीं होता। ढेर सारे शास्त्र पढ़कर भी लोग मूर्ख रह जाते हैं विद्वान केवल वही कहलाता है जो उनके अनुसार आचरण करता है। आज के युग-पुरुष महात्मा गांधी ने भी कहा है—

The end of all knowledge must be the building up of character.

—विद्या का अन्तिम लक्ष्य चरित्र-निर्माण होना चाहिए।

विद्या सर्वत्र पूज्यते

विद्या के बल पर मनुष्य सब जगह पूजा जाता है। बड़े-बड़े राजा और बादशाह केवल अपने राज्य में ही पूजे जाते हैं किन्तु विद्वान की पूजा सभी देशों में होती है। हमारे महाकवि कालिदास और रवीन्द्रनाथ टैगोर अपनी विद्वत्ता के कारण ही संसार-पूज्य बन सके हैं। किन्तु ऐसी विद्या भी जिसके सामने नत-मस्तक होती है, वह है आचार। आचरण के समक्ष विद्या को झुकना ही पड़ता है।

धर्म-प्रचार कैसे हो ?

हम सदा उच्च स्वर से 'धर्म की जय हो' के नारे लगाते हैं, हमेशा कहते हैं कि हमारे अनन्य दर्शन का प्रचार और प्रसार हो। लेकिन वह कैसे किया जाय—इसे हम सही ढंग से नहीं सोचते। क्या महावीर जयन्ती पर विशाल जुलूस निकाल करके अथवा अठाई और मासखमण के उपलक्ष में हजारों व्यक्तियों का जीमनवार करके धर्म का प्रचार किया जा सकता है ? नहीं, इस प्रकार के भोज तो अन्य लाखों व्यक्तियों के भूख से तड़पकर मरने का कारण बनते हैं। हम एक दिन में जितना मेवा मिष्टान्न खाकर पैसा बर्बाद करते हैं, उतने पैसों में तो अनेकों क्षुधित दरिद्रों को कई दिन दाल-रोटी मिल सकती है। ऐसे समारोहों से धर्म का प्रचार नहीं होता।

धर्म-प्रचार का सच्चा मार्ग आचार है। आप अपने धर्म का सचमुच प्रचार करना चाहते हैं तो आपको अपने आचरण से दूसरों पर प्रभाव डालना होगा। अगर आप चाहते हैं कि अन्य व्यक्ति झूठ न बोलें, चोरी न करें, अहिंसा का पालन करें तथा संयम का महत्त्व समझकर उसे अपनाएँ तो आप जैन कहलाने वालों को इन्हें पूरी तौर से अपने जीवन में उतारना होगा तभी धर्म की सच्ची प्रभावना हो सकेगी।

हजरत मुहम्मद प्रतिदिन मसजिद में नमाज पढ़ने जाया करते थे। रास्ते में एक बुढ़िया का घर था जो कि बड़ी कर्कशा और धर्म से घृणा करने वाली थी।

मुहम्मद को रोज नमाज पढ़ने जाते देखकर बुढ़िया को बुरा लगता था। अतः उसने उन्हें परेशान करने की तरकीब सोची। वह यह थी कि हजरत जब उसके घर के सामने से गुजरें तो उन पर घर का झाड़कर इकट्ठा किया हुआ सारा कूड़ा-करकट डाल देना। अगले दिन से उसने अपनी तरकीब को काम में लाना प्रारम्भ कर दिया।

प्रतिदिन हजरत मुहम्मद उधर से निकलते और दुष्ट बुढ़िया उन पर कचरा डाल देती। किन्तु मुहम्मद साहब ने कभी भी इसके लिये बुढ़िया को उपालम्भ नहीं दिया। वे शान्त भाव से कचरा झाड़कर मसजिद की ओर चल देते और ईश्वर से वृद्धा को सद्बुद्धि देने की प्रार्थना करते।

यह क्रम बहुत दिन तक चलता रहा। पर एक दिन मुहम्मद साहब ने देखा कि बुढ़िया ने उनके उधर से निकलने पर कचरा नहीं डाला। उन्हें आश्चर्य हुआ कि क्या कारण है? क्षणभर सड़क पर ठहरकर वे बुढ़िया के घर में चले गए। अन्दर जाने पर मालूम हुआ कि वृद्धा बीमार है। मुहम्मद साहब ने नमाज पढ़ने जाना स्थगित कर दिया और वृद्धा की सेवा-सुश्रूषा में लग गए।

बुढ़िया कुछ दिन में ही ठीक हो गई। उसने हजरत मुहम्मद की प्रतिदिन कचरा डालने पर भी विरोध न करने की प्रवृत्ति तथा अपनी बीमारी में की गई सेवा को देखा तो वह उनकी सहनशीलता तथा सेवा-भावना से इतनी प्रभावित हुई कि उनके धर्म में दीक्षित हो गई।

यह प्रभाव हजरत मुहम्मद के आचरण का था न कि उनके ज्ञान का। इससे स्पष्ट हो जाता है कि मनुष्य जो कुछ दूसरों से करवाना चाहता है, वह उसे स्वयं करना चाहिये। मनुष्य के उपदेश का प्रभाव औरों पर नहीं पड़ता है बल्कि उसके किये गये कार्य का प्रभाव पड़ता है। गीता में कहा भी है—

यद्यदाचरति श्रेष्ठस्तत्तदेवेतरो जनः।
स यत्प्रमाणं कुरुते लोकस्तदनुवर्तते॥ —श्रीकृष्ण

—श्रेष्ठ पुरुष जो-जो करता है, अन्य पुरुष भी उसके अनुसार व्यवहार करते हैं। वह जो आदर्श स्थापित कर देता है, लोग उसके अनुसार चलते हैं।

आचार और विचार

आचार और विचार एक दूसरे से घनिष्ट सम्बन्ध ही नहीं रखते अपितु एक दूसरे के पूरक भी हैं। जब तक आचार को विचारों का सहयोग प्राप्त नहीं होता, अथवा विचार आचार रूप में परिणत नहीं होते तब तक जीवन का यथार्थ विकास नहीं हो सकता। जिन विद्याओं में आचार और विचार, दोनों के अंकुर होते हैं वे ही विद्याएँ मनुष्य के व्यक्तित्व का वास्तविक विकास कर सकती हैं। महात्मा गांधी का कथन है—

"आचरण-रहित विचार कितने भी अच्छे क्यों न हों उन्हें खोटे सिक्के की तरह समझना चाहिए।"

वस्तुतः मनुष्य वैसा ही बन जाता है जैसे उसके विचार होते हैं। रचनात्मक विचारों से निर्माण शक्ति का उत्तरोत्तर विकास होता है। प्रत्येक युग में जो महान घटनाएँ घटती हैं वे उत्तम विचारों का ही परिणाम होते हैं। विचार स्वयं ही कार्य में परिणत होने के मार्ग ढूंढ़ लेते हैं। एक पाश्चात्य विद्वान ने कहा है—

"Great thoughts reduced to practice become great acts."

—हैजलिट

—महान विचार कार्य रूप में परिणत होने पर महान कर्म बन जाते हैं।

संक्षेप में यह कहा जा सकता है कि विचार रूपी नियन्त्रण अगर छूट जाये तो आचार अन्धा हो जाता है तथा आचरण में न उतारे जायें तो विचार पंगु बन कर रह जाते हैं। विचारों अथवा आदर्शों का व्यावहारिक रूप ही आचार है। हम सैकड़ों महापुरुषों की जीवनियाँ पढ़ते हैं, उनकी जयन्तियाँ मनाया करते हैं किन्तु उससे क्या लाभ है अगर हमने उन युग-पुरुषों के गुणों को जीवन में नहीं उतारा तो....।

श्री गुरुदत्त विद्यार्थी स्वामी दयानन्द सरस्वती के संपर्क में काफी समय रहे थे। अतः किसी व्यक्ति ने उनसे कहा—आप स्वामीजी के घनिष्ठ सम्पर्क में रहे हैं तो उनका जीवन-चरित्र लिख क्यों नहीं डालते?

"लिखने की कोशिश कर रहा हूँ।" गुरुदत्तजी ने उत्तर दिया।

"कब तक पूरा हो जायेगा?" प्रश्नकर्ता ने पुनः पूछा।

गुरुदत्तजी ने कहा—"भाई मैं उसे कागज पर नहीं वरन् स्वभाव में अङ्कित करने का प्रयत्न कर रहा हूँ अतः अभी समय लगेगा।"

इसी प्रकार उत्तम आचरण का निर्माण किया जाता है। प्रत्येक छोटे से छोटा गुण भी यदि व्यवहार में उतार लिया जाय तो मनुष्य अन्य व्यक्तियों के लिये आदर्श-रूप बन जाता है। व्यक्तिगत चरित्र ही जाति और समाज को उन्नत बनाता है। कठिनाइयों को जीतने से, वासनाओं का दमन करने से तथा दुःखों को सहन करने से चरित्र उच्च, सुदृढ़ और निर्मल होता है। चरित्र के बल पर ही मनुष्य

कार्य, प्रलोभन और परीक्षा के संसार में दृढ़तापूर्वक स्थिर रहते हैं और भाग्य को भी बदल डालते हैं। पाश्चात्य विद्वान बोर्डमैन का इस विषय में अत्यन्त सुन्दर और सत्य कथन है—

"Sow an act and you reap a habit; sow a habit and you reap a character; sow a character and you reap a destiny." —बोर्डमैन

—कर्म को बोओ और आदत (की फसल) को प्राप्त करो; आदत को बोओ और चरित्र को प्राप्त करो; चरित्र को बोओ और भाग्य को प्राप्त करो।

चरित्र के निर्माण और उसके महत्त्व का कितना सुन्दर विवेचन किया गया है। मनुष्य जब उत्तम कार्य करने लगता है तो धीरे-धीरे वह उसका स्वभाव बन जाता है तथा शुभ कार्य करने का स्वभाव अथवा आदत ही चरित्र कहलाता है और चरित्र वह शक्ति अथवा पुरुषार्थ है जिसके द्वारा भाग्य निर्मित होता है तथा दुर्भाग्य को सौभाग्य में बदला जा सकता है।

चरित्र किसे कहते हैं ?

चरित्र का सरल और सीधा अर्थ है हम जो-जो भी अच्छा देखें, सुनें और पढ़ें उसे जीवन में उतार लें। अमुक रंग के कपड़े पहन लेना तथा अमुक संप्रदाय में दीक्षित हो जाना चरित्र का अर्थ नहीं है। चरित्र का सम्बन्ध वेष-भूषा से नहीं होता उसका सम्बन्ध आन्तरिक गुणों से होता है। कुर्ता, पाजामा, कोट, पतलून अथवा अचकन का निर्माण व उसके नए-नए डिजायनों का आविष्कार केवल दरजी करते हैं किन्तु आत्मिक गुणों का विकास, उनका संवर्धन और संचालन महापुरुष ही कर सकते हैं। जिनका संक्षिप्त नाम चरित्र है। शरीर का बाह्य सौन्दर्य और ऊपरी टीम-टाम चरित्र नहीं कहलाता, चरित्र आन्तरिक सौन्दर्य का नाम है। गांधीजी की वेष-भूषा में क्या आकर्षण था ? कुछ भी नहीं, केवल ऊँची धोती और तन पर लपेटी हुई चादर ही उनकी पोशाक थी पर उनके जैसी आन्तरिक दृढ़ता और सौन्दर्य क्या सहज ही उपलब्ध हो सकता है ? नहीं, विरले महापुरुषों में ही वैसी चारित्रिक दृढ़ता उपलब्ध होती है। गांधीजी की वज्र सदृश दृढ़ता का ही परिणाम था कि हिन्दुस्तान के कोने-कोने में लोगों के दिलों में स्वतन्त्र होने की भावना जाग गई और उस भावना ने भारत को आजाद करा कर ही छोड़ा। इसीलिये कहा गया है—

"Character is a diamond that scraches every other stone."

—बर्टले

—चरित्र एक ऐसा हीरा है जो हर किसी पत्थर को घिस सकता है।

आचारधर्म

भगवान महावीर ने गृहस्थ और साधु दोनों के चारित्र का विधान किया है। जिसे अनगारधर्म और आगारधर्म के नाम से कहा जाता है। चारित्र के अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह ये पाँच मूल अंग हैं। साधु के लिए तो इनका

पूर्णरूप से पालन करने का विधान है, किन्तु गृहस्थ को परिवार का पालन-पोषण करना पड़ता है। उसके लिए अर्थ का उपार्जन भी अनिवार्य है तथा अन्य गार्हस्थिक कर्तव्यों का भी। अतः उसे यथासम्भव इनके पालन का प्रयत्न करना चाहिए—यह हमारा जैनधर्म कहता है। इसी दृष्टि से श्रावक के लिए बारह व्रतों का पालन तथा तीन उत्तम मनोरथों के चिन्तन का विधान किया गया है। उसके लिए आवश्यक है कि वह महारम्भ से अल्पारम्भ की ओर प्रवृत्ति करे।

महारम्भ से कैसे बचा जाय ?

आज के युग का मानव तर्क-वितर्क करने में दक्ष होता है। वह कहता है—अहिंसा का अर्थ किसी भी जीव की हिंसा नहीं करना होता है। किन्तु क्या मनुष्य का कोई भी कार्य हिंसा के बिना हो सकता है ? खाने में, पीने में, बैठने में, चलने इत्यादि में सभी जगह हिंसा होती है तब फिर अहिंसा का पालन कैसे किया जा सकता है ? वह अंग्रेजी का उदाहरण देता है—

'Living is killing.'

—जीवन के लिए संहार करना ही पड़ता है।

संस्कृत में भी कहा है—

"जीवो जीवस्य जीवनम्"

—जीव ही जीव का जीवन है।

अर्थात् अनाज के जीवों को खाकर ही तो मनुष्य जीता है फिर अहिंसा का पालन कैसे हो सकता है ?

किन्तु अगर हम यही समझ कर बैठे रहेंगे तो अहिंसा जैसे महान् व्रत का पालन कैसे होगा ? अतः हमें अपने विवेक के द्वारा समझना चाहिए कि—

"Killing least is living best."

अर्थात्—कम हिंसा करना ही जीवन को उत्तम और अहिंसामय बनाना है।

जगत में त्रस और स्थावर दो प्रकार के जीव होते हैं। त्रस जीव द्वीन्द्रिय से लेकर पंचेन्द्रिय तक कहलाते हैं। उन्हें जानबूझ कर मारने का त्याग करना तो गृहस्थ के लिए अनिवार्य है ही किन्तु लापरवाही और असावधानी से भी उनकी हिंसा न हो इसका ध्यान प्रत्येक गृहस्थ को रखना आवश्यक है।

इसके अलावा किसी प्राणी को जान से मार डालना ही हिंसा नहीं है, वरन् किसी कार्य से अगर किसी प्राणी को दुःख होता है तो वह भी हिंसा ही है। आप मील में बने हुए वस्त्र पहनते है, क्या आपने कभी इस पर विचार किया है कि इससे गृह-उद्योग से रोजी कमाने वाले कितने व्यक्तियों का वृत्तिच्छेद होता है ? मील में काम करने वाला एक व्यक्ति ही करीब एक सौ पचास चर्खों पर सूत कातने वालों की रोजी छीन लेता है। अगर आप मील के कपड़ों का त्याग करके खादी के वस्त्र पहनें तो भी अहिंसामय जीवन यापन कर सकते हैं। अर्थात् महारम्भ से अल्पारम्भ की ओर प्रवृत्ति कर सकते हैं।

किन्तु आप दलील देते हैं कि हम तो मील के तैयार किये हुए वस्त्र पहनते हैं, ठीक जापान आदि के अहिंसक कहलाने वाले बौद्धों के समान कि—'हम किसी का वध नहीं करते सीधा मिला हुआ मांस खाते हैं।'

दलीलें दोनों ही निस्सार हैं। मांस खाने वालों के लिए जीवों का वध किया जाता है तथा कपड़ा पहनने वालों के लिए कपड़ा बनाया जाता है। खपत न होने पर कोई वस्तु तैयार नहीं की जाती। अगर यह विचार आपके दिलों में नहीं है तो आप भावहिंसा से नहीं बच सकते। आप कीड़े-मकोड़ों की रक्षा करते हैं, किन्तु आपके कारण परोक्ष में जिन प्राणियों को दुःख प्राप्त होता है उनकी ओर ध्यान नहीं देते तो आपकी अहिंसा केवल रूढ़ि-मात्र अहिंसा है। आप मांस खाना पाप समझते हैं और कोई सहस्र रुपया भी दे तो आप मांस नहीं खाते किन्तु भाव-अहिंसा के अभाव में चार रुपये लेकर ही अदालत में झूठी गवाही दे आते हैं। फिर कैसे अहिंसा का पालन होगा ? अहिंसा चारित्र का प्रधान अंग है। हिंसा को जिस प्रकार पापों में सबसे बड़ा पाप माना गया है, उसी प्रकार चारित्र में अहिंसा को सर्वोत्तम कहा गया है। इसीलिए प्रत्येक गृहस्थ को अधिक से अधिक अहिंसामय बनने का प्रयत्न करना चाहिए।

सत्यं शिवं सुन्दरम्

अहिंसा के समान ही सत्य भी आचारधर्म का अत्यन्त महत्त्वपूर्ण और कल्याणप्रद अंग है। अतः इसके विषय में हमें सर्वप्रथम यह समझ लेने की आवश्यकता है कि सत्य का स्वरूप क्या है ? ईश्वर कहाँ है ? कैसा है ? उसने सृष्टि की रचना कब की और कैसे की ? इत्यादिक प्रश्नों का निर्णय तो आज तक कोई भी दार्शनिक सच्चे मायनों में नहीं कर पाया है, और नहीं कर पाया है तो भी हमारे लिए कोई हानिप्रद बात नहीं, किन्तु सत्य का स्वरूप अगर हम नहीं समझ सके तो हमारा जीवन निरर्थक है।

सत्य का स्वरूप

जैसा मनुष्य आँखों से देखे और सुने, वैसा ही बोले, यह तो सत्य की साधारण व्याख्या है किन्तु व्यापक और पूर्ण व्याख्या यह है कि मनुष्य अपनी वाणी, विचार और आचरण में भी सत्य का उपयोग करे, किसी भी स्थिति में चाहे वह विपत्तियों से घिरा हो या प्राण-भय उसके मस्तक पर मंडरा रहा हो, असत्य भाषण न करे। हमारे जैनग्रन्थों में अरणक श्रावक का सुप्रसिद्ध उदाहरण आता है, जिसे आप सब भी जानते ही होंगे कि एक बार समुद्र यात्रा करते समय एक देवता ने उनकी परीक्षा करने हेतु कहा—"अरणक तुम यह कह दो कि मेरा धर्म झूठा है, मेरा सत्य झूठा है ! अन्यथा मैं इसी क्षण तुम्हें जान से मार डालूंगा।" सत्यवादी अरणक ने मर जाना कबूल किया किन्तु अपने सत्य का त्याग नहीं किया। सत्यवादी हरिश्चन्द्र की कथा भी जगत्-प्रसिद्ध है कि उन्होंने सत्य के लिए सर्वस्व का, यहाँ तक कि प्रिय पत्नी और पुत्र का भी त्याग कर दिया। तभी शास्त्रकारों ने कहा है—

"सच्चस्स आणाए उवट्ठिए मेहावी मारं तरति ।"

—सत्य की आज्ञा में खड़ा हुआ विवेकी पुरुष मृत्यु को भी जीत लेता है। अर्थात् वह मृत्यु से रंचमात्र भी नहीं डरता।

लेकिन आज के मानव की क्या हालत है ? वह चन्द पैसों के लोभ में ही सत्य का बलिदान कर देता है। प्राचीन काल में अगर जैनधर्म का पालन करने वाला व्यक्ति अदालत में जाकर किसी की गवाही देता था तो उस पर निर्विवाद और अकाट्य रूप से विश्वास किया जाता था। सारा संसार मानता था कि 'जैन' कभी असत्य भाषण नहीं करता। किन्तु आज उसी जैन कहलाने वाले व्यक्ति को लोग 'कलम-कसाई' कहते हैं। इस प्रकार सत्य को असत् मार्ग पर धकेला जा रहा है। हम एक दुराचारी व्यक्ति से घृणा करते है, पर असत्य बोलने वाले से भी घृणा होती है क्या ? जबकि हमें जितनी घृणा दुराचारी पुरुष को देखकर होती है, उतनी ही घृणा असत्य-भाषण करने वाले के प्रति भी होनी चाहिए। दुराचारी व्यक्ति के समान ही असत्यभाषी भी समाज के लिए घातक सिद्ध होता है। एक दार्शनिक का कथन भी है—

"Every violation of truth is a stab at the health of human society."

—एमर्सन

—सत्य का प्रत्येक उल्लंघन मानव-समाज के स्वास्थ्य में छुरी भोंकने के समान है।

सत्य जीवन का सौन्दर्य है। किसी व्यक्ति का शरीर कितना भी सुन्दर हो, एक-एक अंग सुडौल हो किन्तु अगर उसके मुख-मंडल पर नासिका न हो तो क्या उस सौन्दर्य का महत्व रहेगा ? नहीं, इसी प्रकार सत्य के बिना अन्य अनेक गुण भी गंधरहित पुष्प के समान फीके और निस्तेज जान पड़ते हैं।

सत्य मानव का जन्मजात गुण है। नवजात शिशु का अपनी माँ से जिस प्रकार सहज सम्बन्ध हो जाता है उसी प्रकार सत्य का भी उससे सम्बन्ध होता है। इसका प्रमाण भी यही है कि बालक शैशवावस्था में झूठ नहीं बोलता। वह सत्य बोलना ही प्रारम्भ करता है। झूठ बोलना तो वह बाद में औरों की देखा-देखी सीखता है। झूठ बोलना उसे सीखना पड़ता है किन्तु सत्य बोलना उसे स्वाभाविक रूप से हो जाता है। मनुष्य को सत्य से स्वभावतः प्रेम होता है। भले ही वह स्वयं कारणवश झूठ बोलता हो, किन्तु अगर कोई अन्य व्यक्ति उसके सामने झूठ बोले और उसे सत्यता ज्ञात हो तो फौरन क्रोध से भर जाता है। इससे साबित होता है कि सत्य मनुष्य का नैसर्गिक गुण है।

महात्मा गांधी ईश्वर को मानते थे लेकिन सत्य को उससे अलग नहीं मानते थे। उनका कथन था—सत्य ही ईश्वर है। सत्य का महत्त्व बताते हुए एक स्थान पर उन्होंने लिखा है :—

"जो सत्य जानता है; मन से, वचन से और शरीर से सत्य का आचरण करता है, वह परमेश्वर को पहचानता है। इससे वह त्रिकालदर्शी हो जाता है। उसे इसी देह में मुक्ति प्राप्त हो जाती है।"

हमारे प्रश्नव्याकरणसूत्र में भी कहा है—

"सच्चं खु भगवं।"

—सत्य ही भगवान है।

वस्तुतः भगवान को भगवान बनाने वाला सत्य ही है ? अतः सत्य भगवान से भी उच्च है। अगर हम भगवान का स्मरण न करें तो वह उतना हानिकर नहीं है, जितना हानिकर है सत्य को स्मरण न रखना। जिस प्रकार चंदन घिसे जाने पर अधिकाधिक सुगन्ध प्रदान करता है तथा सुवर्ण तपाये जाने पर अधिकाधिक चमकता है उसी प्रकार सत्यवादी पुरुष ज्यों-ज्यों विपत्तियों का सामना करता है, उसका बल अधिक बढ़ता है। सत्य का बल असीम होता है। कोई भी अन्य शक्ति उस पर विजय प्राप्त नहीं कर सकती। सत्य अनन्त रूप में असत्य की अपेक्षा अधिक प्रभावशाली होता है। सत्य की स्तुति महात्मा कबीर ने भी बड़े सरल और सुन्दर ढंग से की है :—

साँचे साप न लागई, साँचे काल न खाय।
साँचे को साँचा मिले, साँचे माँहि समाय ॥

कितनी सुन्दर और सत्य उक्ति है ? ऐसा अतुल बलशाली सत्य हमारे जैनाचार का द्वितीय अंग है। इसका पालन करना प्रत्येक मनुष्य का धर्म है। सत्याचरण का स्थान जीवन में सर्वोपरि होना चाहिए।

अचौर्य

अभी मैंने आपको चारित्र धर्म के प्रथम अंग अहिंसा एवं द्वितीय अंग सत्य के विषय में बताया है। अब हम अचौर्य के विषय में विचार करेंगे जो कि आचार का तृतीय अंग है।

अचौर्य के सही मायने

अचौर्य का सरल और सीधा अर्थ तो है चोरी नहीं करना। चोरी करके किसी का धन निकाल कर ले जाना अथवा दरवाजा खुला पाकर कोई भी वस्तु उठा लेना चोरी कहलाता है और चोरी का यह अर्थ सभी जानते हैं।

लेकिन अगर गहराई से विचार किया जाय तो समझ में आ जायेगा कि चोरी केवल बिना पूछे किसी की वस्तु उठा लेना ही नहीं कहलाती वरन् उसके और भी अनेक प्रकार हैं। जैसे—हमने किसी वस्तु को प्राप्त किया, किन्तु उसका सदुपयोग नहीं किया तो वह चोरी कहलाएगा। हमारी इन्द्रियों को प्रकृति ने जिस कार्य के लिये बनाया है उन कार्यों को न करके इन्द्रियों को गलत कार्य में प्रवृत्त करना भी चोरी है तथा आवश्यकता से अधिक वस्तुओं का तथा रुपये-पैसों का संचय करना भी चोरी

है। अचौर्य के साथ अपरिग्रह का घनिष्ठ संबंध है जो अपरिग्रही होता है वही अचौर्य व्रत का पालन कर सकता है। धन का लोभ केवल चौर्य-कर्म करने को ही प्रेरित नहीं करता वरन् कभी-कभी तो प्राणियों के घात का भी कारण बन जाता है।

पिशाच से मुठभेड़

दो भाई एक बार धन कमाने के लिये परदेश जा रहे थे। रास्ते में उन्हें एक संत मिले जो भागे हुए आ रहे थे। नौजवान भाइयों को देखते ही वे बोले—

बेटा! इस रास्ते से मत जाओ आगे एक भयंकर पिशाच बैठा है। लौट जाओ, अन्यथा उसका शिकार बन जाओगे।

दोनों भाई सुनकर हैरान हुए और साधु से इस विषय में पूछने के लिये रुके, किन्तु तब तक साधु तो दौड़ते हुए दूर चले गये। दोनों युवक राजपूत थे और उनके पास बन्दूकें भी थीं। सोचने लगे कि संत निहत्थे होने से डर गये हैं, हमें किस बात का डर? और वे आगे बढ़ गये।

कुछ दूर चलने पर रास्ते में उन्हें कुछ थैलियाँ पड़ी हुई दिखाई दीं। कौतूहल-वश वे अपने ऊँट से नीचे उतरे और थैलियों को खोलकर देखने लगे। उनमें अश-र्फियाँ भरी हुई थी जो गिनने पर पूरी दस हजार निकलीं।

दोनों भाई बेहद खुश हुए। बड़ा भाई बोला—"आगे जाने की अब आवश्यकता ही नहीं है। हमारा उद्देश्य तो यहीं पूरा हो गया। बस अब कुछ खा-पीकर लौट चलें। तुम जाकर पास के गाँव से कुछ खाने-पीने को ले आओ।"

छोटा भाई गाँव की ओर चला गया। इधर दस हजार अशर्फियों के पास बड़ा भाई अकेला बचा। उसने सोचा—"दस हजार मुहरें हैं पर आधी छोटे भाई को देनी पड़ेंगी तो मेरे पास पाँच हजार ही बचेंगी। क्यों न मैं इस मनहूस को मारकर पूरी मोहरों का मालिक बन जाऊँ?"

इधर छोटे भाई के मन में भी ऐसी ही भावना आयी। अतः वह बड़े भाई को मारने के लिये खाद्य-वस्तुओं में जहर मिलाकर ले आया।

ज्योंही छोटा भाई मन ही मन खुश होता हुआ बड़े भाई के समक्ष आया उसने बन्दूक उठाकर गोली चला दी। कटे वृक्ष की तरह छोटा भाई वहीं गिरकर खत्म हो गया।

अपनी करतूत पर प्रसन्न होता हुआ बड़ा भाई खाने बैठा और भरपेट मिठाई खा गया। परिणाम जो होना था वही हुआ। दोनों ही दस हजार अशर्फियों के मालिक बनने की कल्पना करते हुए स्वर्ग सिधार गये।

संयोगवश अगले दिन वही संत उधर से लौटे। अशर्फियों से भरी हुई थैलियों के पास दोनों भाइयों की लाशें देखकर वे अत्यन्त दुखी हुए और उनके मुँह से उद्गार निकल पड़े—"आखिर ये दोनों भा-मनस पिशाच के शिकार बन ही गये।"

धन का लालच ऐसा ही भयानक पिशाच है जो मनुष्य को चोरी, हत्या और इसी प्रकार के अकरणीय कर्म करने को प्रेरित करता है दूसरे प्रकृति इतना कुछ पैदा करती है कि सब प्राणी अपना पेट भर सकें किन्तु जब एक ओर कुछ व्यक्ति आवश्यकता से अधिक इकट्ठा कर लेते हैं तो दूसरे व्यक्ति अभाव के कारण भी चोरी करने को बाध्य हो जाते हैं। कुछ भी हो, चौर्य-कर्म असत् आचरण है और वह मनुष्य की आत्मा पर काला धब्बा बनने का कारण बनता है। चौर्य-कर्म से उपार्जन किया हुआ धन मनुष्य के मन को अशुद्ध बनाता है, और उसका भयंकर परिणाम उसे भोगना ही पड़ता है। गांधीजी का कथन है :—

"चोरी का धन कच्चे पारे के समान है। जैसे कच्चा पारा खाने पर शरीर में से फूट पड़ता है वैसे ही चोरी का धन नाना प्रकार की दुर्गतियों का कारण बनता है।"

मार्ग-दर्शन

इसलिये मनुष्य को अपने मन और इन्द्रियों को इससे बचाने का प्रयत्न करना चाहिये। सत्य श्रवण के लिये मिले हुए कानों से निंदाश्रवण करना, जिह्वा से सत्य बोलने के बदले असत्य-भाषण करना, शरीर से सुस्त और निकम्मे रहकर भी पर-सेवा नहीं करना, ये सभी चोरी के अन्तर्गत हैं। क्योंकि जो वस्तुएँ हमें जिस कार्य के लिये प्रकृति ने प्रदान की हैं उनका उस कार्य में उपयोग न करना प्रकृति से ही चोरी करना है और प्रकृति इसकी सजा दिये बिना नहीं रहती।

चारित्र का अर्थ चलना होता है; तथा चलने के शुभ और अशुभ दो मार्ग होते हैं। इसीलिये चारित्र के पहले हमारा दर्शन सम्यक् शब्द लगा देता है। अर्थात् शुभ लक्ष्य की ओर चलना सम्यक्चारित्र है और अशुभ लक्ष्य को लेकर चलना असत् चारित्र। जब तक मनुष्य सम्यक्चारित्र में चलता है उन्नत रहता है; अन्यथा पतित हो जाता है। अस्तेय व्रत का पालन करना चारित्र को उन्नत बनाना है। इस व्रत का पालन करने से अहिंसा और सत्य का भी पालन किया जा सकता है। चोर-डाकू न अहिंसा का ही पालन कर सकते हैं और न सत्य का ही। यह मानव के सब गुणों पर पानी फेर देता है। कहा भी है :—

"अनिष्टावप्यनिष्टं च अवत्तमपलक्षणे।"

—हिंगुल प्रकरण

—अनिष्ट से भी अनिष्ट और अवगुणों में भी सर्वाधिक नीच अवगुण चोरी करना है।

ब्रह्मचर्य बनाम जीवनी शक्ति

शरीर में दो प्रकार की शक्ति होती है—शारीरिक और मानसिक। शरीर को पूर्ण रूप से स्वस्थ और सतेज रखने के लिये इन दोनों ही प्रकार की शक्तियों का संचय करना आवश्यक है। शारीरिक शक्ति व्यायाम आदि से प्राप्त की जाती है

तथा मानसिक शक्ति ब्रह्मचय और मन की प्रफुल्लता के द्वारा। ब्रह्मचर्य का हमारे आचार में चतुर्थ एवं महत्त्वपूर्ण स्थान है। इसके अभाव में शरीर और मन सभी असंतुलित रहते हैं तथा व्यक्ति अपने भौतिक और आध्यात्मिक किसी भी उद्देश्य की पूर्ति में सफल नहीं हो सकता। शारीरिक और मानसिक दोनों ही शक्तियाँ ब्रह्मचर्य व्रत के पालन से प्राप्त की जा सकती हैं। योगशास्त्र में कहा गया है:—

"तेजस्विनो महावीर्याः भवेयु ब्रह्मचर्यतः।"

—योगशास्त्र द्वितीय प्रकाश

—ब्रह्मचर्य का पालन करने से ही पुरुष प्रचण्ड प्रतापी और महान् पुरुषार्थशाली हो जाया करते हैं।

आजकल ब्रह्मचर्य का अर्थ केवल काम-वासना से बचना ही माना जाता है। किन्तु यह उसका पूर्ण अर्थ नहीं है। पूर्ण ब्रह्मचर्य तो पांचों इन्द्रियों के द्वारा ही पालन किया जा सकता है।

यह किस प्रकार ?

इन्द्रियों के द्वारा ब्रह्मचर्य का पालन तभी हो सकता है जबकि उन्हें शुभ-कार्यों में लगाया जाय। कान का ब्रह्मचर्य कहलाता है—जिन बातों को तथा जिन गीतादिकों को सुनने से मन में कुसंस्कार जागृत होते हैं उन्हें न सुनना, आँख का ब्रह्मचर्य है—हृदय में विकारों को जन्म देने वाले नाटक, सिनेमा आदि में दिखाए जाने वाले अश्लील दृश्य नहीं देखना, जिह्वा का ब्रह्मचर्य है—गाली-गलोज करके दूसरों के मन को दुख न पहुँचाना तथा विषय-वासना को बढ़ाने वाली बातें न करना। जिह्वा के द्वारा ही व्यक्ति मनुष्य को अपना दोस्त अथवा दुश्मन बनाता है। ईश्वर ने हमें दो कान दिये हैं और दो आँखें किन्तु जीभ एक ही दी है। वह केवल इसीलिये कि बहुत सुनें और बहुत देखें भी किन्तु बोलें बहुत कम। क्योंकि वचन का बड़ा भारी महत्त्व होता है। वचन के द्वारा रोते हुए को हँसाया जा सकता है तो, हँसते हुए को उसी क्षण रुलाया भी जा सकता है। एक दार्शनिक ने तो कहा है—

'A wound from a tongue is worse than a wound from a sword; for the latter affects only the body; the former the spirit.'

—पाइथागोरस

—जिह्वा का घाव तलवार के घाव से भी अधिक बुरा होता है क्योंकि तलवार शरीर पर आघात करती है और जिह्वा आत्मा पर।

इसीलिये वचन के संयम पर महापुरुष बड़ा जोर देते हैं। वचन पर संयम रखने वाला व्यक्ति अपने शरीर पर भी सहज ही काबू रख सकता है। शरीर का बल अन्य प्राणियों को कष्ट पहुँचाने और जोर-जबर्दस्ती तथा मार-पीट करके उन पर विजय प्राप्त करने के लिये नहीं होता। उसका सच्चा कार्य असहाय प्राणियों की सुरक्षा एवं उनकी सेवा करना होता है। शरीर को निकम्मा और काहिल भी नहीं

बनाना चाहिए। श्रम-शीलता के द्वारा मनुष्य स्वयं भी निरोग और स्फूर्तियुक्त बना रहता है, तथा अन्य प्राणियों का भी सहायक बन जाता है।

आज के व्यक्ति अपना काम भी स्वयं करने में शर्म महसूस करते हैं। भला अपने हाथों से काम करने में शर्म किस बात की। गांधीजी जब अफ्रीका में थे, एक व्यक्ति उनसे मिलने आया। गांधीजी उस समय आश्रम में कुदाली से मिट्टी खोद रहे थे। उस व्यक्ति ने गांधीजी से पूछा—"महात्मा गांधी कहाँ हैं? मैं उनसे मिलना चाहता हूँ।" गांधीजी ने उत्तर दिया—"कहिये क्या काम है? मैं ही गांधी हूँ।" आगन्तुक गांधीजी को कुदाली लिये मिट्टी खोदते देखकर चकित रह गया।

कहने का अभिप्राय यही है कि इस तरह स्वयं परिश्रम करने से शारीरिक शक्ति बढ़ती है और ब्रह्मचर्य का बल भी। समस्त इन्द्रियाँ निर्मल और तेजवान बनी रहती हैं तथा मन विकारों से मुक्त रहता है। गांधीजी ने ब्रह्मचर्य के विषय में कहा है:—

"ब्रह्मचर्य का अर्थ है मन, वचन और शरीर से समस्त इन्द्रियों पर संयम··· जब तक अपने विचारों पर इतना कब्जा न हो जाय कि अपनी इच्छा के बिना एक भी विचार न आए तब तक वह सम्पूर्ण ब्रह्मचर्य नहीं है।"

ब्रह्मचर्य की शक्ति असीम है। जितनी मात्रा में ब्रह्मचर्य व्रत का पालन किया जाएगा उतनी ही मात्रा में गुणों की भी अभिवृद्धि होती जाएगी। ब्रह्मचर्य का पालन करने वाला महापुरुष पूजनीय पुरुषों द्वारा भी पूजा जाता है। हमारे शास्त्र कहते हैं—

देव दानव गंधव्वा, जक्ख रक्खस्स-किन्नरा।
बंभयारिं नमंसंति, दुक्करं जे करेंति तं॥

—उत्तराध्ययनसूत्र

—दुष्कर ब्रह्मचर्य व्रत को धारण करने वाले को देव, दानव, यक्ष, राक्षस, और किन्नर भी नमस्कार करते हैं।

सद्‌गुणों का मूल-अपरिग्रह

जैनाचार के चार अंगों का वर्णन करके अब हम पांचवे अंग अपरिग्रह पर आ पहुँचे हैं। अपरिग्रह में अन्य समस्त सद्‌गुणों का अहिंसा, सत्य, अचौर्य एवं ब्रह्मचर्य का समावेश हो जाता है। अपरिग्रह का अर्थ है आवश्यकता से अधिक कुछ भी न रखना।

आज का मानव यह भूल गया है कि परिग्रह रखना पाप है और अपरिग्रह व्रत धारण करना मानव जीवन का गौरव है। यह ईश्वरदत्त वरदान और वीरों का धर्म है। हमारे तीर्थंकरों ने इस व्रत को अपनाकर ही अपना कल्याण किया था। भगवान महावीर और गौतमबुद्ध ने निर्धन कुल में जन्म नहीं लिया था अपितु

उन्होंने स्वेच्छा से निर्धनता अपनाई थी। उन्होंने भली-भांति जान लिया था कि सच्चा सुख तो धन का अम्बार लगा देने पर अथवा छः खंड का राज्य प्राप्त कर लेने पर भी नहीं मिल सकता; वह तो लोभ, लालच तथा आसक्ति का सर्वथा त्याग करने पर ही प्राप्त किया जा सकता है। ऐश्वर्य की वृद्धि होने से सुख की वृद्धि नहीं होती वरन् दुख की ही अभिवृद्धि होती है। यह सत्य ही है कि—

न वि सुही देवता देव लोए,
न वि सुही पुढवीवई राया।
न वि सुही सेट्ठ सेणावई य,
एगंत सुही साहू वीयरागी॥

भावार्थ इसका यही है कि देवता सुखी नहीं हैं। भले ही उनके निवास के लिए सुन्दर विमान और आनन्दोपभोग के लिए अतीव सुन्दर देवियाँ हैं किन्तु अपनी असीम तृष्णा के कारण वे अन्य देवों की समृद्धि देख-देखकर जलते रहते हैं अतः उन्हें सुख की कभी प्राप्ति नहीं होती।

राजा-महाराजाओं को भी, जिनके पास भी सैकड़ों दास-दासियाँ सेना और धन का अटूट भंडार होता है, कभी सुख नहीं मिलता क्योंकि उन्हें सदा ही अपनी राज्य की सीमा बढ़ाने की अथवा शत्रुओं के आक्रमण से बचने की चिंता बनी रहती है।

इसी प्रकार सेठों अथवा सेनापतियों को भी सुख का कभी अनुभव नहीं होता। सेठ लोगों को तिजोरियाँ भरने का और सेनापतियों को समरभूमि का ख्याल बना रहता है।

सच्चा सुख तो संसार में केवल उन्हीं संतजनों को प्राप्त होता है जो धन-सम्पत्ति रूप परिग्रह को ठुकरा देते हैं; लोभ, लालच व तृष्णा को समूल नष्ट कर देते है। लोभ ही ऐसी भयंकर वस्तु है जिसके लिए मानव भूख, प्यास, शीत, उष्णता आदि सहन करता है, विवेक बुद्धि को तिलांजलि देकर चोरी-डकैती यहाँ तक कि हत्याएं करने से भी नहीं चूकता। घूस, रिश्वत लेता है और इसी प्रकार के नाना अनर्थ करता है। अपने स्वजनों को धोखा देता है तथा संसार में निंदा का पात्र बनता है। किन्तु क्या उसे इतना सब करने पर भी कभी सन्तोष प्राप्त होता है? नहीं, तृष्णा तो बढ़ती ही जाती है। ऐसे व्यक्तियों को संबोधन करते हुए सुन्दरदास जी ने ठीक ही कहा है—

जो दस बीस पचास भये सत,
होई हजार तु लाख मगेगी।
कोटि अरब्ब खरब्ब असंख्य,
धरापति होने की चाह जगेगी।

स्वर्ग, पताल को राज करो तिसना,
अधिकी अति आग लगैगी।
सुन्दर एक सन्तोष बिना,
शठ ! तेरी तो भूख कबहुँ न भगैगी।

वस्तुतः सत्य है कि संतोष के बिना मनुष्य की धन-लालसा कभी शांत नहीं हो सकती। ज्यों-ज्यों लाभ होता है त्यों-त्यों लोभ बढ़ता ही जाता है—

जहा लाहो तहा लोहो, लाहा लोहो पवड्ढई।

आज हिन्दुस्तान में वर्गभेद के कारण एक ओर तो जहाँ व्यक्ति ऐश्वर्य में लोटते हैं, दूसरी ओर अनेक व्यक्ति भूखे पेट सो जाने के लिए बाध्य हैं। ऐसी हालत में समाज और देश कैसे ऊँचा उठ सकता है ? यह तभी हो सकता है जब समाज का प्रत्येक श्रीमन्त अपनी जरूरत पूरी होने वाले पैसे के अतिरिक्त सारे धन को समाज का समझे, उन गरीबों का समझे जिन्हें रोटियों के भी लाले पड़े रहते हैं। कभी-कभी ऐसे नर-रत्न भी दिखाई देते हैं।

अन्न किसके लिए ?

गुजरात में सं० १३१३ में भयंकर अकाल पड़ गया था। वर्षा के अभाव में खेतों ने अनाज का एक दाना भी नहीं उपजाया।

परिस्थिति बड़ी विषम हो गई। लोग भूखों मरने लगे। पर उस समय एक जैन श्रावक झगड़ूशाह मरते हुए प्राणियों के लिए संजीवनी के रूप में सामने आए। उन्होंने गाँव-गाँव में सदाव्रत खोले और भूखों को अन्न-दान करना प्रारम्भ किया।

वहाँ के महाराजा को जब यह ज्ञात हुआ तो उन्होंने झगड़ूशाह को सम्मान सहित एक दिन राजमहल में बुलवाया और आदर-सत्कार पूर्वक अपने समक्ष उच्च आसन पर आसीन करने के पश्चात् कहा—श्रेष्ठिवर ! आपकी दानशीलता की प्रशंसा सुनकर मुझे अतीव प्रसन्नता हुई है। मैंने यह भी सुना है कि आपके पास धान्य के और भी छः-सात सौ भंडार भरे हुए हैं। मेरे राजकीय अन्न-भंडार रिक्त हो गये हैं अतः अपनी प्रजा को जीवित रखने के लिए मैं आपके धान्य-भंडारों को खरीदना चाहता हूँ। क्या आप इसके लिए तैयार हैं ?

सेठजी ने महाराज की बात सुनी पर मुस्कुराते हुए उत्तर दिया—महाराज ! यह सही है कि मेरे पास अन्न के कोठार भरे हैं पर मेरा तो उनमें एक दाना भी नहीं है फिर मैं बेचूंगा क्या ?

महाराज सुनकर चकित हुए पर सेठजी के निर्देशानुसार उन्होंने एक भंडार खुलवाया। उसमें उन्हें एक ताम्रपत्र मिला जिस पर खुदा हुआ था—"यह अन्न निर्धनों के लिए है।" उसके बाद क्रमशः एक के बाद एक कोठार खुलवाए गये पर सभी में ऐसे ही ताम्र-पत्र निकले जिन पर यही बात लिखी हुई थी।

यह देखकर महाराज को वड़ा आश्चर्य हुआ और अपने राज्य में रहने वाले ऐसे दानवीर सेठ के प्रति गौरव से उनका मस्तक ऊँचा हो गया।

परिग्रह या पाप ?

सामाजिक विषमता को दूर करने पर ही समाज और देश खुशहाल वने रह सकते हैं। लेकिन आज हम यह वात भूल गये हैं कि परिग्रह रखना पाप है। आज तो जो अधिक धनवान है वही वड़ा आदमी माना जाता है। वड़े आदमी से तात्पर्य हम अधिक परिग्रह वाले को लेते हैं। यह कितनी विचित्र वात है कि परिग्रह इकट्ठा करने में किये जाने वाले पापों को हम वड़प्पन कहते हैं। पैसा मिलना पुण्य नहीं है। पुण्य मनुष्य जन्म का मिलना है। किन्तु आज पैसे को पुण्य और पैसे वाले को पुण्यात्मा कहा जाता है।

परिग्रह के साथ ही अनेक और भी पाप लगे रहते हैं। लेकिन जव तक मूल-पाप का सर्वथा त्याग नहीं किया जाय, अन्य पापों का खात्मा नहीं हो सकता। अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह ये पाँच मूलव्रत हैं। इनका पालन करने पर ही व्रत, उपवास तथा पौषध आदि अन्य क्रियाएँ लाभकारी वन सकती हैं अन्यथा नहीं।

अपरिग्रह मूलव्रतों में से एक है। इसका पालन किये विना एक ओर तो हम परिग्रह इकट्ठा करते रहें तथा दूसरी ओर दिखावटी धर्म-क्रियाएँ करते रहें तो उनसे क्या लाभ हो सकता है ? आज की दुनिया में अधिकतर पैसा असत्य, हिंसा और चोरी से ही इकट्ठा किया जाता है। और जो अधिक पैसा इकट्ठा करता है वह निश्चय ही अधिक असत्य, हिंसा और चोरी का आचरण करता है। इसलिए अधिक पैसे वाला निर्धन की अपेक्षा अधिक पापी होता है, इसमें सन्देह नहीं। कुछ व्यक्ति कहते हैं कि हम प्रामाणिकता से पैसा कमाते हैं, इसमें क्या पाप है ? उन्हें भी यह समझना चाहिए कि अगर वे सचमुच ही प्रामाणिकता से धन कमाते हैं तो असत्य, हिंसा और चोरी का पाप उन्हें न भी लगे पर परिग्रह का पाप तो उनके साथ रहता ही है। अतः इसका भी त्याग करना आवश्यक है। जव तक परिग्रह का त्याग नहीं किया जाएगा अन्य सद्गुणों का हृदय में निवास नहीं हो सकेगा। अपरिग्रह ही अहिंसा, सत्य एवं अचौर्य की बुनियाद है, इसके विना चारित्र रूपी महल नहीं चुना जा सकता।

सारांश

जीवन में आचरण का स्थान अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। हम जानते हैं कि मनुष्य के शरीर में भले ही अन्य अनेक व्याधियाँ हों किन्तु अगर उसका हृदय मजबूत रहे तो प्राण-नाश का भय नहीं होता। लेकिन यदि शरीर में कोई व्याधि न हो और उसका हृदय निर्बल हो तो जीवन सदा खतरे में बना रहता है।

इसी प्रकार मानव कितना भी ऐश्वर्यशाली हो, कितना भी विद्वान हो, किन्तु

अगर उसका चारित्र रूपी हृदय सही क्रिया न करता हो तो उसका धन एवं उसकी विद्वत्ता निरर्थक और खतरे से भरी रहती है। जिस प्रकार शरीर में हृदय का स्थान अत्यन्त महत्त्वपूर्ण होता है उसी प्रकार जीवन में चारित्र का भी महत्त्वपूर्ण स्थान माना जाता है।

हमारे जैनाचार के अनुसार चारित्र के पाँचों अंगों के विषय में मैं बता चुकी हूँ। गृहस्थ के लिए ये अणुव्रत कहलाते हैं क्योंकि वह इनका पूर्णरूप से पालन नहीं कर पाता, मर्यादित रूप में ही कर सकता है। किन्तु साधु अहिंसा आदि पाँचों व्रतों का पूर्ण रूप से पालन करते हैं अतः उनके लिए ये पंच-महाव्रत के नाम से पुकारे जाते हैं।

श्रावक के लिए इन पांच अणुव्रतों के अलावा सात शिक्षाव्रतों का भी विधान है, जो कि जीवन में अनुशासन लाते हैं। इनमें से तीन बाह्य अनुशासन के लिए होते हैं और वे हमारी व्यावसायिक हलचल, दिनचर्या एवं शरीर संचालन पर नियन्त्रण करते हैं तथा शेष चार आंतरिक शुद्धि के लिए हैं। इन दोनों श्रेणियों में विभाजन करने के लिए प्रथम तीन को गुणव्रत तथा शेष चार को शिक्षाव्रत कहा जाता है। बारह व्रतों का पालन करता हुआ श्रावक आध्यात्मिक शक्ति का संचय करता है तथा अपनी आत्मा को उत्तरोत्तर निर्मल बनाता चला जाता है।

बन्धुओ, जैनधर्म और जैनाचार के विषय में आपने बहुत कुछ समझ लिया है। वैसे तो हमारे इस अनन्य दर्शन के विषय में जितना कहा जाय कम है। संसार में आज मुख्य धर्म पाँच हैं—हिन्दूधर्म, जैनधर्म, बौद्धधर्म, इसाईधर्म तथा इस्लाम धर्म। इनमें से बौद्ध, ईसाई, और इस्लाम धर्म तो पिछले दो-ढाई हजार वर्षों से अस्तित्व में आए हैं। केवल हिन्दू-धर्म और जैनधर्म दोनों ही प्राचीन माने जाते हैं। किन्तु इन दोनों धर्मों के विषय में भी गहराई से खोज करने पर यह प्रमाणित होता है कि उपनिषद् तथा भागवत आदि हिन्दू शास्त्रों में भी हमारे प्रथम तीर्थंकर श्री ऋषभदेव के विषय में स्थान-स्थान पर उल्लेख हैं अतः निस्सन्देह जैनधर्म हिन्दू धर्म से भी प्राचीन है और यही कारण है कि जैनाचार के अहिंसा आदि पाँच अंगों को भी अन्य धर्मों ने 'अहिंसासत्यमस्तेयंब्रह्मचर्यमपरिग्रह' के नाम से माना है। इनका पालन करने वाला व्यक्ति निश्चय ही अपनी आत्मा को परमात्मा बना सकता है तथा अनन्त और अक्षय सुख को प्राप्त करने में समर्थ हो सकता है। □

11

आग : बाहर की और अंदर की

बाहर की आग : कितनी अच्छी, कितनी बुरी ?

इस संसार में दो तरह की आग है। हैं दोनों ही भयंकर ! दोनों ही अग्नियाँ प्रलय मचा देने वाली हैं। एक आग वह है, जिसे बाहर में प्रकृति की आग कहते हैं। वह आग जब जलती है या जलाई जाती है, तब यदि कहीं असावधानी रखी जाती है या कभी काबू से बाहर हो जाती है तो सारे घर को भस्म कर देती है। कभी-कभी तो यह गाँव के गाँव भस्म करती चली जाती है। लाखों रुपयों का कीमती सामान कुछ ही देर में राख बना देती है। परन्तु एक बात जरूर विचारणीय है कि इस अग्नि को भली-भाँति नियन्त्रण में रखा जाय, इसे सावधानी से जलाया जाय या इससे व्यवस्थित रूप से काम लिया जाय अर्थात् इस अग्नि पर अपना आधिपत्य जमा लिया जाय तो यह अभिशाप के बदले वरदान रूप बन सकती है। सारे विश्व के लिए वह मंगलमय सिद्ध हो सकती है।

जब तक दियासलाई का आविष्कार नहीं हुआ था, तब तक आग को बड़ी सावधानी से सुरक्षित रखा जाता था। वेदों में अग्नि को देव माना गया है और गृहस्थ के लिए यह विधान भी था कि गार्हपत्य अग्नि को किसी भी मूल्य पर बुझने न दे, उसे प्रज्वलित रखे। उससे घर के अनेक उपयोगी काम ले। आग से खेलना खतरनाक है, उसी प्रकार आग पर चलना, आग को इधर-उधर उछालना भी भयंकर हानिकारक है। किन्तु आग से रोटी सेकना, पानी, दूध आदि गर्म करना, भोजन पकाना, ठंड के दिनों में तापना, दीपक आदि जलाने में आग का उपयोग करना, विवाह में हवन-कुण्ड बनाकर अग्नि में आहुतियाँ देना, धूप आदि देना ये सब अग्नि के कार्य गृहस्थ के लिए वरदान रूप होते हैं।

जठराग्नि के कार्य

किन्तु इस दृश्यमान प्राकृतिक अग्नि के सिवाय एक और अग्नि है, जिसे हम जठराग्नि कहते हैं। जठराग्नि का शरीर में होना अनिवार्य माना गया है। जब तक जठराग्नि ठीक काम करती है, तब तक शरीर में पाचन-क्रिया ठीक से होती रहती है।

आप भोजन करते हैं, किन्तु यदि आपके पेट में अग्नि-तत्त्व न हो तो आपका किया हुआ भोजन हजम नहीं हो सकता। भोजन तभी पचता है, जब पेट में अग्नि तत्त्व हो। बुढ़ापे में जब अग्नि मंद पड़ जाती है, तब खाया हुआ ठीक तरह से हजम नहीं होता। इसी प्रकार आप पानी पीते हैं, वह भी आपके शरीर में विद्यमान अग्नि तत्त्व से हजम हो जाता है। अगर अग्नितत्त्व न हो तो आपका पिया हुआ पानी भी हजम न हो, पतली दस्त के रूप में बाहर निकल जाये।

पांच तत्त्वों में अग्नितत्त्व का हिस्सा

इस शरीर को पांच तत्त्वों का बना हुआ माना जाता है। वे पांच तत्त्व पंच-भूत भी कहलाते हैं। वे पांच तत्त्व ये हैं—पृथ्वी, पानी, अग्नि, वायु और आकाश। मृत्यु के समय इन पांच तत्त्वों का ह्रास हो जाता है, ये शरीर में से खत्म हो जाते हैं। सवाल यह है कि इन पांच तत्त्वों में से हमारे शरीर में किस तत्त्व का कितना हिस्सा है? भारत के ऋषियों ने इस पर गहराई से महत्त्वपूर्ण चिन्तन किया है। उनका कहना है कि पांच तत्त्वों का आधा हिस्सा पृथ्वी-तत्त्व के रूप में शरीर में है। इसीलिए इस शरीर को पार्थिव शरीर कहते हैं। उसके बाद शेष बचे हुए आधे हिस्से के तीन भाग जल, अग्नि, वायु और आकाश में चले जाते हैं। आकाश में भी अग्नि का अंश चला जाता है, फिर जल का आधे अंश को जल में रखा जाये, तथा शेष आधे अंश को पृथ्वी, अग्नि और वायु में डाल दिया जाये। इस प्रकार पांच तत्त्वों में से प्रत्येक का हिस्सा किया गया है। अग्नि प्रत्येक तत्त्व में मिल जाती है। कहीं सूक्ष्म रूप में, तो कहीं स्थूल रूप में अग्नितत्त्व विद्यमान है। तैजस शरीर अग्नि का ही एक रूप है। भोजनादि को पचाने और शरीर को ठीक अनुपात में गर्म रखने का काम तैजस शरीर की अग्नि ही करती है। शरीर में अगर उष्मा न होगी तो शरीर में कोई भी गति या हरकत नहीं होगी। शरीर में उष्मा के कारण ही हमारे हाथ-पैर या इन्द्रियों का संचार होता है। शरीर की उष्मा से ही चेहरे पर तेज चमकता है, भामण्डल (ओरा) भी शरीर में स्थित तेज के कारण है। प्रत्येक स्वस्थ व्यक्ति के शरीर में ९८, ९८$\frac{1}{2}$ डिग्री गर्मी स्वाभाविक होती है। अगर यह गर्मी कम हो जाती है और मर्यादा का अतिक्रमण कर देती है, तो मनुष्य का प्राणान्त होते देर नहीं लगती। कहते हैं—"अमुक व्यक्ति का शरीर ठंडा हो गया।" ठंडा हो गया का मतलब ही है—शरीर में से गर्मी (उष्मा) का निकल जाना। शरीर में जब गर्मी-तापमान ९८-९८$\frac{1}{2}$ डिग्री से आगे बढ़ जाता है तो वह भी ठीक नहीं है। अधिक तापमान बढ़ने पर शीघ्र ही बुखार तेज हो जाता है। बिना दवा के शरीर स्वस्थ नहीं हो पाता।

प्राचीन काल में अग्नि प्रकट करने के लिए अरणि की लकड़ी को या चकमक पत्थर को घिसा जाता था, घिसे जाने पर उसमें से अग्नि की चिनगारियाँ निकलती थीं। अरणि या चकमक में जो अग्नि अव्यक्त रूप में रहती थी, उसे उपयोग करने वाला घिस कर प्रगट करता था। यानी अव्यक्त अग्नि व्यक्त रूप में लाई गई।

स्थूल आग : संहारक भी, रक्षक भी

इस प्रकृति के अग्नितत्त्व या शरीर में स्थित अग्नितत्त्व का हमारे जीवन में महत्त्वपूर्ण उपयोग है। यह दोनों प्रकार की आग स्थूल है, जो संहारक भी है तो रक्षक भी है। संहारक इस अर्थ में है कि जरा-सी असावधानी हुई, नियंत्रण से बाहर हुई या घेरे से बाहर निकली तो वह संहार मचाती है। यदि वही आग अपने नियंत्रण में रखी जाती है या मर्यादा में बनी रहती है तो वह रक्षक भी है। यानी नियंत्रित आग आपकी गुलाम बनकर रहती है।

मानव की बुद्धि ने आग को नियंत्रण में रखने के लिए दियासलाई की शोध की। उसे वह अब जेब में डाले फिरता है। अब दियासलाई से उसे कोई खतरा नहीं रहा। दियासलाई को जब वह काम में लेना चाहता है, तब प्रायः आदर दृष्टि से ले या रखे। इस प्रकार घेरे में रही हुई आग मनुष्य को सहसा कोई नुकसान नहीं पहुँचा सकती।

अंदर की आग : क्रोध

यहाँ तक तो हमने बाह्य—स्थूल अग्नितत्त्व के सम्बन्ध में कहा। अब हम दूसरे अग्नितत्त्व—आग के सम्बन्ध में विचार करते हैं। इस सूक्ष्म आग को हम क्रोध-आवेश कहते हैं और इसी अग्नितत्त्व का एक रूप उत्साह और साहस भी है। हैं ये दोनों ही सूक्ष्म अग्नितत्त्व। ये भी संहारक और उपकारक दोनों प्रकार के हैं। जब इस अग्नितत्त्व पर हमारा नियंत्रण नहीं रहता तब वह क्रोध या आवेश का रूप ले लेता है। क्रोध की आग केवल उसका प्रयोग करने वाले को ही नहीं जलाती, वह परिवार, समाज और राष्ट्र को भी जला देती है। स्वयं व्यक्ति भी जल उठता है और साथ ही उसके सद्गुणों का भंडार भी भस्मीभूत हो जाता है। एक साधक चाहे कितनी ही ऊँची साधना करता हो, तपस्या करता हो, किन्तु जब यह आग लग जाती है तो उसकी उस समस्त साधना या तपस्या को वह बात की बात में चौपट कर देती है, अन्य गुणों का भी सफाया कर देती है। कई साधक साधना के मार्ग में तो बहुत दूर तक चले जाते हैं, किन्तु क्रोध पर उनका अंकुश नहीं रहता। जब तक क्रोध या आवेश मौजूद रहता है तब तक समझना चाहिए कि वह क्रोध का मास्टर नहीं बना, क्रोध उनका मास्टर बन गया। वह जिधर नचाता है, उधर व्यक्ति नाचता है। इस प्रकार क्रोध की आग जब सीमा का अतिक्रमण कर देती है, तब वह नुकसान ही पहुँचाती है।

शरीर को सुखाने की अपेक्षा क्रोधाग्नि को सुखाओ

एक बहुत ऊँचे घराने का साधक था। वह लम्बी-लम्बी तपस्या करके शरीर को सुखाने लगा। और जब शरीर सूख कर काँटा हो गया तब वह अपने गुरु के पास आया और कहने लगा—"गुरुदेव ! अब मेरा शरीर अधिक नहीं चल सकता। मुझे संथारा (संलेखना) करा दीजिए, ताकि मैं शरीर को छोड़कर [illegible]? मेरा शरीर इतना दुर्बल तो हो गया है। अब और क्या करना है, मुझे ?"

दे मारी, तब भी पार्श्वनाथ ने कमठ तापस पर प्रतिक्रोध नहीं किया। इसी कारण कमठ के क्रोध की आग भगवान पार्श्वनाथ पर कोई असर न कर सकी। परन्तु जो दूसरों पर क्रोध करके आग बरसाता है, उसकी साधना की तो होली जल जाती है। दूसरों को अपने क्रोध या दुर्भाव की आग में जलाना चाहने वाला स्वतः तो जल ही जाता है।

आप प्रभु को अपने मनमन्दिर में देखना चाहते हो तो पहले अपने मनमन्दिर की सफाई करिए। अगर मनमन्दिर में काम क्रोध आदि विकारों की गंदगी पड़ी है, नरककुंड बना रखा है उसे तो भगवान् को वहाँ कहाँ बिठाएँगे? और भगवान् आ भी गये तो वहाँ रहेंगे भी कैसे? मान लीजिए, आप किसी मेहमान को आमंत्रण देते हैं और जब वह आपके यहाँ आ जाता है, तब जहाँ उसे बिठाना चाहते हैं, वहीं कूड़े का ढेर पड़ा है, कुत्ते का मल पड़ा है या मलबा पड़ा है तो समझदार मेहमान चाहे मुँह से कुछ भी न कहे, परन्तु मन में बुरा ही मानेगा और अगर घनिष्ठ सम्पर्क हुआ तो कह भी देगा—"कहाँ लाकर बिठा दिया है मुझे?" वह वहाँ से तुरन्त जाने को तैयार हो जायगा। यही बात भगवान् के सम्बन्ध में है। राम, कृष्ण, बुद्ध, महावीर आदि महापुरुषों को आप पुकारते हैं, मनमन्दिर में पधारने का निमंत्रण देते हैं, परन्तु यदि आपने अपने मनमन्दिर की सफाई नहीं की है तो भगवान् वहाँ निवास भी कैसे करेंगे? अगर तुम्हारे मन में दुनिया की वासनाएँ क्रोधादि की दुर्गन्ध पड़ी है, वहाँ भगवान् विराजमान नहीं होंगे।

इसलिए शास्त्रकारों ने कहा कि मनुष्य के अन्दर एक भयंकर अग्नितत्त्व जल रहा है। क्रोध की आग में पड़ी-पड़ी आपकी साधना जल कर खाक हो रही है। इस पर नियंत्रण करो। क्रोध की आग को शान्त रखने पर उस आन्तरिक अग्नितत्त्व का सुन्दर उपयोग हो सकेगा। आप में क्रोधावेश पर जितनी-जितनी शान्ति रहेगी, उतनी ही बुद्धि, प्रज्ञा, सरस्वती, प्रभुता आदि आपका साथ देगी। जीवन के कटु-प्रसंगों में भी अगर आपका मानस अशान्त हो जाता है, सन्तुलन खो देता है, आपकी शान्ति भंग हो जाती है तो आपकी बौद्धिक प्रतिभा भी उस क्रोधाग्नि में जल जाती है। आप यथार्थ चिन्तन तभी कर सकेंगे, जब आपके मन में क्रोधावेश नहीं होगा।

भारतवर्ष का दार्शनिक चिन्तन एक बात कहता है कि कैसी भी परिस्थिति आ जाये, आप उस परिस्थिति से लड़ सकते हैं, द्वन्द्वयुद्ध कर सकते हैं, लेकिन आपको अपने मानसिक भाव जरूर शान्त रखने पड़ेंगे। शान्त भाव से लड़ाई भी करेंगे तो निश्चित ही आपकी विजय होगी।

एक बार श्रीकृष्ण, बलदेव, सत्यकि और दारुक के साथ जंगल में घूमने निकले। घूमते-घूमते वे बहुत दूर जा निकले। वहाँ उन्हें रात हो गई। वापस घर आने का मौका नहीं था। चारों ने सोचा—"आज की रात इसी जंगल में किसी पेड़ के नीचे बिताई जाय। यहाँ रात्रिचारी जानवरों का बहुत भय है, इसलिए हममें से बारी-बारी से एक-

एक आदमी जागता रहे और पहरा दे। यह तय करके वे एक पेड़ के नीचे जा पहुँचे। वहीं चारों ने अपना आसन जमा दिया। सर्वप्रथम दारुक की बारी थी, अतः वह जागता रहा और पहरा देने लगा। बाकी के तीनों सो गये। कुछ ही देर में एक भयंकर पिशाच आया। वह बोला—"मुझे बड़े जोर की भूख लगी है। अतः तुम मुझे इन तीनों को खा लेने दो।" दारुक ने कहा—"यह कैसे हो सकता है ? मैं इनकी रक्षा के लिए तैनात हूँ। अतः मेरे रहते तू इन्हें नहीं खा सकता। तू खाना चाहता है तो पहले मुझे परास्त कर।" पिशाच दारुक से लड़ने को तैयार हो गया। दोनों आपस में भिड़ गये। दोनों में गुत्थमगुत्था होने लगी। जैसे-जैसे दारुक का रोष बढ़ता गया, वैसे-वैसे पिशाच का बल भी बढ़ता गया। दारुक पिशाच को परास्त न कर सका। इतने में उसका समय पूरा हो गया। अब सत्यकि की बारी थी। वह उठा और पहरे पर आ गया। थका हुआ दारुक चुपचाप सो गया। कुछ देर बाद पिशाच फिर आया। उसने आते ही सत्यकि को ललकारा। सत्यकि ने भी कहा—"मेरे रहते तू इन्हें हाथ नहीं लगा सकता। पहले मुझे हरा, फिर इन्हें खाने की सोचना।" सत्यकि भी पिशाच से लड़ा, लेकिन क्रोध बढ़ते जाने के कारण पिशाच का बल बढ़ता गया। फलतः वह भी पिशाच को हरा नहीं सका। वह भी अपनी बारी का समय पूरा हो जाने से चुपचाप सो गया। अब बलदेव की बारी थी। वह भी क्रोध में आकर पिशाच से लड़ा। लेकिन उसकी दशा भी सत्यकि और दारुक जैसी ही हुई। वह भी थक कर चूर-चूर हो गया, परन्तु पिशाच को परास्त न कर सका। अब कृष्ण की बारी थी। श्रीकृष्ण जब पहरा देने लगे तो पिशाच ने उनसे भी वही बात कही। उन्होंने मुस्कराते हुए जबाव दिया—"लड़ना चाहता है तो आ जा लड़ ले। श्रीकृष्ण और पिशाच का युद्ध शुरू हुआ। कृष्ण शान्ति से खड़े-खड़े पिशाच केवल को देखते रहे। जैसे-जैसे पिशाच का बल बढ़ता गया, वैसे-वैसे श्रीकृष्ण उसे शान्ति से कहते रहे—वाह! शावाश! तू बड़ा वीर है। तेरी मां को धन्य है, जिसने तेरे जैसा वीरपुत्र पैदा किया। यों श्रीकृष्ण उसे उकसाते गये, उसका क्रोध बढ़ता गया, लेकिन उसका बल घटता गया। वह इतना निर्बल हो गया कि श्रीकृष्ण ने उसे पकड़ लिया। अब पिशाच हार कर निस्तेज होकर श्रीकृष्ण के सामने नतमस्तक खड़ा था।

यह एक रूपक है। क्रोध एक पिशाच है। जब तक उसे सामने से उत्तेजन मिलता है, तब तक उसका बल बढ़ता जाता है। लेकिन जब उसे सामने से बल नहीं मिलता, तो वह निर्बल होकर हार जाता है।

श्रीकृष्ण के तीनों साथी जब उठे और उन्होंने पिशाच को हारा हुआ देखा तो उन्होंने आश्चर्यपूर्वक श्रीकृष्ण से पूछा—आपने इसे कैसे जीत लिया ? हमारा शरीर तो इसके साथ लड़ते-लड़ते खून से लथपथ हो गया है। श्रीकृष्ण ने उनसे कहा—"पिशाच भयंकर नहीं होता, हम उसके प्रति क्रोध करके उसे भयंकर बना देते हैं, उसका बल बढ़ा देते हैं, अगर हम शान्ति से उसकी हरकतों को देखते रहें तो

जिस घर में पिता का मन पुत्र के प्रति और पुत्र का मन पिता के प्रति कटु है, तथा बहू सास के लिए और सास बहू के लिए खार लिए बैठी है, पड़ोसी-पड़ोसी में आपस में कटुता भरी है। सर्वत्र खार ही खार भरा पड़ा है—मनों में। इस सागर में एक बूंद भी ऐसी नहीं मिली हो, जो मधुर हो। इस प्रकार का लवण समुद्र जिस मन में बह रहा हो, भला बताइए, उस कड़वे मन में विष्णु का निवास या भगवान के दर्शन कैसे होंगे ?

वैदिक पुराणों या जैनकथाओं में वर्णित क्षीरसागर का रहस्य यही है कि आपका मन प्रेम और शान्ति की मधुर लहरों से ओत-प्रोत हो जाएगा, तभी आपके हृदय में क्षीरसागर लहराने लगेगा और तभी आपको अपने मन में भगवान के दर्शन होंगे, तभी भगवान का वहाँ निवास होगा और वे आगमन करेंगे।

तात्पर्य यह है कि जब तक आप अपने हृदय को लवण समुद्र ही बनाए रखेंगे तब तक उसमें भगवान निवास करेंगे नहीं। भगवान तभी निवास करेंगे, जब आपका हृदय क्षीरसागर हो जाएगा।

क्रोध लवणसागर है और प्रेम क्षीरसागर है। जीवन में जब कभी क्रोध अग्नि-तत्त्व के रूप में बाहर फूट पड़ता है, उस समय नियन्त्रण नहीं रहता है, हृदय पर। मन का क्रोध नदी के वेग की तरह बाहर फूट पड़ता है। इस प्रकार भयंकर आग लगती जाती है, फैलती जाती है।

दुर्योधन के मन में जब क्रोध उठा, तब वह उसे नियन्त्रण में नहीं कर सका। फलतः उस क्रोध की आग में कौरव वंश भस्म हो गया। इसी प्रकार संसार में जहाँ भी जब भी, क्रोध की आग पैदा हुई, कुछ लोगों के मन में; किन्तु उस आग में सारा का सारा परिवार ही भस्म हो गया। संसार के जितने भी मधुर सम्बन्ध थे, वे सब खत्म हो गए, इन्सान जलकर भस्म हो गए।

कहने का मतलब है कि क्रोध की इस आग में वे ही जलते हैं, जिनके मन में क्रोध और प्रतिशोध की भावना हो। कभी-कभी ऐसा होता है कि एक मनुष्य किसी शान्त-स्वभावी पर क्रोध करता है, तो वह स्वयं तो क्रोधाग्नि में जलता ही है, मगर दूसरा जलता नहीं। क्योंकि दूसरों को जला देना उसके वश की बात नहीं है। दूसरों का प्रारब्ध हो, या योग हो तो क्रोधी व्यक्ति के क्रोध की आग भड़कते ही वे जलते हुए दिखाई देंगे, लेकिन दूसरों के प्रारब्ध की भूमिकाएँ अभी जलने की नहीं आई हों तो क्रोध कितना ही भयंकर हो, उन्हें भस्म करने की चाहे जितनी भीषण योजनाएँ हों उनका बाल भी बांका नहीं होगा। पाण्डवों को जलाने के लिए कौरवों ने लाक्षामण्डप की योजना बनाई थी। किन्तु पाण्डवों का भाग्य ऐसा था कि लाक्षामंडप में प्रवेश करके भी वे सही-सलामत बाहर निकल आए। आग उनका कुछ भी न बिगाड़ सकी। इसी तरह प्रह्लाद को जलाने के लिए हिरण्यकशिपु ने होलिका को जलती आग में बिठाया था, ताकि होलिका अपने वरदान के कारण जल न सके और प्रह्लाद उसकी

गोद में बैठकर आग में भस्म हो जाए। किन्तु हुआ उलटा ही। होलिका जल उठी और प्रह्लाद का एक रोम भी आग में नहीं जला। वह सुरक्षित रूप से बाहर आकर खड़ा हो गया। इसलिए क्रोध की आग भी उसे ही जला सकती है जिसका प्रारब्ध वैसा हो, जिसका प्रारब्ध अच्छा हो, उसे भयंकर से भयंकर क्रोध की आग भी नहीं जला सकती। रावण ने सीता को समाप्त करने के लिए अनेक उपाय किये, किन्तु आखिर अपनी क्रोधाग्नि में रावण स्वयं ही भस्म हो गया।

यक्षाविष्ट अर्जुन मालाकार की क्रोधाग्नि में राजगृह के अनेक लोग भस्म हो गए, लेकिन सुदर्शन श्रमणोपासक को उसकी क्रोधाग्नि भस्म न कर सकी, उसका बाल भी वाँका न कर सकी। चण्डकौशिक सर्प के क्रोध ने चाहे और प्राणियों को भस्म कर दिया हो, लेकिन भगवान महावीर पर उसका दाव न चल सका। दियासलाई जब तक हाथ में रहती है, तब तक वह किसी को नहीं जलाती, किन्तु उसे रगड़कर जलाने के बाद भी वह दूसरों को तभी जला सकती है, जब इधर-उधर घास, रुई आदि ज्वलनशील पदार्थ में डाल दी गई हो। अथवा मिट्टी के तेल में जलती दियासलाई पड़ गई हो तो वह एकदम भड़क उठेगी और आसपास के सभी पदार्थों को जला देगी। किन्तु यदि रेत पर या पानी में डाल दी गई तो वह तुरन्त बुझ जाएगी, उन्हें बिलकुल जला नहीं पाएगी। अतः दियासलाई जलने पर दूसरों को जलाए या न जलाए, स्वयं तो जल ही जाती है। स्वयं का मुख तो जल ही जाता है। इसी प्रकार कुछ आत्माएँ ऐसी हैं, जिन्होंने अपनी आत्मा को ऐसी भूमिका पर पहुँचा दिया है कि उन पर क्रोध की आग का कुछ भी असर नहीं होता। बाहर के वातावरण में चाहे कितना ही दावानल सुलग रहा हो, हजार-हजार बिजलियाँ गिर रही हों, परन्तु उन पर उस दावानल का कोई असर नहीं होता। जैसे समुद्र में कितने ही अंगारे डाले जायँ अथवा कितनी ही बिजलियाँ टूटकर पड़ें, समुद्र को न तो अंगारे जला सकते हैं, न बिजलियाँ ही उसे विनष्ट कर सकती हैं। वैसे ही प्रशमरस के सागर पर चाहे जितने क्रोध के अंगारे बरसें या बिजलियाँ टूटकर गिर पड़ें तो भी वे उनका कुछ भी बिगाड़ नहीं सकतीं। जहाँ क्रोध होगा वहीं प्रायः क्रोध का असर होता है, जहाँ क्षमा या शान्ति होगी, वहाँ क्रोध क्या करेगा ? नीतिकार इसी बात का समर्थन करते हैं—

क्षमाशस्त्रं करे यस्य दुर्जनः किं करिष्यति ?
अतृणे पतितोवह्नि स्वयमेवोपशाम्यति ॥

—जिसके हाथ में क्षमा रूपी शस्त्र है, उसका दुर्जन (क्रोध) क्या कर लेगा ? जैसे तिनकों से रहित भूमि पर पड़ी हुई आग अपने आप बुझ जाती है, वैसे ही क्षमाधारी पर किया हुआ कोप स्वतः शान्त हो जाता है।

कमठ तापस के क्रोध की आग में दूसरे चाहे जल गए हों, लेकिन पार्श्वनाथ उसकी क्रोधाग्नि से जले नहीं। यहाँ तक कि जब तापस से पार्श्वनाथ भाई के नाते मिलने गये थे, तब उसने पार्श्वनाथ के झुके हुए मस्तक पर क्रोधवश शिला उठाकर

गुरु ने कहा—"वत्स ! अभी और पतला करो।"

शिष्य गया कुछ दिन और तपस्या की, शरीर जब और ज्यादा सूख गया तब गुरु के पास आकर निवेदन किया—"गुरुवर ! अब तो शरीर बहुत पतला हो गया है, अब और क्या कुछ करना है ?" गुरु ने फिर वही बात दोहराई—"अभी कुछ कसर है, अभी और पतला करो, इसे।" शिष्य गया और कठोर साधना स्वीकार करके अपने शरीर को सर्दी, गर्मी आदि सब में झौंक दिया। फिर लौटकर गुरु से कहा—"गुरुदेव ! अब और कितनी परीक्षा लेंगे ? अब तो मेरा शरीर इतना पतला हो गया है कि चलना-फिरना और उठना-बैठना भी मुश्किल से होता है।" गुरु ने कहा "वत्स ! अभी थोड़ी-सी कसर है। अभी और क्षीण करो, इसे।" यह सुनकर शिष्य ताव में आ गया। उसने क्रोध में आग-बबूला होकर अपने हाथ की अंगुली ऐसे तोड़ दी, जैसे तिनका तोड़ देते हैं और गुरु से कहा—"आप तो मुझे कायल कर रहे हैं। देखते नहीं, इसमें एक भी तो रक्त की बूंद नहीं है। अब इसे और क्या क्षीण करूं ? बताइए !" गुरु ने कहा—"वत्स ! मेरा अभिप्राय इस शरीर को सुखाने या क्षीण करने का नहीं था। जो शरीर ५०-६० साल से तुम्हारा संगी-साथी रहा है। जिसने तुम्हारी सेवा की और जिसके जरिये तुमने इतनी साधना की, जो तुम्हारे सांस के साथ चलता रहा, उस शरीर पर तुम्हारा इतना भयंकर क्रोध उमड़ा कि तुमने एक ही झटके में उँगली तिनके की तरह तोड़कर फेंक दी। भला, बताओ इस शरीर ने क्या अपराध किया था ? अपराध तो था तुम्हारे मन के विकारों का—कषायों का। उन्हें पतला करके फेंकना था। उसके बजाय तुम लगे शरीर को सुखाने। तुम्हें जितना क्रोध उँगली पर आया, उतना ही क्रोध किसी और व्यक्ति पर आएगा तो तुम्हें उसकी गर्दन मरोड़ने में कितनी देर लगेगी ? इसलिए वत्स ! तुम शरीर को सुखाओ या न सुखाओ, इसमें रक्त की एक भी बूंद हो या न हो, कोई खास बात नहीं है। जब तक तुम्हारा इतना भयंकर क्रोध और अहंकार आदि कषाय अपने साथियों पर बरसता रहेगा, उनका पारा सातवें आसमान पर चढ़ा रहेगा, और जरा-सा छेड़ने पर सांप की तरह फुफकारने लगेगा, तब तक तुम्हारी साधना की सिद्धि प्राप्त नहीं होगी। इसलिए कषायों पर नियन्त्रण करना और उन्हें क्षीण करना ही तुम्हारे लिए अभीष्ट है।"

साधना के साथ क्रोध कम होना जरूरी है

हां; तो तात्पर्य यह है कि कितनी ही साधना करलो, परन्तु अगर क्रोध का पारा कम नहीं हुआ है तो वह साधना क्या रंग लाएगी जीवन में ? हमारी बहुत-सी बहनें तपस्या करती हैं, भगवान का जाप करती है, आनुपूर्वी, माला, सामायिक जप, तप, पूजा-पाठ आदि करती हैं, लेकिन जब कभी घर का या बाहर का कोई भी उन्हें जरा-सा कुछ कह देता है, तो वे आपे से बाहर हो जाती हैं, अभद्र गालियाँ देने लगती हैं, ताने मारने लगती हैं। लड़ाई-झगड़ा करने पर उतारू हो जाती हैं, बच्चों पर इतना गुस्सा करती हैं, उन्हें मार-पीट देती हैं। भला बताइए, जो साधिका या साधक

प्रभु के द्वार पर उनसे मिलने के लिए चला है, उस महाप्रकाश की ओर जिसने कदम बढ़ाए हैं, जो क्षीरसागर के पास जा रहा है, उसके तन-मन में क्या इतना क्रोध और बात-बात पर गाली-गलौज शोभा देते हैं ? अगर क्रोध कम नहीं हुआ है तो चाहे वह छोटा साधक हो या बड़ा, चाहे वह छोटी साधिका हो या बड़ी, अभी तक उस महाप्रकाश से बहुत दूर है। उस प्रभु से उसने सम्बन्ध जोड़ा ही नहीं है। अगर उसने सम्बन्ध जोड़ा होता तो जीवन की ये गलत स्थितियाँ नहीं बनी रहतीं।

भगवान के निवास के लिए मन को क्षीरसागर बनाओ

पुराणों में वर्णन आता है कि भगवान का निवास क्षीरसागर में है। यह बात चाहे आलंकारिक हो, पर है बहुत ही महत्त्वपूर्ण। विष्णु को क्षीरसागर में ही अधिक अच्छी जगह निवास के लिए मिलती है ? वह क्षीरसागर कहाँ है ? तो पुराणों के अनुसार वह क्षीरसागर चाहे जहाँ रहा हो, हम तो यह मानते हैं कि भक्त का मन ही क्षीरसागर है। क्योंकि भगवान विष्णु का निवास मन में माना गया है। इसलिए मैं आपसे कहती हूँ कि आपका मन जब तक क्षीरसागर नहीं बना, जब तक उसमें प्रेम और शान्ति का अथाह मधुर नीर नहीं है, तब तक उसमें प्रभु कैसे निवास करेंगे ? क्योंकि प्रेम और शान्ति के मधुर जल के बिना आपका मन क्षीरसागर नहीं बन सकेगा। अतः भगवान के निवास के लिए अपने मन को क्षीरसागर बनाओ और फिर प्रार्थना करो—

पधारो मनमन्दिर में भगवान

छोड़िये वैदिक परम्परा की बात। जैनपरम्परा की बात सुनिए। भगवान महावीर की जीवन गाथाएँ आपने पढ़ी या सुनी होंगी। जब भगवान का केशलोच होता है तो उनके अंगों को पवित्र समझकर उन लुंचित केशों को कहाँ डालने की परम्परा है ? जैनकथा साहित्य कहता है कि वे पवित्र केश क्षीरसमुद्र में डाले जाते हैं। जीवन की पवित्रता के साथ महापुरुषों के अंगोपांगों का सम्बन्ध जुड़ा हुआ है। वहाँ यों ही गप्पें नहीं हाँकी गई हैं। तीर्थंकरों की माताओं को जो १४ स्वप्न आते हैं, वे तीर्थंकर के आगमन की सूचना देते हैं। उन १४ स्वप्नों में से एक क्षीरसागर का भी स्वप्न है, जिसे तीर्थंकर की माता देखती है। वह क्षीरसागर भक्त के हृदय में जब आजाए तो समझ लेना यह भगवान के आगमन की सूचना है। मेरा मतलब यह है कि आपको जब तक क्षीरसागर का सपना नहीं आएगा, और आपका हृदय जब तक क्षीरसमुद्र की तरह विशाल और वात्सल्य से परिपूर्ण मधुर नहीं बनेगा, वहाँ प्रेम की धाराएँ नहीं उमड़ेंगी तब तक आपके हृदय में भगवान के आगमन की आशा कैसे रखी जा सकती है ?

अभिप्राय यह है कि राम, कृष्ण, बुद्ध और महावीर आदि भगवत-शक्तियाँ द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव की सीमा से या अपने प्रतीक के रूप में जब भी आती हैं तो क्या वे लवण समुद्र में निवास कर सकती है ? नहीं, कदापि नहीं।

उसकी शक्ति घटती जाएगी। वह परास्त हो जाएगा। तुमने इस पर रोष किया, इसलिए इसे वश में न कर सके, मैंने इस पर जरा भी रोष नहीं किया, इसलिए वह मेरे सामने पराजित हो गया। वह मेरा दास बन गया है अब!

कहने का तात्पर्य यह है कि क्रोधी के प्रति क्रोध करना, क्रोध रूपी राक्षस का बल बढ़ाना है। शान्ति और सन्तुलन रखने से क्रोध का बल अपने आप क्षीण हो जाता है।

क्रोध के समय केवल हाथों और पैरों पर ही नहीं, वाणी पर भी पूरा नियंत्रण रखना चाहिए। यदि आप क्रोध के समय या क्रोध का प्रसंग उपस्थित होने पर वाणी पर नियंत्रण रखते हैं तो सामने वाले का आधा क्रोध तो उसी समय समाप्त हो जाता है। किन्तु यदि आपने क्रोध के समय आवेश में आकर कोई अपशब्द या न कहने जैसा वचन कह दिया तो कदाचित् लड़ाई तो समाप्त हो जाय, लेकिन जो वाणी का बाण आपके द्वारा छूट चुका है, उसका घाव जिंदगी भर तक ठीक होना संभव नहीं है। तलवार आदि शस्त्रों द्वारा किया हुआ घाव तो कदाचित् मरहम-पट्टी करने पर ठीक भी हो जाय, लेकिन वाणी के तीर से घायल व्यक्ति का घाव ठीक होना मुश्किल है।

इसी प्रकार क्रोध के समय अपने विचारों पर भी नियंत्रण रखो, किसी के बारे में अंटशंट या गलत विचार करने से आपके मुँह से तदनुसार विचार प्रगट होंगे और वे अनेक लोगों को भड़का कर क्रोध पैदा करेंगे। इसीलिए विचार, वाणी और व्यवहार तीनों पर नियंत्रण करने से क्रोध पर झटपट नियंत्रण हो जाएगा।

कभी-कभी मनुष्य नाहक ही दूसरों को नीचा दिखाने और गालियाँ देने का प्रयत्न करता है, और वह भी सार्वजनिक मंच पर। परन्तु यह निकृष्ट वृत्ति भी सामूहिक क्रोध को उकसाती रहती है। इससे व्यक्ति की साधना में भी खलल पड़ता है और दिमाग का सन्तुलन भी बिगड़ता है। धीरे-धीरे ऐसी वृत्ति—रौद्र रूप धारण कर लेती है और व्यक्ति मृषानुबन्धी या हिंसानुबन्धी रौद्रध्यान का शिकार बन जाता है।

इससे बेहतर तो यह है कि मनुष्य दूसरों को नीचा दिखाने के बजाय या दूसरों की कटु आलोचना या निन्दा करने की अपेक्षा अपनी साधना को उन्नत बनाए, अपने जीवन को ऊँचा उठाए, अपने कर्तव्यों और दायित्वों का भली-भाँति पालन करे और सम्भव हो तो अपने विरोधी को ऊँचा दिखाने और लोगों के सामने उसके मूलभूत गुणों और विशेषताओं को लेकर उसे सुन्दर रूप में चित्रित करने का प्रयत्न करे। इससे विरोधी ठण्डा पड़ जाएगा और उसकी ताकत कम हो जाएगी, आपकी ताकत बढ़ जाएगी। परन्तु कई लोगों की आदत ही ऐसी होती है कि वे दूसरों की नाक काट कर अपनी नाक ऊँची करने की फिराक में रहते हैं। वाणी और व्यवहार के द्वारा उनका सुषुप्त क्रोध इस प्रकार उभर आता है। वे अपने इस व्यवहार के द्वारा स्वयमेव अपना बल घटाते हैं। इस प्रकार की व्यंग्यात्मक, कटु और निन्दात्मक

तथा दुर्भावनापूर्ण भाषा का प्रयोग करने से मन भी दूषित हो जाता है। आपसी मित्रता, स्नेह, सद्भावना आदि सब समाप्त हो जाती है। ऐसी गांठें पड़ जाती हैं कि वे कभी खुलती नहीं।

हां, अगर कोई अन्याय आप पर हुआ है, और आप उसे बर्दाश्त नहीं कर सकते हैं, अथवा किसी ने आप पर युद्ध थोपा है, लड़ाई करने के लिए आपको बाध्य कर दिया है तो उस समय भी मस्तिष्क का सन्तुलन रखकर सोचना और निर्णय करना चाहिए। उस समय भी आप आवेश या क्रोध में आकर सहसा कोई निर्णय न करें। उस समय इन बातों पर आप गहराई से विचार करें—

(१) क्या युद्ध टाला जा सकता है ?

(२) युद्ध करने से पूर्व समझाने-बुझाने, दबाव डालने या असहकार-बहिष्कार करने जैसा कोई ऐसा उपाय है, जिससे युद्ध टल जाए।

(३) युद्ध अनिवार्य आ पड़े तो भी विरोधी पक्ष को सोचने-समझने के लिए अवसर दिया जाय, उसे अपनी भूल या गलती कबूल करने का समय दिया जाय।

(४) इन सब पूर्वभूमिकाओं को पार करने के बावजूद भी यदि युद्ध या लड़ाई अनिवार्य आ पड़े तो अन्याय के प्रतीकारस्वरूप चेडा महाराज की तरह (यदि गृहस्थ हो तो) विरोधी का प्रतीकार करना श्रावकधर्म की भूमिका में क्षम्य होते हुए भी वाणी या अन्य कटु व्यवहारों से युद्ध न करे।

पुराने जमाने के युद्ध के उदाहरणों में हम पढ़ते हैं कि वे दिनभर लड़ते थे किन्तु शाम को एक साथ भोजन करते, साथ रहते और एक-दूसरे से मधुर वचनों से बोलते थे।

उदयपुर के राणा परिवार में चाचा और भतीजे में परस्पर युद्ध चलता था। दिनभर तो दोनों आमने-सामने भयंकर युद्ध में जुटे रहते थे शाम को चाचा-भतीजा दोनों मिलते और परस्पर एक दूसरे के घावों पर मरहम लगाते, एक-दूसरे को शिक्षा देते थे। वे रातभर प्रेम से एक साथ खाते-पीते और बैठते थे। किसी को किसी पर अविश्वास नहीं होता था कि कोई मुझे पानी में जहर दे देगा। वे एक-दूसरे के घावों पर मरहम लगाते और कहते—"तुम लड़ना नहीं जानते। तुम्हारी यह गलती है, तुमने यह घाव कैसे खा लिया है ?" इस प्रकार रातभर वे एक दूसरे की दाढ़ी और भुजा पकड़ कर परस्पर मिलते रहते और सवेरा होते ही फिर युद्ध के मैदान में एक-दूसरे का सिर उतारने को तैयार रहते थे। आप इसे पागलपन कहेंगे, परन्तु गहराई से सोचने पर आपको यह पागलपन नहीं लगेगा। कभी-कभी परिस्थितियाँ ऐसी आती हैं कि विवश होकर युद्ध के मैदान में उतरना पड़ता है।

परन्तु युद्ध के मैदान में लड़ने वाले वाणी के मैदान में कोई फैसला नहीं करें।
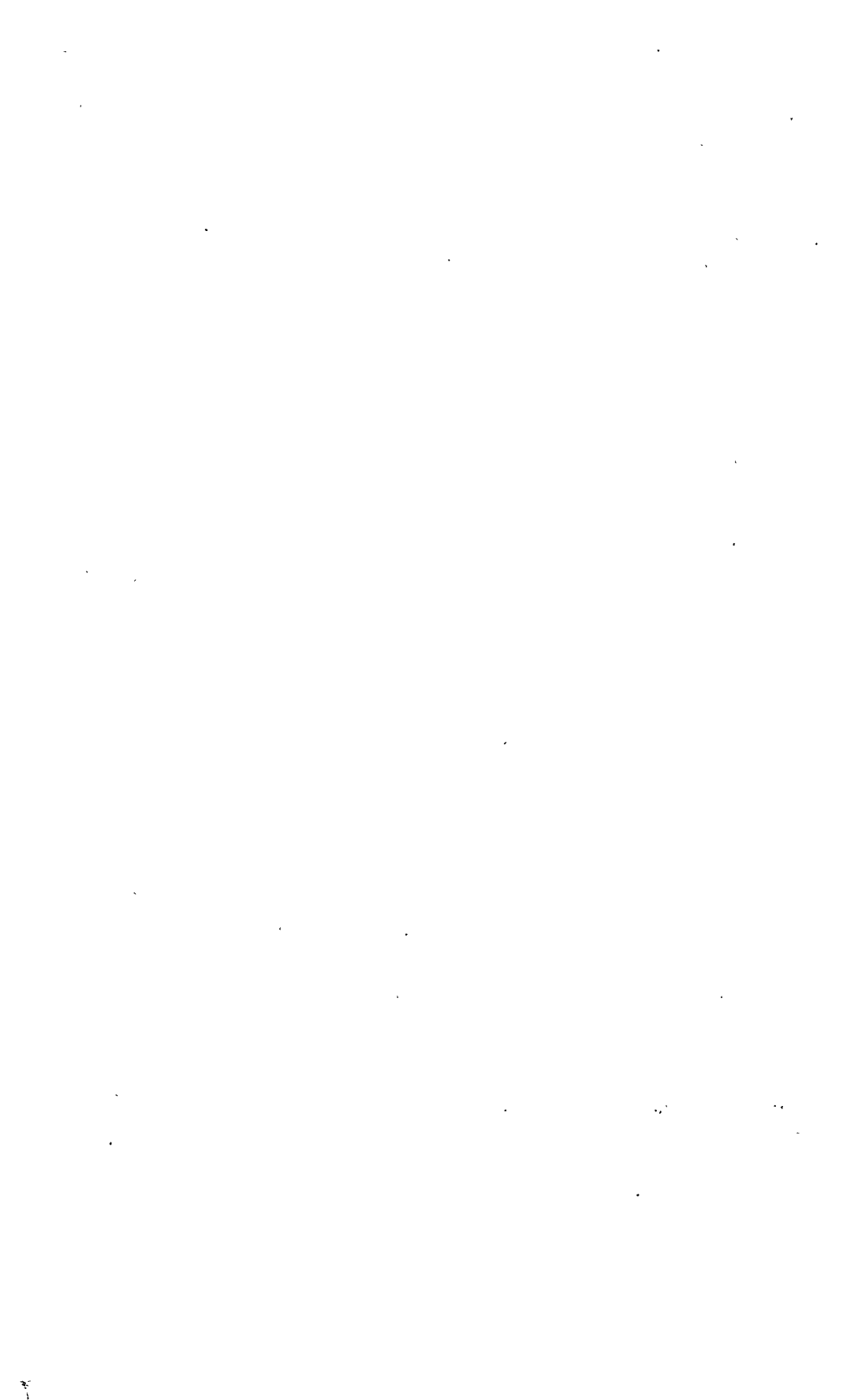
२

अर्चना के फूल

कर जल जाने वाली आग नहीं होगी। वह चिरस्थायी आग होगी, उस पर नियन्त्रण भी रखा जा सकेगा। शास्त्रों में बताया गया है कि क्रोध के भी दो रूप होते हैं। क्रोध जब नियन्त्रण से बाहर होकर आवेश का रूप धारण कर लेता है, तब वह संसार का संहार—सर्वनाश करता है। वह क्रोधाग्नि एकदम भड़क कर झटपट जलकर समाप्त हो जाती है। वह समाज, राष्ट्र और परिवार को भी जलाकर भस्म कर देती है। किन्तु दूसरे प्रकार का क्रोध, जिस पर नियन्त्रण रखकर अच्छे कार्य करने, समाज, राष्ट्र एवं परिवार को उत्साह एवं साहस प्रदान कर सत्कार्य कराने और उसका निर्माण करने का प्रयत्न करता है, उसका सदुपयोग हो सकता है, उससे शक्ति भी बढ़ती है और विचारों पर भी नियन्त्रण होता है। उस क्रोध की आग को हम उत्साह, साहस, ताकत, हिम्मत या जोश कह सकते हैं। जब यह सात्त्विक आग जीवन में पैदा हो जाती है तो वह बड़े से बड़े दुराचार, पाप एवं बुराई को एक ही झटके में समाप्त कर देती है। उसमें इतनी शक्ति, तड़फन या तीव्रता पैदा हो जाती है कि क्षणभर में समस्त कर्मों का क्षय कर डालती है। चिलातीपुत्र चोर था, वह चोरी, हत्या, लूटपाट आदि भयंकर कर्म करता था, और गुस्से में आकर उसने कई हत्याएँ भी करदी थीं, लेकिन वही क्रोध, जब तीव्र तड़फन या जोश के रूप में रूपान्तरित हो गया तो एक ही झटके में तमाम बुरी वृत्तियाँ समाप्त करके साधु जीवन अंगीकार करने की शक्ति आ गई। इसी प्रकार बड़े से बड़े पापी क्रोध का सुन्दर रूपान्तर होते ही समस्त पाप-कर्मों को एकदम तिलांजलि दे देते हैं। यह भी एक प्रकार की सात्त्विक आग है, जो क्षणभर में समस्त पापों, दुराचारों या अनिष्टों को भस्म करने की शक्ति रखती है।

चन्द्रमा-से सौम्य-शान्त एवं सूर्य से तेजस्वी बनो

हमारे सामने जीवन के ये दोनों ही रूप महापुरुषों के जीवन में दृष्टिगोचर होते हैं। हम भी जीवन में ये दोनों ही रूप पैदा कर सकते हैं। एक ओर चन्द्रमा के समान शीतल-सौम्य, दूसरी ओर सूर्य के समान प्रतापी—तेजस्वी। हजारों वर्षों के इतिहास में ऐसे अनेकों परिवारों की कहानियाँ आपको मिलेंगी, जिनमें ये दोनों तत्त्व मौजूद थे। चाहे वे महापुरुष राम के रूप में रहे हों, चाहे कृष्ण के रूप में, अथवा बुद्ध के रूप में रहें हों या महावीर के रूप में। प्रत्येक महापुरुष के जीवन में ये दो तत्त्व अवश्य ही परिलक्षित एवं चित्रित होंगे—सूर्य और चन्द्र की उपमा। चन्द्रमा की तरह सौम्य एवं सूर्य की तरह तेजस्वी—प्रतिभावान। एक ओर परमात्मतत्त्व की याद दिलाकर कहते हैं—तुम्हारा भगवान् चन्द्रमा की तरह शीतल, शान्त, निर्मल और सौम्य है। तुम्हें भी सौम्य और निर्मल होना चाहिए, और साथ ही कहते हैं—भगवान् सूर्य की तरह तेजस्वी, अधिकाधिक प्रकाशकर, प्रताप-शाली और प्रतिभावान है, इसलिए तुम्हें भी तेजस्वी, प्रतिभावान, प्रकाशमान और प्रतापी होना चाहिए। एक ओर हमारे जीवन में चन्द्रमा की-सी शान्ति-शीतलता हो, परन्तु वह शान्ति मुर्दे की—श्मशान की शान्ति न हो। ऐसी शीतलता न हो कि हम

हर गलती या भूल का स्वागत करने के लिए तैयार रहें, अन्याय-अत्याचार चल रहा हो, तब भी मौन धारण करलें, कायर और बुजदिल बनकर बैठ जायें 'रामाय स्वस्ति' की तरह 'रावणाय स्वस्ति' भी कहकर अन्याय, अत्याचार को भगवान् का वरदान समझ लें। संसार भर के दुर्योधनों और कंसों को भी माला पहिनाने को तैयार हो जायें। ऐसी शान्ति नहीं चाहिए। इसीलिए चन्द्रमा-सी शीतलता के साथ सूर्य की-सी तेजस्विता भी अपेक्षित है। यानी शान्ति के साथ क्रान्ति भी हो। सौम्यता और शीतलता के साथ तेजस्विता और प्रतापशालिता भी हो। तेजस्विता हो, पर ऐसी नहीं हो कि तुरन्त भड़क उठे और संसार में कहर बरसा दे, परन्तु वह समुद्र के समान गम्भीर और चन्द्र-सी सौम्य हो। तात्पर्य यह है कि एक ओर तुम्हारा प्रताप, तेज, प्रतिभा एवं ऐश्वर्य सूर्य की तरह ऐसा जाज्वल्यमान हो कि उसमें समस्त विकार अनिष्ट एवं पाप जलकर भस्म हो जाएँ, तुम्हारे सामने किसी को पाप करने में भय हो, वह तुम्हारे तेज से इतना अभिभूत हो जाय कि उसके पाप सदा के लिए छूट जाएं। सूर्य की तरह तुम इतने प्रकाशमान हो कि अज्ञान, अन्धविश्वास एवं मोह आदि का अन्धकार क्षणभर में नष्ट हो जाए, अन्धकार नाम शेष हो जाए। अज्ञान आदि अन्धकार में क्षणभर भी खड़े रहने की हिम्मत न हो। हमारा तेज जलता हुआ तेज हो, जो सारे संसार को आलोकित कर सके, संसार की सर्दी, जड़ता को दूर कर सके या ठण्डे पड़े हुए उत्साह एवं जोश को द्विगुणित कर सके। साथ ही वह जोश गम्भीर हो, शान्तिपूर्ण हो।

आपकी आत्मा चन्द्रमा के समान शीतल हो, साथ ही तेज से युक्त हो।

ये दोनों ही लक्षण महान् जीवन में होने चाहिए। ये दोनों ही दो प्रकार की अग्नियाँ हैं, जो जीवन के लिए वरदान रूप हैं। आप भी पुरुषार्थ द्वारा अपने जीवन में इन्हें प्रकट करें और जीवन को महान् बनाएँ। □

आन्तरिक आग पर नियंत्रण : शक्ति की सुरक्षा

जो व्यक्ति क्रोध की आग पर इस प्रकार नियंत्रण करना जानते हैं और समय आने पर नियंत्रण भी करते हैं, उनका मस्तिष्क जीवन के क्षेत्र में साथ रहता है, वे जीवन के पथ पर स्फूर्तिमान बने रहते हैं। ऐसी दशा में वे भयंकर से भयंकर परिस्थिति में भी ठीक निर्णय कर सकते हैं, सही रास्ता निकाल सकते हैं। इस प्रकार आपकी शक्ति क्रोध में खर्च न होकर, सुरक्षित रहती है, वह अच्छे कार्य में लग सकती है।

मेरे कहने का अभिप्राय यह है कि बाहर में जो आग होती है, उस पर जब नियंत्रण नहीं कर पाते हैं तो वह संहार करती है, और जब उस पर नियंत्रण कर लेते हैं तो वह दुःख हरती है। यही बात अन्दर की आग के सम्बन्ध में है। क्रोध अन्दर की आग है, यदि आप उस पर नियंत्रण नहीं कर पाते हैं तो वह आपको और आपके परिवार वगैरह को क्षीण कर देती है, निर्बल बना देती है, परन्तु यदि आप अन्दर की इस आग पर नियन्त्रण रखकर अपनी शक्ति को क्षीण नहीं होने देते हैं तो वह सुरक्षित शक्ति—जो कि अग्निमय है, तेजस्वी है, स्फूर्ति और उत्साह प्रदान करने वाली बन जाती है। उस बची हुई शक्ति का उपयोग आप तीव्र से तीव्र साधना करने में लगाइए, परीषह सहन करने में, अभ्यन्तर तपस्या में, दीन-हीनों की रक्षा करने में, अन्याय-अत्याचार का अहिंसक प्रतीकार करने में, दान, शील, तप और भाव का आचरण उत्साहपूर्वक करने में लगा दीजिए। जो शक्ति आप क्रोध, अभिमान, लोभ, मूर्च्छा, माया आदि में झोंक देते हैं, उसी शक्ति को आप उपर्युक्त कार्यों में मरजीवा बनकर झोंक दीजिए, फिर देखिए आपके अन्दर की आग कितना उत्तम काम करती है। अच्छे कार्यों के करने के लिए जो उत्साह, स्फूर्ति, जोश या हिम्मत आती है, यह उसी अग्नितत्त्व का फल है। परन्तु कब है ? जब आप नियंत्रण कर लेते हैं, तब वही अग्नितत्त्व उत्साह और साहस के रूप में अभिव्यक्त होता है। वह आग सत्य के प्रति लौ लगाए रखती है। वही निष्ठा आपके जीवन के लिए मुक्ति का भव्यद्वार खोल देती है।

आग : गर्म और ठंडी

आचार्य सिद्धसेन भगवान् पार्श्वनाथ की स्तुति करते हुए इसी महत्त्वपूर्ण बात को अभिव्यक्त करते हैं—

> क्रोधस्त्वया यदि विभो प्रथमं निरस्तो,
> ध्वस्तास्तदा बत कथं किल कर्मचौराः।
> प्लोषत्यमुत्र यदि वा शिशिराऽपि लोके,
> नीलद्रुमाणि विपिनानि न किं हिमानी॥

भगवन् ! आपने क्रोध तो पहले ही नष्ट कर दिया। साधना की निचली भूमिका पर ही आपने क्रोध को खत्म कर दिया था। आगे के लिए जो कर्मों का चक्र बाकी रह गया था, जो कि आपकी आत्मा के लिए घातक शत्रु था, उसको कैसे समाप्त किया ? इस प्रश्न का उत्तर भगवान् की ओर से आचार्य स्वयं देते हैं। भक्त भी तो भगवान् का प्रतिनिधि होता है ! उसे भी कुछ हक है बोलने का। आचार्य कहते हैं—जैसे क्रोध की आग होती है, वैसे क्षमा, शान्ति, उत्साह आदि की भी आग होती है। वह गर्म है तो यह ठण्डी आग है। बाह्य आग के रूप में जो क्रोध था, जो आवेश का रूप धारण किये हुए रहता था, वह क्रोध की आग तो जरूर नष्ट कर दी गई। लेकिन क्षमा आदि की जो ठण्डी आग थी, उसने भी धीरे-धीरे कर्मों को नष्ट कर दिया। सर्दी में बर्फ पड़ती है, जिसे पाला कहते हैं, वह कितना ठण्डा होता है ? परन्तु वह जब हरे-भरे वृक्षों पर या लहलहाते हरे पौधों पर पड़ता है, तो सबको जलाकर समाप्त कर देता है। अग्नि से जले हुए वृक्ष तो सम्भव है कि पानी देने से पुनः हरे-भरे हो जायँ, लेकिन पाले की आग से झुलसे हुए हरे-भरे पेड़-पौधे कदापि नहीं पनप पाते। अर्थात् शान्ति—क्षमा की ठण्डी आग से इन सब कर्मों को—विकारों या वासनाओं को जलाकर हमने खत्म कर दिये। भगवान् की ओर से यह उत्तर है।

यही तर्क और सुन्दर विचार मैं आपके सामने भी प्रस्तुत करती हूँ। आप लोग क्रोध, काम, अभिमान आदि विकारों को जलाना चाहते हैं, समाज में प्रचलित बुराइयों, अपराधों एवं अनिष्टों को भी भस्म करना चाहते हैं, मानव जाति से हुई भूलों और गलतियों को समाप्त कर देना चाहते हैं, अन्याय, अत्याचार के खिलाफ अहिंसक ढंग से लड़ना चाहते हैं तो उसके लिए भी आपको अग्नितत्त्व अपेक्षित होगा। जैसे गर्म आग से गर्म आग शान्त नहीं होती, वैसे ही क्रोध आदि से क्रोध आदि समाप्त नहीं होंगे। पहले मैंने बताया था कि भगवान् ने क्रोध की आग से कर्मों को नहीं जलाया अपितु क्षमा, शान्ति आदि की ठण्डी आग से जलाया था। इसी प्रकार हमें भी अगर विकारों, अपराधों आदि अनिष्टों को जलाना है तो क्रोध की आग से काम नहीं होगा, अपितु काम होगा उत्साह एवं साहस की आग से। अर्थात् इन सब विकारों को नष्ट करने में अग्नितत्त्व तो अपेक्षित है, लेकिन वह अग्नितत्त्व ऐसा नहीं होगा कि जरा-जरा-सी बात में भड़का और समाप्त ! जो जरा-जरा-सी बातों में संघर्ष करती है, वह आग तो घास की आग है, जो एकदम जली और समाप्त हो गई। इस आग से कोई निर्माण कार्य नहीं हो सकता। परन्तु जो लकड़ी देर से आग पकड़ती है, धीरे-धीरे प्रदीप्त होती है, वह आग चिरस्थायी भी होती है और उस पर नियन्त्रण रखा जाता है तो उससे महत्त्वपूर्ण कार्य हो सकते हैं। इसी प्रकार अगर क्रोध उठता है—विकारों आदि को नष्ट करने के लिए तो उसे उठने दो, परन्तु उस पर नियन्त्रण रखो, उसका रूपान्तर उत्साह, साहस एवं मर-मिटने की तीव्रता में हो जाएगा तथा उससे अनेकों अच्छे कार्य हो सकेंगे। वह आग—आग तो होगी, लेकिन झटपट भड़क

अन्तर्यात्रा

1

आत्मा को जानो !

बन्धुओ,

आज का प्रवचन एक छोटे से सूत्र से प्रारम्भ किया जाता है जो केवल दो शब्दों के द्वारा ही जीवन के रहस्य को प्रगट करता है। वह सूत्र है—

'आत्मानं विजानीहि'

अर्थात्—अपने आप को पहचानो, आत्मा को जानो।

हमारा जैनदर्शन ईश्वर को अथवा किसी एक ऐसी शक्ति को नहीं मानता जो सारी सृष्टि का परिचालन करती हो। जैनदर्शन की मान्यता है कि प्रत्येक प्राणी की एक स्वतन्त्र आत्मा है, और वह आत्मा जब शनैः-शनैः अपने कर्म-बन्धनों का क्षय कर देती है, तब वह सदा-सदा के लिए संसार-मुक्त होकर अनन्त सुख की अधिकारिणी बन जाती है।

इसलिए जीवन के रहस्य को जानने, उसके लक्ष्य को पहिचानने तथा इस दुर्लभ एवं अमूल्य मानव-जीवन को सार्थक करके सदा के लिए भव-बन्धन से मुक्त होने के लिए आत्मा को जानना आवश्यक है। इसके अतिरिक्त अन्य कोई मार्ग नहीं है।

आप कौन हैं ?

आत्मा की पहचान कराने के लिए मुझे आपसे पहला प्रश्न करना है कि—'आप कौन हैं ?' जिस शरीर को आप अपना समझते हैं और कहते हैं, मैं 'स्वस्थ हूँ, अस्वस्थ हूँ, सुखी हूँ अथवा दुखी हूँ।' क्या वह शरीर ही आप हैं ? नहीं ! शरीर तो बदलता रहता है। मिटता रहता है। शैशवावस्था से वृद्धावस्था तक यह परिवर्तन की नाना कोटियों में से गुजरता है और अन्त में नष्ट हो जाता है। इससे सिद्ध हो जाता है कि आप शरीर नहीं हैं। शरीर जड़ है, आप चेतन हैं, शरीर बढ़ता है, आप नहीं बढ़ते, शरीर क्षय होता है, आप अक्षय हैं। फिर आप शरीर को 'मैं' क्यों समझते हैं ? तथा शरीर के सुख-दुःख, जन्म-मरण और मान-अपमान को अपना क्यों मानते हैं ?

शरीर की तरह ही इन्द्रियाँ भी आप नहीं हैं। आँख, कान, जीभ, नासिका

और चमड़ी—ये सभी इन्द्रियाँ आपके शरीर के साथ हैं। इनमें से सभी के अथवा एक के नष्ट होने पर भी आप नष्ट नहीं होते। आप तो केवल इनकी चेष्टाओं को जानने वाले और देखने वाले हैं अतः इन्द्रियों को अपना स्वरूप मानना भी भ्रमपूर्ण है।

बहुत से व्यक्ति अपने आप को 'मन' मान लेते हैं! यह भी उनकी नासमझी है। मन में जब नाना प्रकार के विचार उठते हैं, तब वे स्पष्ट कहते हैं—'मेरे मन में अमुक विचार आए'। इससे सिद्ध हो जाता है कि मन के विषय में कहने वाला कोई और ही है। इसी प्रकार मनुष्य 'बुद्धि' भी नहीं है। मन के समान ही बुद्धि की चाल को, उसकी प्रत्येक स्थिति को, उसके कार्य-विचार को तथा उसकी योग्यता-अयोग्यता को वह जान लेता है और कहता है—'अमुक समय में मेरी बुद्धि भ्रष्ट हो गई थी' यह कथन साबित कर देता है कि वह बुद्धि का द्रष्टामात्र है स्वयं बुद्धि नहीं।

मनुष्य तब क्या है ?

प्रश्न उठता है कि अगर मनुष्य देह, इन्द्रियाँ, मन और बुद्धि में से कुछ भी नहीं है, तब वह क्या है? उत्तर यही है कि मनुष्य शुद्ध, बुद्ध, नित्य, चेतन, आनन्दमय आत्मा है। उस आत्मा का न तो देह के निर्माण के साथ निर्माण होता है और न उसके नाश के साथ नाश ही होता है। न आत्मा को कोई पीड़ित कर सकता है और न ही मार सकता है। इसीलिए गीता में कहा गया है—

> **"न जायते म्रियते वा कदाचिन्नायं,**
> **भूत्वा भविता वा न भूयः।**
> **अजो नित्यः शाश्वतोऽयं पुराणो,**
> **न हन्यते हन्यमाने शरीरे॥"**

—यह आत्मा न तो कभी जन्म लेता है और न मरता है। यह अजन्मा है, नित्य है, शाश्वत और चिरकालीन है। शरीर नष्ट होने पर भी आत्मा का नाश नहीं होता।

आत्मा सदा अपने स्वरूप में स्थिर है, अचल है। उसके इस शुद्ध और यथार्थ स्वरूप को जान लेना ही जीवन के रहस्य को जान लेना है।

प्राण कितने प्रकार के हैं ?

शास्त्रों में प्राण दो प्रकार के बताये गये हैं—(१) द्रव्यप्राण (२) भावप्राण।

द्रव्यप्राण दस प्रकार के बताये गये हैं जो पुद्गल रूप होते हैं। ये जीव के निज प्राण नहीं हैं। इनका संयोग और वियोग होता रहता है। द्रव्यप्राण आत्मा के लिए बन्ध रूप हैं। जब तक ये विद्यमान रहते हैं तब तक तेरहवें-चौदहवें गुणस्थान वाले ज्ञानी जीव भी मोक्ष में नहीं जा सकते। आयु कर्म के मौजूद रहने तक दस प्राण भी बने रहते हैं और उसके नाश होने के साथ ही वे विनष्ट हो जाते हैं तथा आत्मा निर्वाण को प्राप्त कर लेती है।

द्रव्यप्राणों के नष्ट हो जाने पर केवल भावप्राण ही रहते हैं। ये आत्मा की निधि हैं। स्थायी और अमर हैं। इन पर काल का कोई वश नहीं चलता।

आत्मा का स्वभाव

आत्मा स्वयंपूर्ण और अनन्त शक्तिशालिनी है। सच पूछा जाय तो इसे कुछ भी करने की आवश्यकता नहीं है। आत्मा की गति स्वभावतः ही ऊर्ध्वगामी है; किन्तु जिस प्रकार किसी पदार्थ के साथ कोई भारी वजन बांध देने के कारण वह नीचे की ओर खिंचता चला जाता है, उसी प्रकार शरीर का बोझ आत्मा को नीचे की ओर खींचता रहता है, ऊपर नहीं उठने देता। अगर अपने प्रयत्नों के द्वारा आत्मा के पाँवों में पड़ी हुई यह शरीर रूपी बेड़ी हम काट सकें तो निश्चय ही हमें अबाध आनन्द का अनुभव होने लगे। आत्मा पर देह की सत्ता ही दुखदायी होती है। अगर उस सत्ता को मनुष्य हटा दे तो संसार की अन्य कोई भी शक्ति उसे ऊँचा उठने से नहीं रोक सकती।

किन्तु देह को आत्मा से अलग रखना सरल कार्य नहीं है। इसके लिए अत्यधिक विवेक और निग्रह की आवश्यकता है। कहा भी है—

> "विवेक दृष्टया चरतां जनानां,
> श्रियो न किञ्चित् विपदो न किञ्चित्।"

—विवेकपूर्वक आचरण करने वालों के लिए न कोई संपत्ति है और न कोई विपत्ति। विवेकदृष्टि से जीवन चलाने वाले पुरुषों के लिए संपत्ति हर्ष-दायक नहीं हुआ करती है और विपत्ति भी दुःखप्रद नहीं होती है। वे दोनों ही अवस्थाओं में तटस्थ भावना रखते हैं।

जो प्राणी अपने विवेक द्वारा आत्मा के सच्चे स्वरूप को समझ लेते हैं वे ही अपने मन और इन्द्रियों पर काबू पा सकते हैं तथा आत्मा से भिन्न समस्त पदार्थों के प्रति विरक्त भावना रखने में समर्थ हो सकते हैं। वैराग्य ही एक प्रकार का निग्रह, तितिक्षा है।

आज के युग में भौतिक जीवन की चमक-दमक और आकर्षण में फँसा हुआ मानव अपनी अन्तरात्मा को भूलता जा रहा है। यह ठीक उसी प्रकार है, जिस प्रकार मन्दिर की भव्यता को बढ़ाने में मनुष्य अपनी समस्त शक्ति व्यय करता है, ऊँचे-ऊँचे शिखरों का निर्माण कर उन पर स्वर्ण कलश प्रतिष्ठित करवाता है, दीवारों पर सुन्दर और मोहक कलाकृतियों का निर्माण करवाता है किन्तु मन्दिर के अन्दर विराजमान देव-प्रतिमा की तनिक भी चिन्ता नहीं करता।

इस प्रकार की क्रियाएँ न केवल व्यर्थ हैं, अपितु जन्म-मरण की शृंखला को बढ़ाने वाली साबित होती हैं। इसलिए यह कभी नहीं भूलना चाहिए कि आत्मा में अनन्त शक्ति है। केवल मोह की सघन परतों के नीचे वह दब गई है। इसी के

परिणामस्वरूप मनुष्य अपने को मन और इन्द्रियों के वशीभूत पाता है; कामना, वासना और विषयासक्ति में गृद्ध रहता है तथा पाप-ताप से पीड़ित होता है। प्रकृति में सत्त्व, रज और तम तीन गुण भरे हैं। न्यूनाधिक मात्रा में ये सर्वत्र पाये जाते हैं। इन तीन गुणों को पहचान कर निग्रह के द्वारा जीत लेने से ही जीव आत्म-स्वरूप को जान सकता है।

तमोगुण

तमोगुण की अधिकता मनुष्य के लिए बड़ी भयंकर साबित होती है। इसके मुख्य परिणाम हैं—आलस्य, निद्रा और प्रमाद। ये तीनों मनुष्य पर क्रमशः हावी होते हैं और उसे अकर्मण्य बनाकर ही छोड़ते हैं। बुद्धिमान से बुद्धिमान व्यक्ति भी तमोगुण की अधिकता के कारण अपने लक्ष्य से च्युत हो जाते हैं तथा जीवन को उन्नत बनाने की बजाय अवनति की ओर अग्रसर कर देते हैं।

आलस्य के कुपरिणाम

पाश्चात्य विद्वान कार्लाइल का कथन है—

"In idleness alone there is perpetual despair.

—आलस्य में अन्त तक निराशा ही रहती है।

वास्तव में ही आलस्य ऐसा राजरोग है जिसका आक्रमण होने पर रोगी कभी भी नहीं सँभल सकता। छोटे से छोटा और बड़े से बड़ा व्यक्ति आलस्य के कारण अकर्मण्य बन जाता है और उसके परिणामस्वरूप अपनी तथा समाज की सुख-शान्ति मिटाने में कारण बनता है। आलस्य रूपी रिपु मनुष्य पर हावी होने के लिए प्रतिपल घात लगाये रहता है। कोई भी अवसर यह चूकता नहीं। भोजन में दो ग्रास भी अधिक पेट में चले गये कि इसने अपने पैर फैलाने शुरू किये। प्रथम तो यह मनुष्य को लेटने के लिए विवश करता है और लेट जाने के बाद निद्राधीन हो जाने के लिए। इसी बीच अमूल्य समय बीत चलता है और मनुष्य के निर्धारित कार्य खटाई में पड़ जाते हैं।

आलसी व्यक्ति का समय और जीवन कभी सार्थक नहीं होता। फिर भी वह आलस्य को निमन्त्रण देता ही रहता है। या तो वह हाथ पर हाथ धरे 'मलूकदास' के कथन का जप करता है—

अजगर करे न चाकरी, पंछी करे न काम।
दास मलूका कह गए, सबके दाता राम॥

और नहीं तो अपने अभावों के लिए ईश्वर को कोसता रहता है। पर इससे होता क्या है? कुछ नहीं, सिवाय इसके कि जीवन भर दरिद्रता की चक्की में पिसता रहे। और उस पर भी पेट न भरने के कारण कभी चोर या डाकू बन कर पाप-कर्मों उपार्जन करे। सन्त विनोबा भावे ने इसीलिए कहा है—

"दुनिया में आलस्य बढ़ाने-जैसा दूसरा भयंकर पाप कोई नहीं है ।"

वस्तुतः आलस्य ही दरिद्रता की कुंजी और समस्त अवगुणों की जड़ है। शरीर पर आलस्य का आक्रमण होते ही मन और बुद्धि भी इसके शिकार हो जाते हैं । कहा जाता है कि राजा 'नल' अत्यन्त प्रतापी और महान थे किन्तु एक बार पाँव धोते समय उन्होंने असावधानी के कारण पैर का थोड़ा-सा हिस्सा बिना धुला छोड़ दिया । परिणाम यह हुआ कि उस कोरे हिस्से में से तुरन्त 'कलि' ने उनके शरीर में प्रवेश कर दिया ।

आलस्य भी कलि के समान ही मानव का शत्रु है जोकि शरीर के किसी भी हिस्से से अन्दर प्रवेश कर जाता है । हाथ, पैर अथवा किसी भी अंग के कर्तव्यच्युत होते ही यह अपने घुसने का मार्ग बना लेता है । भर्तृहरि का कथन सत्य है—

"आलस्यं हि मनुष्याणां, शरीरस्थो महान् रिपुः ।"

—आलस्य ही मनुष्य के शरीर में रहने वाला सबसे बड़ा शत्रु है ।

निद्रा की करामात

आलसी व्यक्ति या तो हाथ पर हाथ रखे बैठे रहते हैं या फिर अधिक समय तक निद्रा के वशीभूत होकर बिस्तर पर पड़े रहते हैं । किन्तु उनकी वह निद्रा प्रगाढ़ और निःस्वप्न नहीं होती जिससे जागने पर शरीर ताजा और स्फूर्तिदायक महसूस होता है । अधिक समय तक बिस्तर पर पड़े रहने से मनुष्य या तो करवटें ही बदलता रहता है या फिर दुःस्वप्न देखता रहता है । ऐसी निद्रा दुखदायी होती है और इसीलिए वेदों में इसका तिरस्कार करते हुए कहा गया है—

"परा दुःस्वप्न्यं सुव ।"

—ऐसी दुष्ट नींद मुझे नहीं चाहिए । हमारी नींद आराम और सुख के लिए होती है, किन्तु यदि उसमें अनिच्छित और भयानक स्वप्न आते रहें तथा बेचैनी और कुविचार पिण्ड न छोड़ें तो फिर उस निद्रा से क्या लाभ ?

वस्तुतः निद्रा अत्यन्त पवित्र और सुखकर वस्तु है । सेवा कार्य करने से क्लांत साधु-सन्तों की नींद योग का ही अंग है, कठिन श्रम करने के पश्चात् गाढ़ निद्रा लेने वाले प्राणियों की नींद उन्हें पुनः कर्मरत होने में सहायक शक्ति है और आत्म-कल्याण के इच्छुक ज्ञानाभिलाषी ब्रह्मचारियों की नींद उनकी स्मरणशक्ति को पैनी करने वाला हथियार है ।

जिस प्रकार मन लगाकर किया गया एक घंटे का अध्ययन चंचलतापूर्वक किये गये चार घंटे के अध्ययन से ज्यादा लाभदायक होता है, उसी प्रकार अकर्मण्य बने रहकर घंटों शय्या पर बेचैनी से करवटें बदलने की अपेक्षा कठिन श्रम, अध्ययन तथा सेवा कार्य आदि से थककर थोड़े समय की गाढ़ निद्रा अधिक लाभकारी होती है ।

शान्त और प्रगाढ़ निद्रा भाग्यशालियों को ही प्राप्त होती है। निद्रा का महत्त्व लम्बी-चौड़ी शय्या अथवा अधिक समय तक सोए रहने पर नहीं माना जाता। वरन् कम समय सोने पर गहरी नींद आने पर निर्भर होता है। जो व्यक्ति जागते समय सोता है, वह सोने के समय जागता है। दिन में मन, बुद्धि और शरीर का सही उपयोग न करने वाले की बुद्धि रात्रि के समय सोच-विचार में पड़ी रहती है, मन इतस्ततः भटकता है और शरीर भी वास्तविक सुख प्राप्त नहीं कर पाता। और इसके विपरीत समय पर इनका पूरा उपयोग करने वाले को ही निद्रा-सुख पूर्णरूप से हासिल होता है। किसी ने कहा भी है—

ब्रह्मचर्यरतेर्ग्राम्य सुख निस्पृहचेतसः।
निद्रासन्तोषतृप्तस्य स्वकालं नातिवर्तते॥

—जो मनुष्य सदाचारी है, विषय-भोग से निस्पृह है और सन्तोष से तृप्त है, उसको समय पर निद्रा आये बिना नहीं रहती।

निद्राशील मनुष्य का चित्त दक्ष और सावधान नहीं रह सकता। वह पुरुषार्थ रहित हो जाता है। वास्तव में ही जो समय पुरुषार्थ-साधना के लिए होता है, उसे नींद ही हजम कर जाय तो पुरुषार्थ करने की नौबत आएगी ही कब? जीवन का सबसे महत्त्वपूर्ण समय ही जब नींद में व्यतीत हो जाए तो मनुष्य करणीय कर्म कब करेगा? उसे तो मानव-जीवन पाकर भी सबके तिरस्कार का पात्र बनना पड़ेगा—

"धिक् जीवितं उद्यमवर्जितम्।"

—यदि मानव-जीवन उद्यम से हीन है, पुरुषार्थ से रहित है, तो उस जीवन को धिक्कार है।

प्रमाद का जन्म

मानव का बहुत-सा अमूल्य समय जब निद्रा में ही व्यतीत हो जाता है, तो फिर तमोगुण का तीसरा दोष—'प्रमाद' स्वयं ही उत्पन्न हो जाता है। अधिक निद्रा से पुनः आलस्य बढ़ता है और आलस्य से विस्मृति। विस्मृति परमार्थ का नाश करने वाली होती है। इस रोग से ग्रसित व्यक्ति अपनी बुद्धि का सही उपयोग नहीं कर पाता। विस्मृति दीमक के समान समस्त दिमागी शक्ति को चाट जाती है और जीवन को खोखला बना देती है। यद्यपि हम विस्मृति को बड़ा दोष नहीं मानते तथा स्वाभाविक और छोटी-सी भूल मानकर छोड़ देते हैं किन्तु छोटी-छोटी भूलें भी कभी-कभी बड़ा भयानक परिणाम सामने लाती हैं। महात्मा बुद्ध ने इसीलिए कहा है—

'पमादो मच्चुनो पवम।'

प्रमाद, विस्मरण मृत्यु ही है। अतः इस पर विजय पाने का हमें सतत प्रयत्न करना चाहिए। प्रमादी पुरुष कभी भी अपने लक्ष्य को प्राप्त नहीं कर सकता। समय का सदुपयोग न कर सकने के कारण उसका जीवन निरर्थक और निस्सार बन कर रह जाता है।

तमोगुण से बचाव

तमोगुण के आक्रमण से बचने का सबसे पहला और सरल उपाय है—श्रम करना। श्रम के द्वारा ही आलस्य को जीता जा सकता है। शारीरिक शक्ति को बढ़ाने का अमूल्य और एकमात्र नुस्खा है—सदा श्रम करना। आलस्यवश अगर परिश्रम करना छोड़ दिया जाय तो प्रकृति रुष्ट होकर उसकी सजा दिये बिना नहीं रहती; तथा बीमारी या अन्य कष्ट के रूप में वह भोगनी ही पड़ती है। शरीर श्रम में जो भी समय लगाया जाता है, वह कभी व्यर्थ नहीं जाता। उसका सुफल अवश्य मिलता है। श्रमशील प्राणी को आरोग्य मिलता है तथा उसकी बुद्धि तीव्र, शुद्ध और सतेज हो जाती है। इन सबके द्वारा ही मनुष्य महान् और असम्भव लगने वाले कार्य भी सम्पन्न कर लेता है। कहा भी है—

'Genius begins great works; labour alone finishes them.'

—जोबरी

—प्रतिभा महान कार्यों का प्रारम्भ करती है, किन्तु परिश्रम ही उनको सम्पन्न करता है।

आप प्रायः पढ़ते और सुनते भी हैं कि 'स्वस्थ शरीर में स्वस्थ मन रहता है।' यह नितान्त सत्य है। आज के युग में श्रीमंत लोग श्रम करने में, अर्थात् काम करने में अपनी हेठी समझते हैं। परिणाम यह होता है कि उन्हें अनेक रोगों का शिकार बनकर डॉक्टरों का घर भरना पड़ता है तथा अनाप-शनाप पैसा खर्च करके पहाड़ों पर हवा-पानी बदलने के लिए जाना पड़ता है। क्या इससे अच्छा यह नहीं है कि वे पहले ही श्रमशील बने रहकर इन परेशानियों को निमंत्रण ही न दें ?

परिश्रम ही भविष्य को उज्ज्वल बनाने वाला मंत्र है। श्रमशील व्यक्ति के निकट आलस्य नहीं फटकता और अनिद्रा तो उससे कोसों दूर रहती है। जो व्यक्ति इन दोनों को जीत लेता है समझो उसने प्रमाद पर भी सहज ही विजय प्राप्त करली है। प्रमाद आत्मोन्नति में बाधा डालने वाला उसका सबसे बड़ा शत्रु है। वह जब तक विद्यमान रहता है, मनुष्य आत्म-साधना नहीं कर सकता तथा आत्मस्वरूप को नहीं समझ सकता। अप्रमादी साधक ही आत्मा को पहिचानने में समर्थ हो सकता है तथा कर्म-बन्धनों को काटकर मुक्ति की ओर अग्रसर हो सकता है। इसलिए आलस्य, निद्रा तथा प्रमाद रूप तमोगुण को जीतना मानव का सर्वप्रथम लक्ष्य होना चाहिए और सतत प्रयत्न से इसे जीतने का प्रयास करना चाहिए।

रजोगुण

तमोगुण के समान ही आत्म-रूप की प्राप्ति में रजोगुण बाधक होता है। जिस प्रकार छोटे बालक गेंद को प्रत्येक ओर से ठोकरें मार कर उछालते रहते हैं, उसी प्रकार तमोगुण और रजोगुण मानव को कभी इधर से और कभी उधर से ठोकर लगाया करते हैं तथा उसके जीवन को अशान्ति और उलझन के व्यूह में फँसाकर ही

छोड़ते हैं। सिक्के के दो पहलुओं के समान ही ये दोनों गुण जीवन को नष्ट करने वाले होते हैं। जहाँ इनमें से एक होता है वहाँ दूसरा भी आए बिना नहीं रहता। तमोगुण से रजोगुण की और रजोगुण से तमोगुण की प्राप्ति होती है तथा मानव साँप और छछून्दर के उदाहरण की तरह इन दोनों गुणों में से किसी को हटाकर भी चैन नहीं पाता क्योंकि पहले शत्रु के हटते ही दूसरा आक्रमण कर देता है, और दूसरे के हटते ही पहला।

रजोगुण के लक्षण

रजोगुण प्रधान मनुष्य में नाना प्रकार के कार्य करने की कामना होती है। उसके हृदय में 'क्या-क्या कर डालूँ' ऐसी लालसा बनी रहती है और उसके वेग में बहकर वह अनेकानेक अमानवीय कार्य करने को उतारू हो जाता है। उसकी कल्पनाओं के घोड़ों के मुँह में लगाम नहीं होती। कभी वह सोचता है एक उड़ान भर कर हिमालय की चोटी पर जा बैठूँ, कभी सोचता है सागर में गोता लगाकर सारे रत्न बटोर लाऊँ। कभी वह चन्द्रमा की सैर कर आने का विचार करता है और कभी अनन्त आकाश के छोर को ढूँढ़ने का। रजोगुण का शिकार व्यक्ति सदा कुछ न कुछ उखाड़-पछाड़, जोड़-तोड़ और उठा-पटक करने की इच्छा करता रहता है। उसकी इस उधेड़बुन का मुख्य कारण होता है—मन की चंचलता और चित्तवृत्ति की अस्थिरता।

जिस प्रकार नन्हा शिशु कभी एक खिलौना उठाता है, कभी दूसरा, कभी वह खिलौने को फेंक देता है और अगले ही क्षण उठाकर उससे खेलने लग जाता है। ठीक उसी प्रकार रजोगुण की अधिकता वाले व्यक्ति का चित्त एक कार्य में नहीं लगता। वह एक कार्य को करना प्रारम्भ करता है पर तत्काल ही उसका फल न मिलने से दूसरा शुरू कर देता है। वह नित्य नये कार्यों का चुनाव करता है और तनिक भी विघ्न-बाधा आते ही छोड़कर बैठ जाता है। परिणाम यह होता है कि एक भी कार्य का सुफल उसे प्राप्त नहीं होता। उस मूर्ख किसान की तरह, जिसने अपने खेत में कुआ खोदना चाहा और कार्य प्रारम्भ कर दिया। किन्तु पच्चीस हाथ खोदने पर भी जब पानी नहीं निकलता दिखाई दिया तो दूसरे स्थान पर खोदना शुरू किया। पर वहाँ भी यही हाल होने पर तीसरे और चौथे स्थान पर भी पच्चीस-पच्चीस हाथ जमीन खोद ली।

किन्तु क्या उसे अपने परिश्रम का फल मिला ? नहीं, मन की अस्थिरता के कारण चार जगह पच्चीस-पच्चीस हाथ गहरे गड्ढे कर देने से क्या होता। इसकी बजाय अगर मन को स्थिर बनाये रखकर वह धैर्यपूर्वक एक ही स्थान पर सौ हाथ गहरी जमीन खोद लेता तो निश्चय ही कुए में पानी ही पानी हो जाता।

रजोगुणी व्यक्ति को भी अपनी चंचलता के कारण किसी भी कार्य में सफलता ीं मिलती। चाहे वह व्यापार के क्षेत्र में हाथ डाले, चाहे शिक्षा के क्षेत्र में, अथवा

किसी भी अन्य क्षेत्र में वह उतरे; पर अपने लक्ष्य को प्राप्त नहीं करता। इसीलिए कहा गया है—

'राजसं चलमध्रुवम्।'

—रजोगुणी की सारी कृति चंचल और अनिश्चित होती है।

छोटे बालक आम की गुठली को रेत में गाड़ देते हैं और उसी समय उखाड़ कर देखने भी लग जाते हैं कि वह उगने लगा या नहीं ? वैसा ही हाल रजोगुणी पुरुष का भी होता है। प्रयत्न चाहे अधूरा हो, पर कार्य का फल पाने के लिए वह अधीर हो उठता है, संयम खो देता है। उसके पैर किसी भी एक स्थान पर नहीं टिकते। वह आज यहाँ दिखाई देता है तो कल वहाँ। रजोगुण के प्रभाव से वह विविध कार्यों में हाथ डालता रहता है पर रहता कहीं का भी नहीं। उसका सारा परिश्रम यत्र तत्र बिखरकर व्यर्थ हो जाता है। उससे न वह स्वयं लाभ उठा पाता है और न समाज या देश ही उसके किसी कार्य से लाभान्वित हो सकता है।

रजोगुण के हानिकारक परिणामों से बचाव

राजसी वृत्ति से बचाव का सबसे उत्तम साधन है फल की आकांक्षा किये बिना कर्तव्य करते जाना। गीता में कहा भी है—

"कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन।"

—तुम्हारा कर्तव्य, अथवा अधिकार यही है कि तुम निरन्तर उद्यमशील रहो, सत्कार्यों में संलग्न रहो पर अपने परिश्रम के फल की ओर से उदासीन बने रहो।

संसार में जितने भी महापुरुष हुए हैं वे तभी महापुरुष कहलाए हैं जबकि अपने जीवन में उन्होंने बिना किसी प्रकार के लाभ और कीर्ति आदि की कामना करते हुए सदा अपने कर्तव्य को निबाहा है। तथा समाज और देश के प्रति कर्तव्य का पालन करने में अपने लाभ की ही नहीं, प्राणों की भी आहुति दी है। तानाजी इसी प्रकार के कर्तव्यशील और वीर पुरुष थे।

एक बार जब वे अपने पुत्र के विवाह की तैयारी में लगे हुए थे, किसी व्यक्ति ने आकर उन्हें महाराजा शिवाजी का पत्र लाकर दिया। पत्र में लिखा था— "माताजी की आज्ञा है कि कोंडाणा दुर्ग अभी हथिया लिया जाय और यह काम केवल तुम्हारे द्वारा ही सम्पन्न हो सकता है।"

पत्र पढ़ते ही तानाजी उसी क्षण दुर्ग जीतने के लिए जाने की तैयारी करने लगे। स्वजन-सम्बन्धियों ने उन्हें पुत्र के विवाह तक रुक जाने का अत्यधिक आग्रह किया। किन्तु वे यह कहकर चल दिये—"पहले कोंडाणा दुर्ग का ब्याह होगा उसके पश्चात् मेरे पुत्र का।"

तानाजी के साथ उनके मामा शेलार और छोटे भाई सूर्याजी भी गये। दुर्ग में प्रवेश करना अत्यन्त कठिन था पर अपनी प्रसिद्ध यशवन्ती नाम की गोह की सहायता से वे दुर्ग पर चढ़ने में सफल हो ही गये।

घनघोर युद्ध के पश्चात् गढ़ जीता गया और उस पर विजय पताका फहराई गई किन्तु विजय पताका फहराने का श्रेय जिसको था वे 'तानाजी' सदा के लिए वहीं सो गए।

जब ये समाचार महाराजा शिवाजी को मिले तो असीम दुःख के साथ उनके मुख से शब्द निकले—'गढ़ आया, पर सिंह गया।'

अपनी कर्तव्यपरायणता के द्वारा तानाजी ने संसार को बता दिया कि कर्तव्य का निर्वाह कैसे किया जाता है।

यों तो सृष्टि में क्रिया-कलाप होता ही रहता है, प्रत्येक व्यक्ति कुछ न कुछ कार्य करता ही है किन्तु विशिष्ट मनोवृत्ति से किया हुआ कर्म ही कर्तव्य अथवा स्वधर्म कहलाता है। स्वधर्म रूप कर्तव्य में असीम शक्ति और प्रभाव होता है। मुट्ठी भर गेहूं के दाने लेकर योंही कहीं फेंक देना भी कर्म ही कहलाता है लेकिन वह निरर्थक होता है किन्तु उन्हीं मुट्ठी भर दानों को खेत में ढंग से बोना सार्थक होता है। फेंकना और बोना—दोनों में बड़ा भारी अन्तर है। गेहूँ बोने से फसल प्राप्त होती है और फेंकने से उलटा नुकसान होता है। हमारे धर्म-ग्रन्थ जिस कर्म का उपदेश देते हैं वह बीज बोने के समान होता है, और जिसका फल आकांक्षा न होने पर भी अवश्य प्राप्त होता है।

स्वधर्म रूप कर्तव्य का निश्चय कैसे हो ?

कर्तव्य का निश्चय अथवा उसकी पहचान कैसे की जाय ? इसका उत्तर सहज ही दिया जा सकता है कि उसे खोजने की आवश्यकता नहीं होती उसे तो स्वाभाविक रूप से ही पहचाना जा सकता है। बालक के जन्म के साथ ही उसके कर्त्तव्यों का भी जन्म हो जाता है। हमें भूख लगती है अतः भूखे को भोजन देना, हमें प्यास लगती है अतः प्यासे को पानी पिलाना, वृद्धावस्था और रुग्णावस्था आदि में हमें सेवा की आवश्यकता पड़ती है अतः ऐसी ही अवस्था वालों की सेवा करना, यही तो कर्तव्य हैं जो सहज ही हमें दिखाई दे जाते हैं। सेवा का मार्ग भक्ति के मार्ग से भी महान् है। महर्षि रमण के उदाहरण द्वारा आप इसे समझ जाएँगे।

एक बार अपने आपको धर्मात्मा समझने वाले कुछ अहंकारी पादरी महर्षि रमण के पास आए और बोले—"हमने सुना है कि आपको ईश्वर का साक्षात्कार हो गया है और आप प्रतिदिन प्रातःकाल तीन घण्टे तक एकान्त में उनके साथ रहते हैं। यह आपका मिथ्या-पाखंड है। भोली-भाली जनता को आप धोखा दे रहे हैं। यह महा-पाप है। हम इस पाप को निर्मूल करके लोगों को पथ-भ्रान्त होने से बचाएँगे। बताइये, आपका ईश्वर कहाँ है ? अन्यथा हम आपके पाप और कपट का भण्डाफोड़ करेंगे। यह निश्चित है।"

महर्षि पादरियों की बातें सुनकर मुस्कराये और शान्त तथा गम्भीर स्वर से बोले—"आप कल प्रातःकाल ही मेरे साथ चलकर मेरे ईश्वर को देख लीजियेगा।"

महर्षि के पाखंड का नाश करने के उत्साह में पादरियों को रात भर नींद नहीं आई और वे सूर्योदय से पूर्व ही ऋषि के आश्रम में आ धमके।

नित्य कर्म से निवृत्त होकर महर्षि पादरियों के साथ जंगल की ओर चल दिये। करीव दो मील चलने के पश्चात् एक नदी के किनारे वनी हुई कुटिया में सवने प्रवेश किया।

महर्षि रमण ने झोंपड़ी में लेटे हुए एक कोढ़ग्रस्त रोगी के शरीर में किसी तेल की मालिश करना प्रारम्भ किया और काफी देर वाद मालिश करना वन्द करके उसे स्नान कराया। तत्पश्चात् चूल्हा सुलगाकर खिचड़ी वनाई और वृद्ध रोगी को खिला-पिलाकर आराम से सुला दिया।

समस्त पादरी यह सव देखकर अत्यन्त शर्मिन्दा हुए और आँखों से आनन्दाश्रु वहाने लगे। विगलित कंठ से उन्होंने महर्षि रमण से अपने कुविचारों के लिए क्षमा-प्रार्थना की और उनके चरणों की रज अपने मस्तक से लगाई।

कहने का अर्थ यही है कि संसार में जो महापुरुष हुए हैं, जिनकी कीर्ति से मनुष्य जाति का इतिहास प्रकाशित है, वह सव उनकी कर्तव्यनिष्ठा और सेवा भावना का ही फल हैं। जिन जातियों में सच्ची कर्तव्यनिष्ठा पाई जाती है, वे सदा उन्नत अवस्था में रहती हैं और सवके सम्मान की अधिकारिणी वनती हैं।

हमारी भारतीय संस्कृति में सेवा को सवसे वड़ा कर्तव्य माना है। यही कारण है कि यहाँ प्रत्येक युग में महान सेवाभावी पुरुष उत्पन्न होते रहे हैं। यहाँ तक कि छोटे-छोटे वालक भी इस पुनीत कर्तव्य का पालन करते चले आए हैं। वालक श्रवण कुमार की मातृ-पितृ सेवा से कौन अपरिचित है? सेवक को सेवा खोजने के लिए कहीं जाना नहीं पड़ता वह तो स्वाभाविक रूप से ही उसमें वनी रहती है।

सेवा कर्म के समान ही अन्य अनेक कर्तव्य ऐसे हैं जिन्हें मनुष्य शैशवावस्था से लेकर वृद्धावस्था तक करता रहे तो भी वे समाप्त नहीं होते। कर्तव्यों का प्रारम्भ जन्म से होता है और मृत्यु के साथ ही उसका अन्त हो सकता है। परिवार, जाति, समाज और देश तक कर्तव्यों की शृंखला चली जाती है।

कर्तव्य या स्वधर्म का महत्त्व जीवन में इसीलिए अनिवार्य माना जाता है कि प्राणी जव कर्तव्य-रत रहता है तो रजोगुण निस्तेज हो जाता है। क्योंकि जव चित्त एकाग्र होता है तो मनुष्य अपने कर्तव्य से विचलित नहीं होता और रजोगुण की चपलता शांत हो जाती है। नदी जितनी अधिक गहरी होगी उतना ही उसका प्रवाह कम और शांत होगा। इसी प्रकार कार्य में जितनी एकाग्रता होगी उतना ही मनुष्य का मन अचंचल और शांत हो जाएगा। अर्थात् रजोगुण की दौड़-धूप उछल-कूद और उधेड़-वुन मिट जाएगी।

संक्षेप में रजोगुण की चपलता शांत करने का उत्तम तरीका एकमात्र यही

है कि गम्भीरता और एकाग्रता पूर्वक कर्तव्य में लगे रहना। कर्तव्यपरायणता से ही रजोगुण को जीता जा सकता है।

सतोगुण का महत्व

तमोगुण और रजोगुण के चले जाने पर केवल सत्त्वगुण ही रह जाता है। यद्यपि आत्मा की मुक्ति के लिए तो सत्त्वगुण भी नहीं होना चाहिए किन्तु जब तक आत्मा देहरूपी पिंजरे में आबद्ध है, अर्थात् जब तक शरीर कायम है तब तक तो मनुष्य को किसी न किसी भूमिका में रहना ही होता है और वह भूमिका सतोगुण की ही होनी चाहिए। सत्त्वगुण को शरीर रहते निर्मूल तो नहीं किया जा सकता किन्तु उसे शुद्ध रखा जा सकता है और रखना भी चाहिए। आत्मारूपी प्रभापूर्ण ज्योति के चारों ओर सत्त्वगुण रूपी काच, तमोगुण रूपी काजल और रजोगुण रूपी धूल होती है। तमोगुण-रूप काजल को साफ करने में मनुष्य को अधिक परिश्रम करना पड़ता है और रजोगुण रूप धूल को हटाने में उसकी अपेक्षा कम। इन दोनों के हट जाने पर काच रह जाता है किन्तु उसे तोड़ा नहीं जा सकता। अगर उसने तोड़ दिया जाय तो फिर आत्मा का प्रकाश अपना कार्य नहीं कर सकेगा। प्रकाश का प्रसार करने के लिए काच की जरूरत तो होगी ही, किन्तु आवश्यकता सिर्फ यही है कि काच के समक्ष कुछ रोक लगा दी जाय जिससे नेत्रों को चकाचौंध न लगे।

सतोगुण पर कैसी रोक लगाई जाय ?

यह प्रश्न अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है कि सतोगुण पर रोक कैसी और क्यों लगाई जाय ? यह तो मैं बता ही चुकी हूँ कि जब तक हमारी देह है हमें किसी न किसी भूमिका में रहना होगा और वह भूमिका सतोगुण की ही होनी चाहिए। किन्तु इस स्थिति में भी बहुत संभलकर रहने की आवश्यकता होती है। हमें चाहिए कि हम सत्त्वगुण-क्रियाएँ ही सतत करते रहें और इसे अपना स्वभाव बना लें। अगर ऐसा नहीं किया जाएगा तो अपने द्वारा क्वचित किये जाने वाले कर्मों का हमें अभिमान हो जाएगा। तो पहली रोक जो सत्त्वगुण पर लगानी चाहिए, वह है अभिमान का न होने देना।

हमारी सात्त्विकवृत्ति इतनी सहज हो जानी चाहिए कि हमें अपने किये हुए उत्तम कार्यों का स्मरण ही न रहे। सूर्य स्वाभाविक रूप से प्रकाश देता है और चन्द्रमा शीतलता। अगर इनके इन उत्तम कार्यों के लिए लोग इन्हें बधाई दें तो इनका क्या उत्तर होगा ? यही कि "प्रकाश और शीतलता प्रदान करना तो हमारा कार्य है, यही हमारा जीवन है। अगर हम ये चीजें औरों को प्रदान न करें तो हम खत्म हो जायेंगे। और तो हमारे पास देने को कुछ है ही नहीं।"

ऐसी ही मनोभावना सात्त्विक पुरुषों की होनी चाहिए। सात्त्विक गुण उनके रोम-रोम में बसा हुआ होना चाहिए। ऐसा होने पर ही इस गुण के लिए उनके हृदयों में अहंकार नहीं जागेगा। किसी भी कार्य को करने की जब आदत बन जाती

है तब उसके होने पर कोई विशेषता नहीं महसूस होती। और इसके विपरीत अगर कभी-कभी ही कोई अच्छा कार्य सम्पन्न होता है तो शीघ्र ही मनुष्य को उसका गर्व हो जाता है। एक कहावत भी इसी भाव को चरितार्थ करती है—

"प्यादे से फरजी भये टेढ़े टेढ़े जायँ।"

हमेशा चोरी कर-करके पेट भरने वाले के नाम अगर लॉटरी निकल जाय और उससे उसे कुछ पैसा मिल जाय तो मारे घमण्ड के उसके पैर ही जमीन पर नहीं पड़ेंगे किन्तु इसके विपरीत अगर एक श्रीमंत को 'लॉटरी' से पैसा मिले तो उसके हृदय में अहंकार जैसी निकृष्ट भावना का उदय नहीं होगा क्योंकि उसकी तो आदत ही ऐश्वर्य के बीच में रहने की होगी। सिंह को अपनी शक्ति से किये हुए शिकार का गर्व नहीं होता पर कौए को अगर मांस का एक टुकड़ा भी कहीं से मिल जाय तो वह कांव-कांव करके अपने साथियों को इकट्ठा कर लेता है।

कहने का अभिप्राय यही है कि सात्त्विकवृत्ति वाले पुरुष को अपने किये हुए शुभकर्म के लिए कभी गर्व नहीं करना चाहिए तभी सतोगुण अपने शुद्ध रूप में रह सकेगा।

सत्त्वगुण पर दूसरी रोक लगानी चाहिए अनासक्ति-भाव की। प्रथम तो अहंकार को जीतना है तत्पश्चात् आसक्ति को। सत्त्वगुण-कर्मों के सातत्य से अहंकार को जीता जा सकता है तथा कर्म-फल प्राप्ति की इच्छा को त्यागने से आसक्ति पर विजय प्राप्त की जा सकती है।

मानव के जीवन में जब सत्त्वगुण स्थिर हो जाता है तो कभी सिद्धि और कभी प्रसिद्धि के रूप में उसका फल सामने आता है, किन्तु उस फल को नगण्य मानना चाहिए। आम का वृक्ष अपने मधुर आमों में से एक भी आम को स्वयं नहीं चखता, उसी प्रकार सात्त्विक वृत्ति वाला पुरुष अपने कर्मफल का उपभोग स्वयं नहीं करता। उपभोग की अपेक्षा त्याग अधिक मधुर होता है। कर्म से, धन से, अथवा संतान से आज तक किसी भी प्राणी ने मोक्ष प्राप्त नहीं किया है, अगर किया है तो एकमात्र त्याग से। त्यागी पुरुष अपने शरीर का त्याग करना पड़े तब भी नहीं हिचकिचाता।

मुहम्मद सैयद एक महान संत थे। वे पूर्णरूप से निष्परिग्रही थे। शाहजहाँ तथा दाराशिकोह इनके बड़े भक्त थे। सैयद प्रायः एक गीत गाया करते थे, जिसके भाव थे—

"मैं सच्चे सन्त फुरकन का शिष्य हूँ। मैं यहूदी, हिन्दू, मुसलमान सभी हूँ। मसजिद और मन्दिर में लोग एक ही ईश्वर की उपासना करते हैं। काबे में जो संगे-अस्मद है वही दैर में बुत है।"

औरंगजेब दारा का शत्रु था अतः सैयद साहब से भी चिढ़ता था। अतः उसने उन्हें पकड़वा कर मंगवाया और धर्मान्ध काजियों ने उन्हें धर्मद्रोही करार करते शूली की सजा सुना दी।

सैयद साहब मारे खुशी के नाच उठे तथा सूली पर चढ़ते हुए बोले—"ओह ! आज का दिन मेरे लिए बड़े सौभाग्य का है। जो शरीर ईश्वर से मिलने में बाधक था, उसका त्याग हो रहा है, अब मुझे ईश्वर-प्राप्ति से कोई नहीं रोक सकता।"

यह उदाहरण है त्यागवृत्ति का। अगर मनुष्य अपनी देह का त्याग भी हँसते हँसते कर सकता है तो फलासक्ति का त्याग करना कौन सा मुश्किल है ?

अन्तिम कथन

प्रवचन का प्रारम्भ मैंने किया था 'आत्मानं विजानीहि' से। अर्थात् अपने आप को पहचानो, आत्मा को जानो। उसके बाद बताया गया है कि समस्त जीवों की, सारे चराचर की जो प्रकृति है उसमें तीन गुण हैं—सत्त्व, रज और तम। इन तीनों को जब आत्मा से अलग किया जाएगा तभी आत्मा की देह से मुक्ति होगी। तथा देह से आत्मा को अलग करने का उपाय है इन तीनों गुणों की परीक्षा करके इन्हें जीत लेना।

आपने तमोगुण और रजोगुण के लक्षण तथा उनसे बचाव करने के उपाय जान लिए हैं तथा बचे हुए और देह के अन्त तक विद्यमान रहने वाले सत्त्वगुण को पहचान कर उसे शुद्ध बनाए रखने के लिए लगाई जाने वाली रोकों को भी समझ लिया है।

किन्तु साथ ही यह जानना भी आवश्यक है कि भले ही मनुष्य सतोगुणी हो जाय, अहंकार को जीतले तथा फलासक्ति का त्याग करदे, फिर भी जब तक शरीर है, तब तक समय पर 'तम' और 'रज' के आक्रमण होते रहते हैं। उन्हें जीत लेने पर भी अवसर पाते ही वे दौड़कर आने से नहीं चूकते। इसलिए प्रत्येक मानव को सदा सजग और सावधान रहना चाहिए।

तमोगुण और रजोगुण को जीतकर सत्त्वगुण को स्थायी बना लेने पर भी जब तक आत्म-ज्ञान और आत्म-दर्शन नहीं हो जाता तब तक रज और तम की ओर से खतरा ही समझना चाहिए। बाढ़ के समय नदी का पानी वेग में बहने के कारण जिस प्रकार स्थान-स्थान पर खाड़ियाँ बना लेता है, उसी प्रकार रज और तम का वेग हमारी मनोभूमि में प्रविष्ट होकर स्थान-स्थान पर छिद्र बनाने का प्रयत्न करता है। इसलिए हमें सतत जागरूक रहकर ध्यान रखना है कि ये दोनों दुर्गुण कहीं भी छिद्र करके प्रविष्ट न हो सकें तथा हमारा सतोगुण अहंकार और फलासक्ति के कारण अशुद्ध न बन जाय।

ऐसा करने पर ही हम आत्मा को जान सकेंगे, उसकी अनन्त शक्ति का अनुभव कर सकेंगे तथा आत्मा में निरन्तर प्रज्वलित ज्ञान की अखण्ड ज्योति को प्रगट कर सकेंगे। आत्मबल तथा आत्मशक्ति में हमें पूर्ण विश्वास होना चाहिए। इसके बिना हम आत्म-रूप को नहीं जान सकेंगे तथा उसे जन्म-मरण के चक्र से छुड़ाने का प्रयास निष्फल हो जाएगा। कहा भी है—

"उद्धरेदात्मानात्मानं मग्नं संसारवारिधौ।"

—विवेकचूड़ामणि

—विषय कषाय रूप संसार-सागर में डूबी हुई अपनी आत्मा को आत्म-शक्ति द्वारा ही विषय-कषाय पर विजय प्राप्त करके चरम विकसित करो।

शुभचन्द्राचार्य ने भी मोक्षाभिलाषी प्राणी का मार्ग निर्देशन किया है—

"भज विगतविकारं स्वात्मनात्मानमेव"

—विकाररहित अनन्त शुद्ध स्वरूप अपनी आत्मा का अपनी आत्मा द्वारा ही ध्यान, चिंतन, मनन और अध्ययन के रूप में अनुभव करते रहो। □

2

अपने आप को भूल जाओ

आज मैं आपके सामने एक नई बात कहना चाहती हूँ। भारतीय दर्शनों और धर्मों ने वह बात मुख्य रूप से नहीं कही है। ऐसी बात सुनकर आपको आश्चर्य भी होगा और आपका मन-मस्तिष्क कुछ देर के लिए सोचने को मजबूर भी होगा। आप कहेंगे कि आज तक जो कुछ कहा गया है, उससे उलटी बात कैसे कही जाएगी? मैं आपको अधिक देर तक उस बात में उलझाए नहीं रखूंगी।

आत्मस्मृति की तरह आत्मविस्मृति भी आवश्यक

बात यह है कि भारत के सभी दर्शनों और धर्मों ने घुमा-फिरा कर एक ही बात मुख्य रूप से कही कि आपको आत्मस्मृति बनी रहनी चाहिए। अपने आप को याद रखो, भूलो मत। जब भी और जहाँ भी तुमने अपने आप को भुलाया कि तुम्हारा पतन निश्चित है। तुम चाहे अकेले हो या परिषद् में हो, सूने जंगल में हो या परिवार से भरे महल में हो, सबका संयोग हो या सबका वियोग हो, सोये हुए हो या जाग रहे हो, अपने आपको याद रखो। परिवार में रहो, परन्तु अपने आपको भूलो मत। समाज में रहो तो भी अपनी स्मृति बनाये रखो। संसार के किसी भी क्षेत्र में चलो, सर्वत्र अपने आपको याद रखो। यह एक चिन्तन सूत्र है—जिसके विषय में मैंने आपके सामने कई बार कहा। केवल भाषा की करवट बदलकर इस मुद्दे पर मैं कुछ न कुछ बातें प्रस्तुत करती रही। परन्तु मैं सोचती हूँ, यदि मैं आपके सामने इससे ठीक विपरीत, जो इसी चिन्तन सूत्र का दूसरा पहलू है, उसके सम्बन्ध में न कहूँ तो भारतीय दर्शनों और धर्मों के चिन्तन का आधा अंग ही समझा जाएगा। आधा अंग आपकी आंखों से ओझल रहेगा, आपका चिन्तन सर्वांगीण नहीं, एकांगी ही होगा। इस चिन्तन का पूर्णरूप में दर्शन आपको नहीं होगा।

हाँ तो, इस चिन्तन का आधा अंग तो यह था कि 'अपने आप को याद रखो, भूलो मत।' किन्तु इसका आधा अंग है—'अपने आप को भूल जाओ, याद मत रखो।' है न बिलकुल उलटा आधा अंग! परन्तु है यह अत्यन्त ही महत्त्वपूर्ण। इसे नहीं अपनाओगे, तब तक चिन्तन का अंग आधा ही रहेगा। जब तक आत्मविस्मृति नहीं होगी, तब तक संसार में कुछ नहीं होगा। जब तक आपको अपना स्मरण बना रहेगा,

आप अपने आप को याद रखते रहेंगे, तब तक आपकी आत्मा का विकास नहीं होगा। तब तक आप संसार में रह कर भी ऐसे पड़े रहेंगे, जैसे पानी में पत्थर पड़ा रहता है।

अपने आप को भूल जाने से ही आनन्द

हाँ; तो परिवार में रहकर भी आप अपने आप को याद रखते रहेंगे तो परिवार में रहने का आनन्द नहीं आएगा। परिवार में भी रहना चाहें और अपने आप को भी भूले नहीं, तो वहाँ रहने का कोई अर्थ नहीं है। अतः परिवार, समाज या राष्ट्र में जहाँ कहीं भी आप रहें, अपने आप को याद रखते रहेंगे, भूलेंगे नहीं, अपने आप को विस्मृत नहीं करेंगे तो मैं कहूँगी कि आपने कुछ भी विकास नहीं किया अपना।

आप कहेंगे कि यह कैसी अटपटी बात मैं कह रही हूँ। एक ओर कहती हूँ, 'याद रखो, भूलो मत', और दूसरी ओर कहती हूँ, 'भूल जाओ, अपने आप को, याद मत करो।' आत्मविस्मृति की अवस्था में चले जाओ। ये दोनों बातें परस्पर टकराती हैं। परन्तु मैं कहती हूँ कि अगर आप इसका रहस्य और तात्पर्य समझ जाएँगे तो आपको ये दोनों बातें परस्पर विरोधी नहीं मालूम होंगी।

स्याद्वाद द्वारा परस्पर विरोधी बातों का समाधान

जैनधर्म अनेकान्तवादी धर्म है। स्याद्वाद के भव्य-स्तम्भ पर जैनदर्शन का महल खड़ा है। स्याद्वाद का अर्थ है—'विरोधमथनं हि स्याद्वादः' परस्पर जहाँ विरोध दिखता हो, उन दोनों विरोधी बातों का मथन करना, उनका समन्वय करना और विभिन्न अपेक्षाओं से बात की संगति बिठाकर विरोध को शान्त करना ही तो स्याद्वाद है। जैनधर्म की धारा एकान्तिक या इकहरी नहीं है, वह अनेक अपेक्षाओं की धाराओं में प्रवहमान निर्मल क्षीरसमुद्र है। विरोधी प्रतीत होने वाली बातों में भी वह विभिन्न अपेक्षाओं से सामञ्जस्य बिठाकर विरोध को उड़ा देता है।

यहाँ आपको जो दो विरोधी चिन्तन लगते हैं—अपने आप की स्मृति और अपने आप की विस्मृति, इन दोनों का निपटारा भी अनेकान्तरूपी जज ही करेगा। पहली बात जो 'अपने आप को भूलो मत, याद रखो' कही गई है, वह आत्मा की अपेक्षा से कही गई है। आप चाहे जहाँ, चाहे जिस क्षेत्र में रहें, काम करें, या अपना पार्ट अदा करें, किन्तु अपनी शुद्ध, निर्लेप आत्मा को कदापि न भूलें, सतत स्मरण रखें। किन्तु दूसरी जो बात कही गई है—'अपने आप को भूल जाओ, याद मत रखो', वह शरीर की अपेक्षा से कही गई है। इसका मतलब यह है कि आप कहीं भी रहें, किसी भी क्षेत्र में काम करें, कोई भी पार्ट अदा करें—पिता, माता, भाई का; अध्यक्ष, मन्त्री या खजांची का; दूकानदार, कारखानेदार या उद्योगपति का; किसी भी रूप में रहें, परन्तु वहाँ अपने शरीर और शरीर से सम्बन्धित सजीव-निर्जीव सभी चीजों को भूल जाएँ, उसे याद न रखें।

मनुष्य अपने को क्यों नहीं भूलता ?

वस्तुस्थिति यह है कि मनुष्य जब कभी कोई प्रवृत्ति करता है, किसी से भी सम्बन्ध जोड़ता है, किसी के साथ भी व्यवहार करता है, तो वह अपने शरीर को भूलता नहीं, सर्वत्र शरीर-सम्बन्धों की दृष्टि से विचार करता है। आत्मा तो उसके सामने प्रत्यक्ष होती नहीं, वह शरीर को ही प्रत्यक्ष देखता है, उसी के ही सम्पर्क में रात-दिन रहता है। इसलिए किसी के पूछने पर चट से अपने शरीर आदि को मैं और मेरा कह देता है। मैं करता हूँ, मैंने किया, मेरा यह काम है, मेरा यह सम्बन्धी है, इससे मेरा कोई ताल्लुक नहीं, यह मेरा कुछ नहीं लगता, यह दुकान, मकान, बाग, कारखाना, खेत, मिल, फैक्टरी या फर्म मेरी है। मैं इसका मालिक हूँ। इस प्रकार की शरीर से सम्बन्धित जितनी भी बातें हैं, उन्हें बार-बार याद करना, स्मृति में रखना या लोगों को याद दिलाना कथमपि उचित नहीं है। क्या इस प्रकार शरीर की अपेक्षा से आप अपने और अपनों को याद करते हैं, वहाँ आत्मा का विकास रुकता है या बढ़ता है ? आप इस बात पर तो तुरन्त सहमत हो जाएँगे कि इस प्रकार बार-बार देह और देह से सम्बद्ध वस्तुओं को याद करने-कराने से तो देहाध्यास कभी छूटेगा ही नहीं। आत्मा शरीर और शरीर से सम्बन्धित पदार्थों की मोह-माया में, ममता-मूर्छा में, आसक्ति और अहंता में फँसकर कभी शुद्ध, बुद्ध, सिद्ध एवं मुक्त नहीं बन सकेगी।

इस प्रकार से शरीर को याद रख कर मनुष्य आत्मा को बिलकुल भूल जाता है, क्योंकि देहाध्यास के कारण उसकी बुद्धि पर मोह-ममत्व का घना कोहरा जम जाता है। वह सोच ही नहीं पाता कि मैं आत्मा हूँ, या शरीर हूँ ! वह सदा अपने शरीर को लेकर 'मैं' और 'मेरा' शब्द का प्रयोग करता है। इस प्रकार शरीर को याद रखते-रखते वह शरीर में ही बन्द हो जाता है। उससे ऊपर उठकर आत्मा की बात सोचने में मंद पड़ जाता है। सारी जिन्दगी बीत जाती है, केश भी सफेद हो जाते हैं, सारे अंगोपांग शिथिल हो जाते हैं, जिन्दगी किनारे लग जाती है, फिर भी वह शरीर की ही बात सोचता और याद करता है।

शरीर को सतत याद रखने का परिणाम

आप निरन्तर शरीर को ही याद रखें, रात-दिन उसी की स्मृति रखें तो क्या परिणाम आएगा उसका ? शरीर को याद रखते हैं तो उसके साथ भूख-प्यास को भी याद रखना पड़ेगा। शरीर की स्मृति के साथ-साथ सर्दी-गर्मी की भी याद आपको बराबर रहेगी और मान-अपमान, दीनता-हीनता और सम्पन्नता-विपन्नता भी आप याद रखेंगे ही। जब शरीर याद रहेगा तो मैं बलवान हूँ—निर्बल हूँ, सुरूप हूँ—कुरूप हूँ, बुद्धिहीन हूँ—बुद्धिमान हूँ, ये सब हजारों विकल्प आपको याद रखने पड़ेंगे ! आपके स्मृतिपटल पर चलचित्र की तरह एक के बाद एक शरीर से सम्बन्धित हजारों-लाखों विकल्पों का जमघट आपके सामने आता रहेगा और आप हैरान होते रहेंगे कि शरीर क्या आया, लाखों बातों का ढेर का ढेर आगया।

आपको जब इस प्रकार शरीर का स्मरण रहता है तो आप शरीर में रहकर भी, निवास करके भी अक्सर कहा करते हैं—"शरीर में कौन रहता है?" मैं पूछती हूँ कि ऐसी दशा में क्या आपको यह कल्पना होगी कि शरीर में आप रह रहे हैं? इसके विपरीत आपकी स्मृति में सदा ये संस्कार वर्फ की तरह जम जाएँगे कि शरीर मेरे में रहता है। जब आपको अहर्निश शरीर की ही बात याद आएगी तो उसके साथ ही अपना मकान, अपनी दूकान, अपना वैभव और ऐश्वर्य, अपना पद, अपनी जाति, अपना गोत्र, परिवार, प्रान्त, राष्ट्र या नगर, अपना सिंहासन, अपने गहने-कपड़े और अपनी कुर्सियाँ, अपनी प्रतिष्ठा आदि दुनियाभर की चीजें आपको निरन्तर याद आएँगी और आती रहेंगी।

इसका अर्थ यह हुआ कि आपको शरीर की स्मृति ही अपनी आत्म-स्मृति मालूम होती है, आपको उसका अहंकार याद रहता है। इस शरीर और शरीर-सम्बन्धित वस्तुओं की स्मृति के कारण आप स्वयं भी शान्त नहीं रह सकते और न ही आपके परिचय में आने वाले शान्त रह सकते हैं।

अपने को भूलने का उपाय

यह बात मैं अपनी ओर से नहीं कह रही हूँ। भारतवर्ष के जितने भी ऋषि-मुनि हुए हैं, या जितने भी दर्शन और धर्म यहाँ विकसित हुए हैं, जितने भी मत-मतान्तर, पंथ और सम्प्रदाय यहाँ प्रादुर्भूत हुए हैं, चाहे उनके बाह्य क्रियाकाण्डों में मतभेद रहा हो, परन्तु इस विषय में मतभेद नहीं रहा। सबके सब एक स्वर से यही कहते आ रहे हैं—अपने को भूल जाओ। इसका तात्पर्य यह है कि जिस शरीर या शरीर से सम्बन्धित वस्तुओं पर तुमने अपनेपन की मुहर छाप लगा दी है, अपना मोह, ममत्व और अहंत्व स्थापित कर दिया है, उसे भूल जाओ, तभी आत्मा की स्मृति सम्यक् प्रकार से होगी। शरीर-विस्मृति का अन्धकार आत्मस्मृति का उज्ज्वल प्रकाश आते ही मिटने लगेगा।

क्या परमात्मा को भी भूल जाएँ?

परन्तु सवाल यह होता है कि जब पूर्वोक्त निष्कर्ष के अनुसार हम शरीर और शरीर से सम्बन्धित पदार्थों—सजीव-निर्जीव आदि सभी को भूल जाएँ, आत्मा को याद रखें, तब क्या भगवान् को भी याद न रखें या याद न करें? क्या किसी भजन, जप और ध्यान में भगवान् को भी भूल जाएँ? नहीं, ऐसी बात नहीं है। भूलना तो शरीर और शरीर से सम्बद्ध पदार्थों को है, आत्मा और आत्मा से सम्बन्धित गुणों या परम विशुद्ध आत्मा—परमात्मा या तीर्थंकर—वीतराग आदि को भूलना नहीं है। यह नहीं हो सकता कि आप भगवान् को भी याद रखें और अपने आप (शरीर) को भी याद रखें। ऐसा नहीं हो सकता कि आप राम और काम को एक ही सिंहासन पर बिठालें? शरीर कामजन्य है, आत्मा राम से सम्बन्धित है। इसीलिए गोस्वामी तुलसीदासजी ने कहा है—

मनुष्य अपने को क्यों नहीं भूलता ?

वस्तुस्थिति यह है कि मनुष्य जब कभी कोई प्रवृत्ति करता है, किसी से भी सम्बन्ध जोड़ता है, किसी के साथ भी व्यवहार करता है, तो वह अपने शरीर को भूलता नहीं, सर्वत्र शरीर-सम्बन्धों की दृष्टि से विचार करता है। आत्मा तो उसके सामने प्रत्यक्ष होती नहीं, वह शरीर को ही प्रत्यक्ष देखता है, उसी के ही सम्पर्क में रात-दिन रहता है। इसलिए किसी के पूछने पर चट से अपने शरीर आदि को मैं और मेरा कह देता है। मैं करता हूँ, मैंने किया, मेरा यह काम है, मेरा यह सम्बन्धी है, इससे मेरा कोई ताल्लुक नहीं, यह मेरा कुछ नहीं लगता, यह दुकान, मकान, बाग, कारखाना, खेत, मिल, फैक्टरी या फर्म मेरी है। मैं इसका मालिक हूँ। इस प्रकार की शरीर से सम्बन्धित जितनी भी बातें हैं, उन्हें बार-बार याद करना, स्मृति में रखना या लोगों को याद दिलाना कथमपि उचित नहीं है। क्या इस प्रकार शरीर की अपेक्षा से आप अपने और अपनों को याद करते हैं, वहाँ आत्मा का विकास रुकता है या बढ़ता है ? आप इस बात पर तो तुरन्त सहमत हो जाएँगे कि इस प्रकार बार-बार देह और देह से सम्बद्ध वस्तुओं को याद करने-कराने से तो देहाध्यास कभी छूटेगा ही नहीं। आत्मा शरीर और शरीर से सम्बन्धित पदार्थों की मोह-माया में, ममता-मूर्छा में, आसक्ति और अहंता में फँसकर कभी शुद्ध, बुद्ध, सिद्ध एवं मुक्त नहीं बन सकेगी।

इस प्रकार से शरीर को याद रख कर मनुष्य आत्मा को बिलकुल भूल जाता है, क्योंकि देहाध्यास के कारण उसकी बुद्धि पर मोह-ममत्व का घना कोहरा जम जाता है। वह सोच ही नहीं पाता कि मैं आत्मा हूँ, या शरीर हूँ ! वह सदा अपने शरीर को लेकर 'मैं' और 'मेरा' शब्द का प्रयोग करता है। इस प्रकार शरीर को याद रखते-रखते वह शरीर में ही बन्द हो जाता है। उससे ऊपर उठकर आत्मा की बात सोचने में मंद पड़ जाता है। सारी जिन्दगी बीत जाती है, केश भी सफेद हो जाते हैं, सारे अंगोपांग शिथिल हो जाते हैं, जिन्दगी किनारे लग जाती है, फिर भी वह शरीर की ही बात सोचता और याद करता है।

शरीर को सतत याद रखने का परिणाम

आप निरन्तर शरीर को ही याद रखें, रात-दिन उसी की स्मृति रखें तो क्या परिणाम आएगा उसका ? शरीर को याद रखते हैं तो उसके साथ भूख-प्यास को भी याद रखना पड़ेगा। शरीर की स्मृति के साथ-साथ सर्दी-गर्मी की भी याद आपको बराबर रहेगी और मान-अपमान, दीनता-हीनता और सम्पन्नता-विपन्नता भी आप याद रखेंगे ही। जब शरीर याद रहेगा तो मैं बलवान हूँ—निर्बल हूँ, सुरूप हूँ—कुरूप हूँ, बुद्धिहीन हूँ—बुद्धिमान हूँ, ये सब हजारों विकल्प आपको याद रखने पड़ेंगे ! आपके स्मृतिपटल पर चलचित्र की तरह एक के बाद एक शरीर से सम्बन्धित हजारों-लाखों विकल्पों का जमघट आपके सामने आता रहेगा और आप हैरान होते रहेंगे कि शरीर क्या आया, लाखों बातों का ढेर का ढेर आगया।

आपको जब इस प्रकार शरीर का स्मरण रहता है तो आप शरीर में रहकर भी, निवास करके भी अक्सर कहा करते हैं—"शरीर में कौन रहता है?" मैं पूछती हूँ कि ऐसी दशा में क्या आपको यह कल्पना होगी कि शरीर में आप रह रहे हैं? इसके विपरीत आपकी स्मृति में सदा ये संस्कार बर्फ की तरह जम जाएँगे कि शरीर मेरे में रहता है। जब आपको अहर्निश शरीर की ही बात याद आएगी तो उसके साथ ही अपना मकान, अपनी दूकान, अपना वैभव और ऐश्वर्य, अपना पद, अपनी जाति, अपना गोत्र, परिवार, प्रान्त, राष्ट्र या नगर, अपना सिंहासन, अपने गहने-कपड़े और अपनी कुर्सियाँ, अपनी प्रतिष्ठा आदि दुनियाभर की चीजें आपको निरन्तर याद आएँगी और आती रहेंगी।

इसका अर्थ यह हुआ कि आपको शरीर की स्मृति ही अपनी आत्म-स्मृति मालूम होती है, आपको उसका अहंकार याद रहता है। इस शरीर और शरीर-सम्बन्धित वस्तुओं की स्मृति के कारण आप स्वयं भी शान्त नहीं रह सकते और न ही आपके परिचय में आने वाले शान्त रह सकते हैं।

अपने को भूलने का उपाय

यह बात मैं अपनी ओर से नहीं कह रही हूँ। भारतवर्ष के जितने भी ऋषि-मुनि हुए हैं, या जितने भी दर्शन और धर्म यहाँ विकसित हुए हैं, जितने भी मत-मतान्तर, पंथ और सम्प्रदाय यहाँ प्रादुर्भूत हुए हैं, चाहे उनके बाह्य क्रियाकाण्डों में मतभेद रहा हो, परन्तु इस विषय में मतभेद नहीं रहा। सबके सब एक स्वर से यही कहते आ रहे हैं—अपने को भूल जाओ। इसका तात्पर्य यह है कि जिस शरीर या शरीर से सम्बन्धित वस्तुओं पर तुमने अपनेपन की मुहर छाप लगा दी है, अपना मोह, ममत्व और अहंत्व स्थापित कर दिया है, उसे भूल जाओ, तभी आत्मा की स्मृति सम्यक् प्रकार से होगी। शरीर-विस्मृति का अन्धकार आत्मस्मृति का उज्ज्वल प्रकाश आते ही मिटने लगेगा।

क्या परमात्मा को भी भूल जाएँ?

परन्तु सवाल यह होता है कि जब पूर्वोक्त निष्कर्ष के अनुसार हम शरीर और शरीर से सम्बन्धित पदार्थों—सजीव-निर्जीव आदि सभी को भूल जाएँ, आत्मा को याद रखें, तब क्या भगवान् को भी याद न रखें या याद न करें? क्या किसी भजन, जप और ध्यान में भगवान् को भी भूल जाएँ? नहीं, ऐसी बात नहीं है। भूलना तो शरीर और शरीर से सम्बद्ध पदार्थों को है, आत्मा और आत्मा से सम्बन्धित गुणों या परम विशुद्ध आत्मा—परमात्मा या तीर्थंकर—वीतराग आदि को भूलना नहीं है। यह नहीं हो सकता कि आप भगवान् को भी याद रखें और अपने आप (शरीर) को भी याद रखें। ऐसा नहीं हो सकता कि आप राम और काम को एक ही सिंहासन पर बिठालें? शरीर कामजन्य है, आत्मा राम से सम्बन्धित है। इसीलिए गोस्वामी तुलसीदासजी ने कहा है—

जहाँ राम, तहाँ काम नहीं, जहाँ काम, नहीं राम।
दोनों इकट्ठा ना रहे, राम-काम इक ठाम॥

दो घोड़ों पर एक साथ सवारी नहीं हो सकती। अन्धकार और प्रकाश दोनों एक जगह कदापि नहीं रह सकते। यदि आपके मन में यह विकल्प उठता है कि भजन कौन-सा अच्छा है? यह या वह? स्तुति कौन-सी अच्छी है? अमुक या अमुक? माला फेरें, यह ठीक है या स्तुति पढ़ें यह ठीक है? फिर माला मूंगे की हो, मोतियों की हो, चन्दन की हो या काठ की हो? माला फेरते समय कौन-सी उँगली हो और कौनसा अँगूठा हो?" ये सब विकल्पों के आधार हैं, जो ऐसे हैं, जैसे माला बेचने वालों को पैदा होते हैं। इन सब शंकाओं का समाधान यह है कि जिससे अपने आप (शरीरादि) को विस्मृत कर सकें, वही अच्छा है। यदि माला फेर रहे हैं और अपने आप (अहं) को विस्मृत कर रहे हैं तो यह भी अच्छी बात है। स्मरण या जाप करते समय सिर्फ परमात्मा का अस्तित्व ही स्मृतिपट या दिमाग की स्लेट पर रहता है और अपने आप को सर्वथा भूल जाते हैं तो यह स्मरण या जाप अच्छा है।

हाँ तो, माला चन्दन की हो या सूखी लकड़ी की हो, यह बात महत्त्वपूर्ण नहीं है। माला तो केवल प्रतीक है, किन्तु जिस माला को फेरते समय आत्म (शरीरादि की) विस्मृति आ सके, वही महत्त्वपूर्ण है। माला तो आपने मोतियों की ले लो, लेकिन मन में अहंकार रहा कि मैं मोतियों की माला फेर रहा हूँ तो उस माला से कुछ नहीं होगा।

अतः वस्तुस्थिति यह है कि आत्मविस्मृति की यह साधना बड़ी कठिन है।

अहं से शून्य स्थिति ही अपनी विस्मृति का उपाय

वस्तुस्थिति यह है कि एक म्यान में दो तलवारें नहीं रह सकतीं। आत्म-प्रेम कहें, भगवत्प्रेम या परमात्मप्रेम कहें, एक ही बात है। उस अनन्य आत्मप्रेम की गली इतनी संकड़ी है कि उसमें दो चल ही नहीं सकते। संत कबीर ने कहा था कि या तो हरि को याद कर लो या अपने को याद कर लो। दोनों में से एक ही याद किया जा सकता है। जहाँ आप है, वहाँ प्रभु नहीं हैं, जहाँ प्रभु (हरि) हैं, वहाँ आप नहीं रह सकते।

आपा मारे हरि भजै।

प्रेम की गली इतनी संकड़ी है कि वहाँ दो नहीं चल सकते। दोनों में से एक को हटना पड़ेगा। मैं समझती हूँ, आप भी भगवान् (परमात्मा) की अपेक्षा अपने 'मैं' को हटाना अधिक अच्छा समझेंगे। अपने 'मैं' को हटा लेने पर ही परमात्मा को या आत्मा को याद करने में स्पिरिट या चेतना प्राप्त हो सकती है। जहाँ परमात्मा और आपके बीच में दूरी रहती है, वहाँ अनन्य प्रेम नहीं हो सकता। प्राचीनकाल में एक बहुत बड़ा सम्राट् था। उसने अपने अंगरक्षक के रूप में एक सिपाही की नियुक्ति की तो जो गुलाम सिपाही अंगरक्षक की नौकरी का उम्मीदवार होकर आया था,

उससे पूछा--"कहो, तुम्हारा नाम क्या है ?" उसने कहा--"मेरा नाम ? क्या बताऊँ ? मालिक जिस नाम से बुलाएँ ! सिपाही का नाम क्या ? जो प्रभु को अच्छा लगे, उसी नाम से पुकार लें।"

"बताओ, तुम क्या खाओगे ?"—सम्राट् ने पूछा।

"प्रभो ! मैं क्या खाऊँगा, यह बताना मेरे बस की बात नहीं है। मालिक जो खिलाना चाहेंगे बंदा वही खाएगा।" सिपाही ने कहा।

"अच्छा, यह कहो कि क्या पीओगे ?"—सम्राट बोला।

"यह भी मत पूछिए कि क्या पीएगा ? जो आप पिलाना चाहेंगे वही पीएगा।'

"क्या पहिनोगे ?"—सम्राट् ने उत्सुकतापूर्वक पूछा।

"मेरे पहिनने का क्या ? जो आप दे देंगे, वही पहिनूंगा !—सिपाही बोला।

सम्राट्—'अच्छा, भाई ! यह बताओ कि तुम क्या काम करना चाहोगे ?"

सिपाही—"इसमें मेरी मर्जी क्या काम आएगी ? आप मुझ से जो काम कराना चाहेंगे, वही काम करूंगा।"

सम्राट् ने आगे पूछा—"फिर भी तुम्हारी और क्या इच्छा है ?"

सिपाही—"प्रभो ! मेरी क्या इच्छा है ? जो आपकी इच्छा या मर्जी है, वही मेरी इच्छा या मर्जी है। सिपाही की अलग—स्वतन्त्र कोई इच्छा नहीं होती। वह तो अपने स्वामी का ही एक अंग होता है। आप हाथों से अलग पूछें कि तुम्हारी क्या इच्छा है ? पैरों से पूछें कि तुम्हारी क्या मर्जी है ? इसी तरह आँख, नाक, कान और जीभ से अलग-अलग पूछें कि तुम्हारी क्या-क्या इच्छा है ? तो ये शरीर के अंग, शरीर के स्वामी—अखण्ड सत्ता के—अंग, क्या बताएंगे ? उनकी अलग-अलग इच्छाएँ-तमन्नाएँ नहीं हो सकतीं। जो शरीर के स्वामी की इच्छा होगी, वही उनकी विविध अंगों की इच्छा होगी। इसी तरह हमारी अलग कोई अपनी इच्छा नहीं हो सकती, जो प्रभु की इच्छा, वही हमारी इच्छा है।"

सिपाही, जो अंगरक्षक बनने आया था, उसकी इतनी बात सुनी तो सम्राट्, जो प्रभु का भक्त था, सुनकर अत्यन्त प्रसन्न हो उठा। उसके मन में दिव्य ज्ञान की ज्योति जग उठी। वह विचार करने लगा—'यह अंगरक्षक सिपाही, सिपाही की अमुक सेवा का काम करने आया है। फिर भी यह अपने को मेरा अंग मानता है और अपने अस्तित्व को मेरे में विलीन कर देना चाहता है, अपने आप को मिटा देना चाहता है। अपने अहं को शून्य बना देना चाहता है। मैंने पूछा कि क्या नाम है तुम्हारा ? तो कहता है—जिस नाम से आप बुलाना चाहें। मैंने खाने, पीने पहिनने के बारे में इसकी इच्छा जाननी चाही तो इसने कहा—"जो आप खिलाएँ, पिलाएँ, पहिनाएँ उसे ही यह तावेदार खाएगा, पीएगा, पहिनेगा। जो काम आप कराना चाहें, वही करेगा। अपनी स्वतंत्र इच्छा इसने कतई जाहिर नहीं की। परन्तु मैं इतने

वर्षों से प्रभु की उपासना और भक्ति करता आ रहा हूँ, मैंने इतनी बड़ी साधना करते हुए वर्षों गुजार दिये हैं, लेकिन इतनी समर्पणवृत्ति, इतनी अहंशून्यता, इतनी विलीनता और तन्मयता मुझ में नहीं आई, जितनी इस सिपाही में अर्पणता, अहंशून्यता, विलीनता और तन्मयता आ गई है। यह तो जरा से मामूली काम के लिए, पैसों के लिए, सिर्फ मेरे अंग-रक्षक के रूप में नौकरी करने के लिए अपने आपको न्यौछावर करने को तैयार है और रक्षा का प्रश्न आएगा, तो अपना अंग-अंग कटा देगा, अपनी सर्वस्वशक्ति लगा कर जुट जाएगा और समय पड़ने पर स्वयं भूखा-प्यासा रह कर भी मुझे खिलाएगा, पिलाएगा। समय आने पर प्राणप्रण से मेरी रक्षा भी करेगा। मौत के मुंह में जाकर भी मुझे बचाने का प्रयत्न करेगा। जब संसार का साधारण प्राणी चंद पैसों के लिए इतना आत्म-समर्पण कर सकता है, एक मामूली सैनिक (अंगरक्षक) कहला कर; तब मैं प्रभु का सैनिक और विश्व का राज्य लेने की तमन्ना रख कर चला हूँ, पर मेरी स्थिति क्या है ? मेरी स्थिति तो इससे कई गुनी नीची—निकृष्ट है। यह तो केवल मेरे सरीखे संसारी व्यक्ति में तन्मय होने चला है, मैं उस विश्व नियंता प्रभु में तन्मय होने—प्रभुमय बनने जा रहा हूँ फिर भी मेरे अन्दर अभी जरा भी समर्पणवृत्ति नहीं आ पाई है। जरा-जरा सी बात में मैं अपने अहं को, अपनी इच्छाओं और तुच्छ तमन्नाओं को आगे ले आता हूँ। एक शासन का कल्याण करने वाले में जरा भी अर्पण वृत्ति नहीं, और मामूली अंगरक्षक सिपाही में इतनी बेहद समर्पणवृत्ति ! मैं अपने 'नाम' का भी अर्पण नहीं कर सकता। अपनी प्रतिष्ठा और अहं के लिए 'मैं' और 'मेरा' कर रहा हूँ। बल्कि समर्पण करने के बदले संसार को अपने अधीन बनाने हेतु अपने अहं को महत्त्व देकर संसार में अन्याय-अत्याचार का चक्र चला रहा हूँ। प्रभो ! मैं केवल आपके लिए अपना नाम नहीं छोड़ सकता, क्योंकि नाम के साथ अहंता, ममता, प्रभुता, सत्ता आदि की बू चिपकी हुई है।"

"मैं अपने खाने-पीने-पहिनने के लिए अपनी इच्छाओं, अपनी प्रतिष्ठा और अपनी तमन्नाओं के इशारे पर नाच कर दुनिया भर के साधन जुटाता हूँ। मेरे मन में एक दिन भी यह विचार नहीं आया कि प्रभु की जो इच्छा होगी, वही खिला-पिला देगा, जैसी मर्जी होगी, वैसे कपड़े पहना देगा। जो काम प्रभु को मुझ से कराना होगा, करा देगा। इसके विपरीत मैं अपने अहंकार, ममकार अपनी इच्छाओं-तमन्नाओं के आदेश को शिरोधार्य करके इस देश पर चढ़ाई करनी है, इसे जीतना है, इस गरीब को सता कर, दबाकर इससे इतने रुपये कर के रूप में लेने हैं, इससे जबरन इतना काम कराना है, इस सुन्दरी के साथ विलास करना है, इतना रुपया खजाने में इकट्ठा करना है, आदि-आदि प्रभु-आज्ञा या परमात्मा की इच्छा के विपरीत कार्य करता रहता हूँ। एक क्षण के लिए मेरे अन्दर से अहंता, ममता नहीं गई है। वे ही प्रभु की इच्छाओं और आज्ञाओं के पालन करने में और उनको समर्पण करने में बाधक बनी हुई हैं।"

सम्राट् सोचता है—"यद्यपि मुझे प्रभु की ओर से शुद्ध मन के माध्यम से बार-बार आदेश, आज्ञाएँ, प्रेरणाएँ और इशारे मिलते रहते हैं कि यह सत्कर्म कर, यह दान

कर, शील का पालन कर, अमुक साधना या उपासना कर, अपने आपको संसार के कल्याण में लगा, अपनी सुख-सुविधाओं की परवाह न करके जगत् के दुखियों के आँसु पोंछ, उनके लिए सर्वस्व अर्पण कर। परन्तु अपने स्वामी की उन आज्ञाओं, सत्प्रेरणाओं और आदेशों की कोई कद्र नहीं करता, उन्हें ठुकरा देता हूँ, उन्हें अपने अहंत्व-ममत्व पर बलि चढ़ा देता हूँ। उनका पालन नहीं करता। इसका अर्थ है—मेरे 'मैं' और प्रभु के बीच में भारी टक्कर है। मैं अपने 'मैं' को अलग रखता हूँ, प्रभु में विलीन नहीं करता। अगर मैं अपने 'मैं' को प्रभु में समा दूं तो मेरे और प्रभु के बीच जो संघर्ष है, वह समाप्त हो जाय। परन्तु वर्षों से पाले-पोसे हुए इस अहं को कैसे प्रभु में विलीन कर दूं ?"

प्रभु चरणों में समर्पण : आत्मविस्मृति का अन्यतम कारण

आपके सामने भी मैं यही प्रश्न प्रस्तुत करती हूँ कि आप अपने शरीरजन्य अहंत्व-ममत्व को कैसे प्रभु में विलीन करेंगे, कैसे अपने समस्त अंगों को परमात्मा के चरणों में समर्पित करेंगे ?

मेघकुमार राजकुमार था और एक दिन वैराग्य का झोंका आया और वह मुनि बन गया। परन्तु मुनि बन जाने पर भी उसमें 'करेमि भंते! सामाइयं' के पाठ में मुँह से तो 'अप्पाणं वोसिरामि' कर दिया। परन्तु अन्तर् में अभी अहंत्व-ममत्व नाच रहे थे। मन, बुद्धि, चित्त और अहंकार इन अन्तःकरणों ने अभी सर्वतोभावेन प्रभु महावीर के चरणों में समर्पण नहीं किया था। जबकि 'अप्पाणं वोसिरामि' का अर्थ होता है सर्वतोभावेन अपने मन-वचन-काया का व्युत्सर्ग प्रभुचरणों में न्योछावर-समर्पण करता हूँ।

आज संसार में पद-पद पर इसी बात की टक्कर होती है। क्या राष्ट्रीय जीवन में, क्या सामाजिक जीवन में, क्या धार्मिक एवं आध्यात्मिक जीवन में और क्या राजनैतिक जीवन में सर्वत्र अहं टकराते हैं। हम अपने अहं को बहुत ही तूल दे देते हैं। अहं को परमात्मा से उच्च स्थान पर प्रतिष्ठित करके उसी की पूजा में लग जाते हैं, जबकि उसे परमात्मा के चरणों में चढ़ाना चाहिए। इसी कारण बात-बात में पद-प्रतिष्ठा, सत्ता और जमीन-जायदाद आदि के लिए, और तो और विचारों और आचारों के लिए जमकर संघर्ष होते हैं, खुल कर द्वन्द्व होता है, निःशंक होकर युद्ध और झगड़े होते हैं, आपस में तू-तू मैं-मैं होती है। उस समय बड़े से बड़े साधक भी 'अप्पाणं वोसिरामि' को ताक में रख देते हैं, परमात्मा वीतराग प्रभु के आगे सर्वस्व समर्पण को एक किनारे पटक देते हैं।

हाँ तो, मेघकुमार मुनि ने अपने अहं को प्रभु चरणों में पूर्णतया विसर्जित—विलीन नहीं किया था। उसके अन्तर् में अभी तक वे ही पुराने संस्कार उमड़-घुमड़ कर दौड़ लगा रहे थे। दीक्षा की प्रथम रात्रि ही थी। मेघमुनि का आसन सब मुनियों के अन्त में दरवाजे के पास लगा था। रात्रि को जो मुनिवर लघुशंका आदि

के परिष्ठापन के निकलते, मेघमुनि के पैरों से अड़कर जाते। इस बारम्बार के पादाघात से वे तिलमिला उठे। उनके अन्दर बैठा हुआ राजकुमारत्व का अहं विषधर फुफकार उठा। क्या मेरी जरा भी कद्र नहीं, इतना अपमान! इतनी हैरानी! क्या मुझे ही सब बड़ों का विनय करना चाहिए, बड़ों के हृदय में छोटों के प्रति कुछ भी विनयभाव स्नेहभाव नहीं! बस, प्रातःकाल होते ही ये सब धर्मोपकरण सौंपकर मैं वापिस अपने घर चला जाऊँगा। मुझे क्या आनन्द है, इस संयम में? यहाँ तो मुझे पद-पद पर अपमान का कड़वा घूंट पीना पड़ता है, मानो मैं तो पशु से भी गया बीता हूँ।" मुनि मेघकुमार के अहं ने अपना सिर उठाया, वह और सब कुछ भूल गया। राजमहलों की सुख-सुविधा, माता-पिता के दुलार और भाई-बहनों के प्यार, इन सबको तो विस्मृत कर सका, किन्तु अपने अहं को न भूल सका जिसका परिणाम यह आया कि सुबह होते ही मेघमुनि श्रमण भगवान महावीर के पास पहुँचा। भगवान महावीर तो उसके चेहरे की व्यग्रता एवं चेष्टाओं से ही भाँप गए तथा अपने आत्मज्ञान से उसके मनोभावों को जान गये। उन्होंने मेघमुनि के सामने जब उसके अहं-जनित अन्तर्मन की व्यथा अभिव्यक्त की तो वह चकित रह गया। उसने भगवान द्वारा कही हुई अपनी आपबीती पर स्वीकृति दी। तब भगवान महावीर ने उसके पूर्वजन्म की हाथी के रूप में घटी हुई घटना सुनाते हुए कहा—"मेघ! तब तुम अपने अहं को भूलकर वन में दावाग्नि से भयाक्रान्त त्रस्त प्राणियों को आश्रय देने में इतने तन्मय हो गए थे कि २० पहर तक पैर ऊँचा उठाए रखा। तुम दूसरों को सुख-सुविधा देने के लिए अपने शारीरिक दुःखों को भी भूल गये थे। और आज एक ही रात में जरा-से कष्ट से तिलमिला उठे और तुम्हारा सोया हुआ अहं जाग्रत हो गया! हाथी के भव में तो तुमने अपने अहं को भुलाकर महापुण्य उपार्जन किया, जिसके फलस्वरूप मनुष्य और उसमें भी राजकुमार एवं अब मुनिपद तक पहुँच गये किन्तु अब तुम उस पुण्य को खोकर वापिस त्याग से भोग की ओर, अहंत्वशून्यता की साधना से अहंत्व-परायणता की ओर लौटना चाहता हो। सोच लो! मैंने तुम्हें अपना कर्तव्य समझा दिया। अब जैसा तुम्हें सुख हो, वैसा करो।"

परमपुनीत श्रमण शिरोमणि भगवान महावीर की प्रखर प्रेरणा पाकर मेघमुनि की अन्तरात्मा जाग्रत हो उठी। उसने शीघ्र ही अपना निश्चय प्रगट किया—"प्रभो! मैं आत्मविस्मृति के गहन अन्धकार में गोते खाने लगा था, इसी कारण मेरी अहंत्व-स्मृति जागृत हो गई, जिसे कि मुझे विस्मृत कर देना चाहिए था। क्षमा करें। मुझे अपने अविवेक एवं दुर्विचार के लिए प्रायश्चित्त दें, ताकि मैं आत्म-शुद्धि कर सकूँ। और आज से जीवन पर्यन्त मेरा संकल्प है कि मैं सिर्फ संयम यात्रा के लिए आँखों के स्वतन्त्र प्रयोग के सिवाय समस्त इन्द्रियाँ, मन, बुद्धि, चित्त आदि आपके चरणों में समर्पित करता हूँ। आज से ये सब आपके आज्ञाधीन होकर चलेंगे, मेरा इन पर स्वतन्त्र कोई अधिकार नहीं होगा। मैं इन्हें आपको सौंपता हूँ।"

यह है अपने आप को—अपने अहंत्व-ममत्व को विसर्जित करके भगवत् चरणों में समर्पित करने का ज्वलन्त उदाहरण !

अहंत्व का विसर्जन करो

हां तो, मैं यह कहना चाहती थी कि आप जब तक अपने आप (शरीर) को अपने अहं को—इस प्रकार विस्मृत करके प्रभु चरणों में विसर्जित, विलीन एवं समर्पित नहीं करते, तब तक आपको न तो किसी साधना में आनन्द आएगा न किसी धर्मक्रिया में ही आप तन्मय हो सकेंगे, और न ही आपको अपने जीवन में सच्चे सुख की अनुभूति हो सकेंगी। आप अपने अहंत्व-ममत्व के बहकावे में आकर उनके हाथों में खेलने लगेंगे। ऐसी दशा में आप सेवा, दया, करुणा, क्षमा, समता आदि जो भी शुभ प्रवृत्ति करेंगे, उनके साथ भी आपका अहंत्व-ममत्व बन्दरिया के बच्चे की तरह चिपटते चलेंगे। बन्दरिया की तरह आप अहंकार-ममकार को अपनी इन शुभ प्रवृत्तियों के साथ भी चिपटाये चलेंगे।

अप्पाणं वोसिरमि का रहस्य

इसीलिए भगवान महावीर, तथागत बुद्ध, कर्मयोगी कृष्ण आदि सभी महापुरुषों ने एक या दूसरे प्रकार से अपने आपको विस्मृत—विसर्जित कर देने की अपने अहंत्व-ममत्व या आसक्ति आदि को त्यागने की बात कही है। प्रतिक्रमण में जो हर साधना, व्रत, नियम या प्रत्याख्यान के साथ 'अप्पणं वोसिराम' शब्द आता है, वह इसी बात का द्योतक है। सेवा के क्षेत्र में भी पहली शर्त यह है कि अपने आपको भुला दो। तभी सच्चे माने में सेवा कर पाओगे। दया भी करते हैं, परन्तु साथ में अपने अहं को रखकर कि मैंने दया की, मेरा नाम पत्रिका या पत्र में आना चाहिए। मेरा फोटो छपना चाहिए मुझे दया-परायण का पद मिलना चाहिए, आदि सब अपने अहं के बेटे-पोते हैं। इन्हें जब तक नहीं भुलाओगे तब तक न दया सच्चे माने में दया है, न करुणा सच्ची है, और न ही क्षमा वास्तविक है। जैसे शुद्ध दूध में एक बूंद जहर की मिलते ही सारा दूध विषाक्त हो जाता है, वैसे ही शुद्ध सेवा, दया, करुणा, क्षमा आदि के साथ अहंत्व-ममत्व का विष मिल जाता है—मीठा जहर मिश्रित हो जाता है तो वह सेवा आदि भी विषाक्त बन जाती है।

कर्तव्य में अहंत्व की विस्मृति नहीं होती

इसी सन्दर्भ में एक बात और चल पड़ी है, वह भी कह दूं। वह अटपटी-सी लगेगी आपको। पर जब मैं अहंविस्मरण और अहंत्व-विसर्जन की बात कहने पर तुल गई हूं तो वह भी कह दूं। आजकल पाश्चात्य लोगों की देखा देखी 'कर्तव्य' शब्द बहुत प्रचलित हो पड़ा है। कई लोग तो धर्म को भी कर्तव्य मान बैठते हैं। वे सेवा, दया आदि शुद्ध धर्मतत्त्वों को कर्तव्य समझते हैं। परन्तु यह निरी भ्रान्ति है। धर्म का दर्जा कर्तव्य से ऊँचा है। कर्तव्य में तो विनिमय ले-दे की भावना रहती है। इसमें व्यक्ति यह सोचता है कि अमुक ने मेरा इतना कार्य कर दिया तो मैं भी उसका इतना

कार्य कर दूं। मेरा कर्तव्य है कि मैं भी उसे सहायता दूं, क्योंकि उसने मुझे अमुक समय सहायता दी थी। यह कर्तव्य का दृष्टिकोण है। फिर कर्तव्य में हृदय का रस सूख जाता है। व्यक्ति कभी-कभी कर्तव्य के चक्कर में पड़कर सूने मन से भी किसी का कार्य करता है। अक्सर व्यक्ति रूखे-सूखे घड़ी के पुर्जे की तरह कर्तव्य-पथ पर चलता है, उसमें नीरसता आ जाती है। कर्तव्य बुद्धि के पीछे यही चिन्तन होता है कि उसने संकट के समय मेरी सेवा की थी, इस नाते भी मुझे कर्तव्य समझकर उसकी सेवा करनी चाहिए। इसलिए मैं कह रही थी कि कर्तव्य में कार्य हृदय से नहीं होता, कभी-कभी तो बोझरूप समझ कर काम करना पड़ता है। कहने को तो कहा जाता है कि मैं कर्तव्यबुद्धि से यह काम करता हूं, परन्तु मनुष्य का दिल कर्तव्य को तहदिल से करता नहीं है, वह कर्तव्य को ढोता है। जो चीज ढोई जाती है, वह भारभूत समझी जाती है। उसमें 'पड़ा' शब्द और जुड़ जाता है। यानी यह कर्तव्य करना पड़ा या करना पड़ रहा है या पड़ेगा। अन्तर तो उसके करने में मानता नहीं है, किन्तु सामाजिक या नैतिक दवाव से करना पड़ता है, उसे कर्तव्य की संज्ञा दे दी जाती है। कभी-कभी पारिवारिक या सामाजिक लोग कर्तव्य की दुहाई देकर अपने सम्बन्धी पर दवाब भी डाल देते हैं कि यह कार्य तो आपको कर्तव्य के नाते करना ही पड़ेगा या करना ही चाहिए। आप गौर से इस पर विचार करेंगे तो आपका अन्तःकरण स्वतः निर्णय दे देगा कि कर्तव्य की दुहाई देकर या कर्तव्य के दवाब में आकर जो कार्य किया जाता है, वह क्षुद्रस्वार्थ या संकीर्ण निहित स्वार्थ की अपेक्षा तो ऊँचा है और नीति के दायरे में आ जाता है, लेकिन इसमें अहंत्व-ममत्व का या अपने आपे का पूर्णतया विसर्जन या विस्मरण नहीं होता। उसका हृदय यही गवाही देगा कि कर्तव्य के नाते मुझे यह कार्य करना पड़ रहा है। इसलिए सेवा आदि धर्म का आचरण कर्तव्य के नाते करने में भी यह वहुत बड़ा खतरा है। इसी कारण शुद्ध धर्म का स्थान कर्तव्य से ऊँचा है।

इसलिए सेवा, दया, क्षमा, करुणा आदि धर्मों का आचरण अहंता-ममताशून्य होकर अपने आपको विस्मृत करके सहज-स्वाभाविक संस्कारों से करना चाहिए। दूसरे शब्दों में कहूँ तो वात्सल्यभाव से करना चाहिए। जब तक सेवा आदि के साथ वात्सल्य एवं स्नेह का झरना नहीं वहेगा, तब तक उसमें तन्मयता, सरसता, हृदय-रसपरायणता, आत्मीयता नहीं आएगी। इसीलिए अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रहवृत्ति आदि धर्मों का आचरण कोई कर्तव्य भावना से नहीं करता, अपितु कर्तव्यभावना से ऊपर उठकर आत्मस्वभाव में तन्मयता—स्वरूपरमणता की भावना से करता है। मेरी आत्मा का यह गुण है, स्वभाव है, धर्म है, ऐसा समझ कर ही अहिंसादि का पालन करना होता है। कोई साधक ब्रह्मचर्य पालन करता है, इसके पीछे कौन-सा कर्तव्य है या सामाजिक दवाब है, अथवा कौन उसे वाध्य करता है? वह इन व्रतों या महाव्रतों का पालन अपना आत्म-धर्म समझ कर करता है। इसीलिए धर्म कर्तव्य से ऊँचा है। कर्तव्य शब्द अधिक से अधिक अपने परिवार, जाति या देश

तक सीमित हो जाता है, किन्तु धर्म समस्त विश्व के प्राणिमात्र तक को स्पर्श करता है। उसमें अहंता-ममता या अपने आपे (शरीरादि) का विस्मरण या विसर्जन जरूरी होता है।

माता द्वारा बच्चे की सेवा : एक ज्वलन्त प्रेरणा

एक माँ अपने नन्हे बच्चे को गोद में लेकर नहलाती, धुलाती है, सर्दी, गर्मी, वर्षा आदि से उसकी रक्षा करती है, उसकी भूख-प्यास मिटाती है। अपनी सुखसुविधा एवं भूख-प्यास की चिन्ता न करके वह बच्चे की सेवा में तन्मय हो जाती है। इतनी तन्मय कि खाना, पीना, सोना तक भूल जाती है। अपने शरीर की बिल्कुल परवाह नहीं करती। खुद गीले में सोकर बच्चे को सूखे में सुलाती है। स्वयं की बीमारी का खयाल न करके बच्चे की बीमारी के समय परिचर्या में जुट जाती है। परन्तु उससे कोई पूछे कि तुम इस बच्चे के लिए इतना कष्ट क्यों उठाती हो? अपने शरीर की चिन्ता क्यों नहीं करती? अपने को भूल कर क्यों सेवा करती हो? तो वह क्या उत्तर देती है? क्या वह यह कहती है कि मेरा कर्तव्य है, इसलिए सेवा करती हूँ? नहीं, वह ऐसा कभी नहीं कहती, न ही कह सकती है। क्योंकि कर्तव्य की भावना तो तब कही जाती है, जबकि बच्चे ने पहले माँ की सेवा की हो या माँ के प्रति कोई कर्तव्य बजाया हो! ऐसा तो कुछ भी बच्चे की ओर से अभी तक नहीं हुआ है। इसलिए न तो वह कर्तव्य की बात कहती है, और न ही वह कहती है कि मैं सेवा करती हूँ या मैंने बच्चे की सेवा की है। वह बालक के बड़े और वयस्क होने पर भी कदापि ऐसा नहीं कहती कि मैंने तुम्हारी इतनी सेवा की है, इसलिए इसका बदला चुकाओ या तुम्हें मेरी सेवा करनी चाहिए। वह कभी इस प्रकार की हिसाबी वृत्ति नहीं रखती। वह मुँह से तो प्रायः कुछ नहीं कहती, पर उसका अन्तर कहता है—मेरा वात्सल्य मुझे इस बच्चे की सेवा किए बिना रहने ही नहीं देता। मैं इसकी सेवा किये बिना रह ही नहीं सकती। बच्चे ने भोजन कर लिया तो मुझे तृप्ति हो जाती है, चाहे मेरे लिए पीछे कुछ भी न बचे। निष्कर्ष यह है कि माता वात्सल्यभाव से जब बच्चे की सेवा में ओतप्रोत हो जाती है, तब उसे अपने शरीरादि अहं का भान नहीं रहता, योग की भाषा में कहें तो वह देहाध्यास छोड़ देती है, वह अपने को भूल जाती है। माता सेवा के लिए सेवा नहीं करती, वह वात्सल्यमूर्ति बन कर स्वयं वात्सल्यमयी बन जाती है। वात्सल्य ही जब मूर्तरूप लेता है तो वह सेवा, दया, करुणा, क्षमा आदि के रूप में प्रतीत होता है, वह सेवा आदि के रूप में परिणत होता जाता है। उस समय वह वात्सल्य में ओतप्रोत होकर अपने आपको भुला देती है। बड़े से बड़े संकट आने पर अपने आपको अर्पण कर देती है। सन्तान की रक्षा के लिए अपना सर्वस्व न्योछावर कर देती है।

विश्ववात्सल्य : सेवा, दया, करुणा आदि का रूपान्तर

तीर्थंकर या वीतरागपुरुष भी सेवा करते हैं, प्राणिमात्र पर दया करते हैं। वे

भी समस्त प्राणियों को आत्मवत् समझ कर सर्वभूतात्मभूत बन जाते हैं, तो क्या उनके द्वारा की जाने वाली सेवा आदि के पीछे कुछ अहंभाव होता है ? कोई कर्तव्य भावना, स्पृहा या अपने शरीरादि जनित कोई अहंत्व-ममत्वभाव होता है ? कोई प्रसिद्धि, नामना-कामना आदि होती है ? नहीं, आप जैन सिद्धान्त की इतनी-सी बात तो जानते हैं कि वीतराग हो जाने के बाद उनमें अहंभाव, स्पृहा, शरीरादि मान, प्रसिद्धिलिप्सा नामना-कामना या कोई कर्तव्यभावना नहीं होती। उनमें विश्वमाता की तरह सिर्फ वात्सल्यभाव होता है। इसीलिए तो भगवान् महावीर को **'जगवच्छल'** (विश्ववत्सल) कहा गया है। वात्सल्यभाव में अपने आपको—देहादिभाव को वे भूल जाते हैं। वे अपने व्यक्तित्व को विश्वत्व में समर्पित कर देते हैं और विश्वात्मा बन जाते हैं। वे अहंत्व-ममत्व का सर्वतोभावेन विस्मरण--विसर्जन कर देते हैं। यही कारण है कि उन्हें देहादिमान-देहाध्यास नहीं होता और वे इसी विश्ववात्सल्यभाव में इतने तन्मय हो जाते हैं कि उन्हें अपने शरीर की, इन्द्रिय-विषयों की, मन की किसी तमन्ना, आकांक्षा, लालसा, तृष्णा, एषणा या इच्छा की पूर्ति की, वाणी द्वारा अपनी प्रसिद्धि करके अपनी महत्ता प्रदर्शित करने या अपना विज्ञापन करने की कोई अपेक्षा नहीं रहती। इसी को ही **'अप्पाणं वोसिरामि'** कहते हैं, इसे ही अपने आप (शरीरादि) की विस्मृति कहते हैं। वीतराग पुरुष का वह विश्ववात्सल्यभाव ही सेवा, दया, करुणा, क्षमा, मैत्री आदि के रूप में स्वतः परिणत हो जाता है। स्थूल दृष्टि वाले छद्‌मस्थ लोगों को ऐसा प्रतीत होता है कि ये वीतराग पुरुष सेवा कर रहे हैं , दया या करुणा कर रहे हैं, क्षमा कर रहे हैं, पर वास्तव में विश्ववात्सल्य स्वयं ही सेवा आदि के रूप में बदल जाता है।

हाँ तो, तीर्थंकरों, वीतराग पुरुषों या माता की तरह जब सेवा आदि के साथ आत्मविस्मृति—अपने आप को भूल जाने की वृत्ति नहीं आएगी, तब तक सेवा आदि सच्चे माने में सेवा आदि नहीं कहे जा सकते। वत्सलता आत्मविस्मृति—अपने आपको भूल जाने की वृत्ति का ही दूसरा नाम है।

देहभाव भूलो : आत्मभाव याद रखो

वात्सल्य का मतलब ही है आत्मभाव। और जब तक इस प्रकार की आत्म-विस्मृति—अपने आपको भूलने की वृत्ति नहीं आती, तब तक देहभाव से देखने की वृत्ति रहती है—आत्मभाव से देखने की वृत्ति नहीं आती। मनुष्य जब अपने प्रति और दूसरों के प्रति देहभाव की दृष्टि से देखता है, तब उसमें स्वार्थ, वासना, मोह, ममत्व, अहंत्व आदि साथ में लिपटे होते हैं। वह प्रेम शुद्ध प्रेम नहीं होता, वह सेवा विकार-युक्त होती है, वह दया भी संकीर्ण या एकांगी होती है, वह क्षमा भी भयवृत्ति से प्रेरित होती है। और जब मनुष्य आत्मभाव से देखता है तो शरीर और शरीर से सम्बन्धित इन तमाम अहंत्व-ममत्व या मोह-स्वार्थ आदि से जनित भाव उसमें नहीं आते। वह एकमात्र आत्मभाव की दृष्टि से—प्राणी की शुद्ध आत्मा की दृष्टि से देखता है, वह जाति-पाँति, वेशभूषा, भाषा, प्रान्त, राष्ट्र, कुल-परिवार, धर्मसम्प्रदाय,

कौम, वर्ण, रंग, रूप, वर्ग आदि शरीरजनित बातों की दृष्टि से उसे नहीं तौलता, नहीं देखता ! एकमात्र आत्मीयता ही उसका मूलाधार होती है। वत्सलता और क्या है ? दूसरों में अपने आपको स्थिर कर लेना, अपने आपे को मारकर दूसरों में डाल देना ही तो है ! अर्थात् अपने जीवन की सुख-दुःख की जो समस्याएँ हैं, उन्हें एक किनारे फैंक कर दूसरों के सुख-दुःख में तन्मय हो जाना—माता की वृत्ति धारण कर लेना ही वात्सल्य का मार्ग है। जहाँ इस प्रकार का आत्मभाव आ जाता है, वहीं सच्ची आत्म-विस्मृति होती है, व्यक्ति देहादिजनित भावों को भूल जाता है। जब व्यक्ति को इस प्रकार की देहादिजनित आत्मविस्मृति हो जाती है, तो वह देहजनित स्मृति से जो राग-द्वेष, मोह, ममत्व आदि के उखाड़-पछाड़ के कारण नाना प्रकार के कष्टों से व्यथित होता रहता है, मन को अशान्त बना लेता है, कर्मबन्धन करता रहता है, मन में क्लेश होता रहता है, अनेक प्रकार के दुःख द्वन्द्वों और चिन्ताचक्रों से वह घिरा रहता है। किन्तु जब इस प्रकार की देहजनित आत्मविस्मृति हो जाती है और व्यक्ति में आत्मभाव आ जाता है। आत्मभाव—विश्वात्मभाव के आ जाने पर उसे देहादि-जनित स्मृति से उत्पन्न रागद्वेषादि नहीं सताते, न वह किसी प्रकार कष्टों से पीड़ित-व्यथित होता है और न ही उसे तज्जनित पाप कर्म का ही सर्वथा बंध होता है। उसे जीवन का एक महत्त्वपूर्ण आनन्द—पूर्ण आनन्द प्राप्त हो जाता है। भगवान् महावीर ने अपने विशाल अनुभूति की आँच में तपी हुई वाणी में कहा—

सव्वभूयप्पभूयस्स सम्मं भूयाइं पासओ।
पीहियासवस्स दंतस्स पावकम्मं न बंधई॥

—जो शान्त दान्त साधक समस्त भूतों (प्राणियों) के प्रति आत्म-भूत (विश्वात्म-भूत) हो जाता है, जो समस्त प्राणियों को समभाव से देखता है; वह समस्त आस्रवद्वारों को बन्द कर देता है, उसके पापकर्म का बन्ध नहीं होता।

दुःखों का मूल : शरीरादि में आत्मभाव की भ्रान्ति

संसार में दुःखों का मूल कारण क्या है ? यही कि मनुष्य में आत्मभाव जाग्रत नहीं है और वह अनात्मभाव को, जो शरीरादिजनित हैं उसे आत्मभाव मान लेता है, इस अविद्या के कारण वह तथाकथित आत्म-विस्मृति की प्राप्ति नहीं करता। इसीलिए उत्तराध्ययनसूत्र में कहा है—

जावंतऽविज्जा-पुरिसा सव्वे ते दुक्खसंभवा।
लुंपंति बहुसो मूढा, संसारम्मि अणंतए॥

—जितने भी अविद्यावान पुरुष हैं वे सब अपने लिए दुःख पैदा करते हैं। ऐसे मूढ व्यक्ति प्रायः अनन्त संसार में परिभ्रमण करते हैं, वे स्वयं नष्ट हो जाते हैं, दूसरों का जीवन भी नष्ट कर देते हैं। ऐसे लोग धर्मकार्य या धर्माचरण भी करते हैं तो उनमें तौलने की बुद्धि हो जाती है। प्रत्येक शुभकार्य भी, धर्माचरण भी ले-दे की वृत्ति से चलता है।

अक्सर सामान्य जनता और कभी-कभी बड़े-बड़े साधकों में देहादिजनित आत्मभाव की विस्मृति नहीं होती, और वे बात-बात में सेवा, दया, करुणा, क्षमा आदि प्रत्येक धर्मतत्त्व को देहादिजनित भाव से तोलते हैं, उसी गज से नापते हैं; और देहादिभाव की विस्मृति न होने से वे साम्प्रदायिकता, जातीयता, प्रान्तीयता आदि छोटे-छोटे संकीर्ण दायरों में फँस जाते हैं। जहाँ नाप-तौल चलता है, वहाँ उन्हें जीवन का एक मधुर भाव, महत्त्वपूर्ण आह्लाद प्राप्त नहीं होता।

शरीरादि भाव की विस्मृति के अभाव में नापतौल

मान लीजिए, आपके कस्बे में आपकी बिरादरी में कोई व्यक्ति बहुत धन कमा लेता है और बड़ा धनिक बन जाता है। परन्तु धन और ऐश्वर्य के साथ उसमें आत्म-भाव नहीं है, तो इस हालत में वह धन और ऐश्वर्य की अपनी तुलना करता है, तौलता है, दूसरों के साथ। ज्यों ही वह दूसरे धनिकों से अपनी तुलना करता है, त्यों ही अपने को दरिद्र पाता है। वह एक पलड़े में अपने धन को और दूसरे पलड़े में दूसरे के धन को रखकर सोचता है कि मैं इतना गरीब हूँ, वह मुझसे इतना अधिक धनवान हो गया। इसी तुलना की प्रक्रिया के कारण उसके मन में उक्त धनाढ्य के प्रति घृणा और द्वेष जागते हैं। इसी प्रकार जो अपने से बढ़कर यशस्वी है, उसके प्रति भी ईर्ष्या और घृणा शुरू हो जाती है। क्योंकि वहाँ भी वह दूसरे यशस्वी के साथ अपनी तुलना करने-तौलने लगता है। मतलब यह है कि जहाँ आत्मभाव की स्मृति नहीं है, देहादिभाव की (अपने आप की) वहाँ विस्मृति नहीं होती, और जब अपने आपकी विस्मृति नहीं होती, इस प्रकार नापतौल शुरू हो जाता है, जिसके फल-स्वरूप आनन्द और सुख-शान्ति के बदले ईर्ष्या, घृणा, द्वेष, वैर-विरोध आदि पैदा होते हैं, जिनके कारण अशान्ति, दुःख, बेचैनी, असन्तोष आदि ही पल्ले पड़ते हैं।

आत्मभाव और अनात्मभाव की स्मृति में अन्तर

पाटणनरेश चन्द्रराज था। उसका मंत्री था—उदयन। उदयन की मृत्यु के बाद उसका पुत्र वाग्भट (बाहड़) मंत्री बना। गुजरात के शासन का संचालन परिस्थितिवश एक बार इन ओसवाल मंत्रियों के हाथों में रहा। उदयन मंत्री था, तब वह शासन का ठीक तरह से संचालन करता रहा, और उदयन के बाद वाग्भट के हाथ में जब गुजरात के शासन की बागडोर आई तो वह शासन का कुशलतापूर्वक संचालन करने के साथ-साथ अपने ऐश्वर्य को दोनों हाथों से लुटाने लगा। वह बड़ा भारी दानी था। अतः उसने पिता के ऐश्वर्य को समाज और राष्ट्र के कल्याण के लिए अर्पण कर दिया। दान का दरिया बहाता रहा। इस कारण उसका यश चारों ओर फैलने लगा। वाग्भट की कीर्तिगाथाएँ धीरे-धीरे पाटणनरेश के कानों में पहुँची। बादशाह अपने यश से उसकी तुलना करने लगा—'यह कल का मेरे सामने का लड़का इतना यशस्वी हो रहा है कि अपने पिता को और मुझको भी मात कर रहा है, दोनों को भुलाए जा रहा है।' लोगों ने भी बादशाह के कान भरने शुरू किये।

बात यह थी कि इस मंत्री ने एक दिन महत्त्वपूर्ण कार्य यह किया था कि रक्तपातहीन, युद्ध के बिना, एक अमीर राजा पर बहुत बड़ी विजय प्राप्त कर ली थी। उसके उपलक्ष्य में पाटणनरेश ने उसे एक बड़ा ऐश्वर्य दिया और हीरे-मोतियों से जड़े हुए राजसी वस्त्र उपहार में दिये। ज्यों ही वह उन राजसी वस्त्रों को पहिन कर हीरे-मोतियों से जगमगाता हुआ, सूर्य-किरण-सा प्रकाशमान होकर बाहर निकला। वहाँ खड़े हुए याचक लोग कहने लगे—'महाराज ! हमें कुछ दें, हमें कुछ चाहिए।' उसने कहा—'लो, यह देता हूँ।' इस प्रकार याचकों को जो पदार्थ थे, क्रमशः देता गया और आगे बढ़ता गया। इतने में ही ठंड से ठिठुरता हुआ एक व्यक्ति मिल गया। उसने कहा—'मेरे पास कोई कपड़ा नहीं है।' इस पर वाग्भट ने खुद को जो चोगा मिला था, वह उसे दे दिया। उस कपड़े के साथ जितनी भी हीरे-मोती की झालरें थीं, सब की सब चली गईं। चूंकि वाग्भट सरस्वती-पुत्र रहा और अब ऐश्वर्य मिलने के साथ लक्ष्मीपुत्र होने से दानी भी बन गया। इस कारण उसका कीर्तिगान चारों ओर गूंज उठा। एक चुगलखोर ने राजा के कान झूठमूठ भर दिये—"महाराज ! आपने तो वाग्भट को यह पोशाक इसलिए दी थी कि वह उसके पीढ़ी-दर-पीढ़ी तक चलेगी। परन्तु उसने तो वह एक भिखमंगे को दे डाली है। अर्थात्—आपकी दी हुई पोशाक का उसकी दृष्टि में कोई मूल्य नहीं है।"

राजा कान का कच्चा था। पहले से ही वाग्भट की कीर्ति सुनकर उसका मन उससे उचटा हुआ था ही, अब इस चुगलखोर की बात ने भी आग में घी का काम किया। राजा का अहं चोट खाकर एकदम क्षुब्ध हो उठा। उसने कहा—'अच्छा ऐसी बात है ! बुलाओ वाग्भट को।"

राजा का आदेश मिलते ही वाग्भट आया। उसने आते ही प्रणाम करके पूछा—"महाराज ! क्या आज्ञा है, मेरे लिए ? फरमाइए, किसलिए आपने मुझे याद किया था ?" पाटण नरेश ने पूछा—"हमने जो तुम्हें पोशाक प्रसन्नतापूर्वक उपहार में दी थी, वह कहाँ हैं ?"

वाग्भट—"स्वामिन् ! यह चीज प्रभु की दी हुई अमूल्य देन है और जीवन में बहुत महत्त्वपूर्ण मानकर मैं उसे सुरक्षित रूप से रखना चाहता था। इसी बीच मुझे एक ऐसी सुरक्षित जगह मिल गई। मैंने ऐसी जगह उसका सुरक्षण कर दिया है कि वहाँ वह चीज जन्म-जन्मान्तर तक सुरक्षित रहेगी।"

राजा ने पूछा—"उसे कहाँ सुरक्षित रखा है ? क्या किया है, उसका ?"

वाग्भट बोला—"महाराज ! एक जरूरतमंद था, उसे मैंने वह चीज दे दी है। आप जानते ही हैं कि इन वस्त्रों के तार (धागे) भी एक दिन खत्म होंगे—मरेंगे, और हम भी मरेंगे। ये जब तक रहेंगे, तब तक हर चीज को अच्छी तरह रखेंगे। और यही याद रहेगा, महाराज ! कालचक्र के प्रवाह में ये वस्त्रों के तार और ये हीरे-मोती कब तक सुरक्षित रहते, महाराज ! मैंने उनका विनियोग इस तरह

किया है कि भले ही वस्त्र नष्ट हो जायँ या हीरे-मोती टूट-टूट कर समाप्त हो जायँ; परन्तु उनके पीछे जो भाव है, उसे मैंने जन्म-जन्मान्तर के लिये सुरक्षित रख लिया है।"

राजा यह सुनकर प्रसन्न तो हुआ, किन्तु उसका अहं हुंकार कर उठा—"वाग्भट! मालूम होता है, तुम बहुत बड़े दानी बन गए हो! यों ही रास्ते चलते लुटा देते हो। कुछ घर की ओर भी देखते हो या नहीं? हम तो इतना दान नहीं कर पाते हैं, लेकिन तुम हमसे भी आगे बढ़ रहे हो।"

राजा की यह बात सुनते ही वाग्भट मुस्कराकर बोला—"महाराज! मुझे आपसे आगे बढ़ना ही चाहिए। मैं अगर इतना नहीं कर सकता हूँ तो आपका पुत्र वाग्भट कैसा? इसलिए यह सच मानिये कि जो आप नहीं कर सकते, उसे मैं कर सकता हूँ।"

"क्या कारण है कि हम नहीं कर सकते, उसे तुम कर सकते हो?"

वाग्भट—"महाराज! आप साधारण जागीरदार के पुत्र हैं, आपकी साधारण-सी भूमिका है। आपने ऐश्वर्य तो प्राप्त किया लेकिन आपका ऐश्वर्य, चाहे कितना ही बड़ा हो, आप गरीब पिता के पुत्र होने के नाते दान करना चाहें तो भी नहीं कर सकते।"

राजा ने कहा—"तुम्हारा पिता भी तो भटकता-घूमता हुआ फटेहाल हो कर आया था। फिर तुम कैसे कहते हो कि मैं दान कर सकता हूँ।"

वाग्भट ने कहा—"महाराज! आप एक साधारण जागीरदार के पुत्र हैं, लेकिन मैं तो आपका पुत्र हूँ। अगर मैं गरीब बाप का बेटा होता तो यों दान नहीं कर सकता था, परन्तु मैं तो एक बड़े सम्राट का पुत्र हूँ। इसलिए मैं कर सकता हूँ।" यह बात सम्राट के हृदय में सीधी उतर गई। उसका दिल बाग-बाग हो गया। उसने वाग्भट को छाती से लगाया, उसका मस्तक सूँघा और उसकी पीठ थपथपाई। कहा—"तुम मेरी गोद में पले हो। तुम उदयन के पुत्र नहीं, मेरे पुत्र हो। इसलिए मैं मानता हूँ कि मैं गरीब पिता का पुत्र होते हुए इतनी बड़ी गद्दी पा जाने पर भी इतना परोपकार नहीं कर सकता, जितना तुम कर सकते हो। मेरे हाथों से हत्याएँ हुईं, सिंहासन बर्बाद हुए और इतने राज्य पर अधिकार हुआ, लेकिन साथ ही मेरे मुँह पर एक तमाचा लगा है प्रकृति की ओर से कि एक दिन यह कालचक्र सबको खा जाएगा। यह सब लुट जाएगा, मेरे जीवनकाल में ही कोई बड़ी ताकत मुझसे यह छीन सकती है। संसार के सिंहासन स्थिर नहीं रह सकते। तुमने बिलकुल ठीक कहा है कि मैं इतना परोपकार क्यों नहीं कर सकता।"

इसके बाद पाटण नरेश ने कभी नहीं कहा कि इतना दान क्यों कर रहा है, बल्कि यही पूछता रहता—"आज कितना दान दिया? किसको दिया?"

वस्तुस्थिति यह है कि जब तक पाटण नरेश में वाग्भट के प्रति आत्मभाव नहीं जागे थे, तब तक वह अपनी कीर्ति को उससे तौल रहा था, लेकिन आत्मीयता आ जाने पर तौलना समाप्त हो गया। जब वाग्भट ने सम्राट के हृदय में स्थान पा लिया और उसमें पुत्रत्व का वात्सल्य जागा, तब यही समझने लगा कि मेरा ही लड़का यह काम कर रहा है।

अभिप्राय यह है कि आप जीवन के भौतिक क्षेत्र में रहें, चाहे धार्मिक क्षेत्र में, परिवार में रहें, या समाज और राष्ट्र में, परन्तु अपने आपको विस्मृत नहीं कर सके, अपने स्वार्थों, इच्छाओं, तमन्नाओं आदि को ठोकर न मार सके तो आपको इन क्षेत्रों में से किसी में भी आनन्द नहीं आएगा। आध्यात्मिक क्षेत्र में भी आत्मविस्मृति आवश्यक है। इसीलिए मैंने आपके सामने आत्मस्मृति के साथ-साथ अपने आप (शरीरादि से सम्बद्ध अहं आदि) को भुला देना आवश्यक बताया। वात्सल्य की पगडण्डी से आप अपने आपको विस्मृत कर सकेंगे, फिर आप आत्मभावों में विभोर हो जाएँगे। □

3

अपनी पहचान ! (प्रथम खण्ड)

बन्धुओ,

अत्यन्त प्रसन्नता की बात है कि आप सदैव के समान आज भी बड़ी तादाद में यहाँ एकत्रित हैं और प्रवचन सुनने की इच्छा रखते हैं। किन्तु मैं आज आपको विशेषरूप से सावधान करना चाहती हूँ। वह इसलिये कि हमारा आज का विषय केवल सुनने मात्र के लिये नहीं वरन् अपने आपको पहचानने तथा अपने सम्यक्त्व की मात्रा का ज्ञान करने के लिये होगा। यह वह गज होगा जिसका एक-एक इंच आपके सम्यक्दृष्टित्व का नाप करेगा तथा आप स्वयं ही अपने आपकी सही तौर पर जाँच कर सकेंगे।

प्राणीमात्र की आकांक्षा

सृष्टि का प्रत्येक प्राणी आधि, व्याधि और उपाधि—इन तीनों तापों से पीड़ित है तथा इनसे मुक्त होने की आकांक्षा रखता है। किन्तु मुक्ति की तीव्र चाह होने पर भी वह मुक्त होने के मार्ग पर चलता नहीं। चलना चाहता है पर मार्ग की सही जानकारी के अभाव में चल नहीं पाता। भटक जाता है। आप सब इन त्रिविध तापों से मुक्त होने के लिये तैयार बैठे हैं और केवल तैयार ही नहीं, व्याकुल भी हैं; पर सही मार्ग की जानकारी के अभाव में आपकी आकांक्षा पूर्ण नहीं हो रही है, तथा जो कुछ प्रयास किया जा रहा है वह निष्फल सावित हो रहा है।

मुक्ति का मार्ग

हमारे शास्त्रों में सम्यक्दर्शन, सम्यक्ज्ञान और सम्यक्चारित्र, ये तीन मुक्ति के मार्ग वताए हैं—

सम्यक्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्गः।

इन पर चलकर ही प्राणी त्रिविध तापों से मुक्त होकर अक्षय सुख प्राप्त कर सकता है। सम्यक्दर्शन, ज्ञान और चारित्र ही मोक्ष रूप तरु की छाया के समान हैं जिसका आश्रय लेकर वह संसार से मुक्त हो सकता है।

गरुड़ पुराण में कहा भी है—

"तापत्रयाविसंतप्तश्छायां मोक्षतरोः श्रयेत।"

भावार्थ—दैहिक, दैविक और भौतिक इन तीनों तापों से यदि अत्यन्त दुखी हो गये हो तो मोक्ष रूप वृक्ष की शाश्वत सुखरूप छाया का आश्रय ग्रहण करो।

आत्मा निर्विकारी है। वह दिखाई देने वाली वस्तु नहीं है, जिसे हाथ में लेकर दिखाया जा सके। वह तो सम्यक्दर्शन, सम्यक्ज्ञान और सम्यक्चारित्र का ही समूह है। समस्त विकारों से तथा कर्म-बन्धनों से मुक्त होकर जब वह अपने वास्तविक स्वरूप में स्थित हो जाता है तभी मुक्तात्मा कहलाता है। मुक्ति तभी होती है जब साधक, साध्य और साधन एक रूप हो जाते हैं।

पर यह तभी हो सकता है जबकि मानव अपनी आत्मा को निरन्तर विकार रहित बनाता हुआ समाधिभाव की ओर उन्मुख होता चला जाय। इस समाधिभाव को प्राप्त करने के लिये ही श्रद्धा, ज्ञान और क्रिया तीन साधन बताये गये हैं। जिन्हें दूसरे शब्दों में दर्शन, ज्ञान और चारित्र कहते हैं।

ज्ञान से पूर्व आचार्यों ने दर्शन का उल्लेख किया है। क्योंकि आत्मा में ज्ञान तो होता ही है, पर जब तक सम्यक्दर्शन न हो तब तक वह ज्ञान प्रशस्त नहीं हो पाता। ज्ञान तो निगोद के जीवों में भी होता है, पर वह सम्यक्दर्शन के अभाव में झूठा होता है। अतः सम्यक्दर्शन को सर्वप्रथम स्थान दिया गया है। इसके अभाव में ही ज्ञान मिथ्याज्ञान कहा जाता है।

श्रद्धा

प्रत्येक मुक्ति के इच्छुक मानव को श्रद्धा, ज्ञान एवं क्रिया इन तीनों साधनों की आवश्यकता होती है। श्रद्धा का स्थान इसमें सर्वप्रथम है।

जिस प्रकार रोगी व्यक्ति को पहले यह श्रद्धा अथवा विश्वास होना चाहिये कि मैं बीमार हूँ, उसके पश्चात् रोग-निवारण के उपायों का ज्ञान होना चाहिये और इसके बाद उन उपायों को क्रिया के रूप में व्यवहृत करना चाहिये। संसार में प्रत्येक उद्देश्य की प्राप्ति इसी क्रम से होती है। लेकिन आत्मा के लिये जिस समाधिभाव का उल्लेख मैंने अभी किया है उसको पाने के लिये श्रद्धा, ज्ञान और क्रिया से पूर्व 'सम्यक्' शब्द लगाना अनिवार्य है। मुक्ति रूप सिद्धि की नींव सम्यक्त्व है। जैसे बिना नींव के बिल्डिंग खड़ी नहीं हो सकती उसी प्रकार सम्यक्त्व के अभाव में साधु तो क्या श्रावक भी नहीं बना जा सकता।

श्रद्धा के प्रकार

श्रद्धा के दो प्रकार होते हैं—प्रथम सम्यक्श्रद्धा और द्वितीय अंधश्रद्धा। श्रद्धा दोनों ही कहलाती हैं किन्तु उनमें से प्रथम विवेकयुक्त होती है और दूसरी अविवेक-युक्त। दोनों ही श्रद्धा कहलाने पर भी एक ही तत्त्व से निर्मित हीरे और कोयले के समान अन्तर रखते हैं।

श्रद्धाशील व्यक्ति को सच्चे देव, जो कि वीतराग हों, उन पर श्रद्धा होनी

चाहिए भले ही वह किसी भी नाम के क्यों न हों। सम्यक् रूप से पंच महाव्रतों का पालन करने वालों को गुरु मानना चाहिये, चाहे वह किसी भी सम्प्रदाय के हों और उस धर्म को, जो राग-द्वेष कषायादि विकारों से मुक्त कर मोक्ष की ओर ले जाता हो, सच्चा धर्म मानना चाहिये। चाहे उसका कोई भी नाम क्यों न हो। अगर हम यह सोचते हैं कि जैन कुल में जन्म लेने वाला ही सम्यक्त्वी हो सकता है, तो यह हमारी गलत धारणा है। वास्तव में तो सम्यक्त्व के लक्षण अगर जैन कुल में पैदा होने वाले में नहीं हैं तो वह सम्यक्त्वी नहीं है और वे लक्षण मुसलमान, ईसाई, सिख या बौद्ध किसी में भी विद्यमान हैं तो वह सम्यक्त्व का धारी है। अतः अब हमें यही देखना है कि सम्यक्त्व के वे लक्षण हममें हैं या नहीं ? अगर नहीं हैं तो यह समझना पड़ेगा कि हम मिथ्यात्वी हैं। और मिथ्यात्व के विद्यमान रहते, हमारी ये समस्त क्रियाएँ—व्रत, उपवास, पौषध तथा उपदेश-श्रवण आदि निरर्थक हैं, सारहीन हैं।

सम्यक्त्व के लक्षण

सम्यक्त्व के पाँच लक्षण हैं—सम, संवेग, निर्वेद, अनुकम्पा एवं आस्था। यही पाँच लक्षण सच्चे जैनत्व की पहचान कराते हैं। इन कसौटियों पर कसा जाने पर ही मानव सम्यक्त्व का धारी कहला सकता है।

(१) सम (शम)

'सम' का अर्थ है समभाव होना। समभाव का उदय तभी होता है जबकि राग, द्वेष तथा क्रोध, मान, माया एवं लोभादि कषायों का शमन हो जाय। कषाय आत्मा के लिये महा अनर्थकारी होते हैं। इसीलिये शास्त्रकार कहते हैं :—

कोहं च माणं च मायं च लोभं च पाववड्ढणं।
वमे चत्तारि दोसाओ इच्छंतो हियमप्पणो ॥

—जो व्यक्ति अपना हित चाहता है उसे इन चारों कषायों का त्याग कर देना चाहिये।

कषाय का सेवन करने वाले मानव दानव के समान होते हैं तथा क्षमादि गुणों के धारक पुरुष देवताओं के तुल्य। कषाय वह विष है जो आत्मा में प्रविष्ट होकर मनुष्य की शारीरिक, मानसिक एवं आध्यात्मिक तीनों प्रकार की हानि का कारण बनता है। तथा आत्मा को पुनः-पुनः संसार में परिभ्रमण कराता है। योग-शास्त्र में तो यहाँ तक कहा गया है :—

"पिशाचा इव रागाद्याश्छलयन्ति मुहुर्मुहुः ॥"

—राग-द्वेष आदि ये कषाय दैत्यों के समान बार-बार आत्मा को छला करते हैं।

वस्तुतः राग, द्वेष तथा क्रोधादि के वशीभूत हुआ प्राणी सदा खिन्न और अशांत रहता है। न वह किसी पर स्नेह रख सकता है और न ही किसी का स्नेह-भाजन बन सकता है। समभाव के अभाव में वह अन्य जाति, अन्य कर्म और अन्य

सम्प्रदाय के व्यक्तियों को हीन समझता है तथा लड़ाई-झगड़ा करने को अपना धर्म मानता है।

इसके विपरीत समभावी पुरुष शत्रु और मित्र में समान-भाव रखता हुआ जहाँ भी अच्छाई दिखाई दे उसे ग्रहण करने का प्रयत्न करता है। किसी के द्वारा सम्मानित होकर वह गर्व से फूलता नहीं और अपमानित होकर प्रतिशोध की भावना का जन्म नहीं होने देता। गीता में कहा है :—

समः शत्रौ च मित्रे च तथा मानापमानयोः ।
शीतोष्णसुखदुःखेषु समः संगविवर्जितः ॥

—जो शत्रु-मित्र में और मानापमान में सम है, सरदी-गरमी एवं सुख-दुःखादि द्वन्द्वों में सम है तथा आसक्ति से रहित है वह भक्तिमान पुरुष मुझे प्रिय है।

वास्तव में, पूर्णतया समता आए बिना कोई भी सिद्धयोगी, सिद्धभक्त या सिद्धज्ञानी नहीं समझा जा सकता। समता ही सिद्धि की कसौटी और सम्यक्त्व का लक्षण है। संसार में जितने भी महापुरुष हुए हैं वे अपनी समता और सहिष्णुता के कारण ही महापुरुष कहलाये हैं। महात्मा गांधी भी ऐसे ही युगपुरुष थे।

एक बार जब वे अफ्रीका में थे, कुछ गोरे लोग बिगड़ खड़े हुए और उन्होंने गांधीजी पर आक्रमण करके उन्हें घायल कर दिया। वे शांतिपूर्वक सब कुछ सहते रहे।

कुछ समय पश्चात् ही एक अधिकारी वहाँ आया और बोला—"अगर आप आक्रमणकारियों को पहचान सकें तो मैं उन्हें गिरफ्तार करा कर उन पर मुकदमा चलाने के लिये तैयार हूँ।"

किन्तु गांधीजी ने सहज-भाव से उत्तर दिया—

"मैं किसी पर मुकदमा चलाना नहीं चाहता। पहचान तो मैं उन्हें सकता हूँ। पर उन्हें सजा कराने में लाभ नहीं समझता। क्योंकि उन्हें मैं दोषी नहीं मानता, उन्हें यही कहा गया है कि मैंने भारत में नौटाल के गोरों की खूब बढ़ा-चढ़ा कर निंदा की है। इस सुनी हुई बात पर विश्वास करके अगर उन्होंने मुझ पर आक्रमण कर दिया तो इसमें आश्चर्य और क्रोध करने की क्या बात है? जब सत्य का उन्हें पता लगेगा तो वे स्वयं ही पश्चात्ताप करेंगे।"

इसी प्रकार जब मनुष्य प्रत्येक परिस्थिति में अविचलित बना रहे तथा प्रत्येक प्राणी पर समान भावना रखे तभी मानना चाहिये सम्यक्त्व का कुछ अंश उसमें है। महात्मा कबीर ने भी सम-दर्शन की पहचान कराने के लिये सरल भाषा में कहा है—

समदृष्टी तब जानिये, सीतल समता होय।
सब जीवन की आतमा, लखै एक सी सोय॥

अर्थात् मनुष्य का मनुष्य मात्र पर ही एक सा भाव रखना सम-भाव नहीं

कहलाता अपितु प्राणी मात्र की आत्मा को अपनी आत्मा के समान समझना सच्चा समभाव है। संत नामदेव ऐसे ही सच्चे सम-भावी थे।

एक बार वे खाना बना रहे थे। रोटियाँ बना लेने पर वे किसी काम से अल्प समय के लिये वहाँ से अन्यत्र चले गये। लौटने पर उन्होंने देखा कि एक कुत्ता रोटियाँ उठाकर भागा जा रहा है।

नामदेव उसी वक्त घी की कटोरी हाथ में लिये हुए कुत्ते के पीछे दौड़े और कहने लगे—"भगवन्! रोटियाँ रूखी हैं, चुपड़ नहीं पाईं। जरा घी लगा देने दीजिये फिर भोग लगाइये।"

क्या ऐसी सम-भावना सहज ही आ सकती है कि मानव प्रत्येक प्राणी को आत्मवत् समझे, प्रत्येक प्राणी में ईश्वर का अंश माने।

(२) संवेग

सम्यक्त्व का दूसरा लक्षण संवेग है। संवेग का अर्थ है—विषय-कषायों की ओर उन्मुख होने वाली इन्द्रियों को आत्माभिमुख करना तथा प्रतिपल आत्मा की मुक्ति की कामना करना।

मुमुक्षु प्राणी को चिन्तन करना चाहिये कि कर्मों का बंधन करने वाला और कर्मों से मुक्ति देने वाला अपनी आत्मा के अतिरिक्त और कोई नहीं है। आत्मा की सत् अथवा असत् प्रवृत्तियों के प्रति केवल आत्मा ही उत्तरदायी है। कषाय और इन्द्रियों द्वारा पराजित यह आत्मा ही संसार है, तथा विषय-कषायों से उत्पन्न जन्म मरण का परिणाम आत्मा को ही भोगना पड़ता है। किन्तु अपने सच्चे स्वरूप में यह पापरहित, शोकरहित, जरारहित, मृत्युरहित, रोगरहित, भूख-प्यासरहित, अनन्तज्ञान स्वरूप, अनन्त आनन्द स्वरूप एवं अनन्त कल्याण रूप है।

मनुष्य को सदा अपनी आत्मा को चेतावनी देनी चाहिये :—

"मुञ्चात्मन्! भवचेष्टितान्यपि गिरिप्राप्तप्रतिष्ठो भव।"

अर्थात्—हे आत्मन्! संसार की चेष्टाओं को, जन्म-मरण उत्पादक कषायों को तू छोड़ दे और पर्वत के समान अचल प्रतिष्ठा को, मोक्षपद को प्राप्त कर।

इस प्रकार की भावना रखना तथा सम्यक् दिशा में गति करना संवेग है।

(३) निर्वेद

संसार से उदासीनता तथा विरक्ति होना निर्वेद कहलाता है। जब प्राणी को सांसारिक भोगोपभोग से विरक्ति हो जाती है, भौतिक पदार्थों के प्रति आसक्ति नहीं रहती तो वह स्वाभाविक रूप से ही आवश्यकता से अधिक वस्तुओं का संचय नहीं करता, भोग नहीं करता और संयमित जीवन व्यतीत करता है। वह अपनी आत्मा को बोध देता है:—

हो जल में उत्पन्न जलज ज्यों जल से भी न्यारा है,
त्यों शरीर से भिन्न चेतना को भी निर्धारा है।
तो दुनिया की अन्य वस्तुएँ कैसे होंगी तेरी ?
समझ निराले आत्म रूप को मत कह मेरी-मेरी ॥

जो पुरुष-पुंगव आत्मा के सच्चे स्वरूप को समझ लेता है और जिसे संसार से सच्ची विरक्ति हो जाती है उसे कोई भी प्रलोभन और कोई भी तर्क पुनः संसार में लिप्त नहीं कर सकता। कहते हैं कि शुकदेव जन्म से ही संसार के प्रति उदासीन थे। जब वे सब कुछ छोड़-छाड़कर वन में जाने लगे तो उनके पिता व्यास जी ने कहा—

"वेटा ! कुछ दिन ठहर जाओ। मैं तुम्हारे कुछ संस्कार तो कर लूं।"

शुकदेवजी ने कहा—"पिताजी, अब तक जन्म-जन्मान्तरों में मेरे असंख्य संस्कार हो चुके हैं उन्होंने ही मुझे भव-भ्रमण कराया है। अतः अब मैं उन्हें पुनः दोहराना नहीं चाहता।"

व्यासदेव—"तुम्हें ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ और संन्यास आश्रम में क्रमशः प्रवेश करना चाहिये। तभी मोक्ष प्राप्त कर सकोगे।"

शुकदेव—"अगर ब्रह्मचर्य से मोक्ष की प्राप्ति होती तो संसार के नपुंसकों को वह सदा प्राप्त होता, गृहस्थाश्रम से भी अगर ऐसा होता तो सारा संसार ही [illegible]हो गया होता, अगर वानप्रस्थ से मुक्ति मिलती होती तो वन में निवास करने [illegible]-पक्षी अब तक मुक्त हो गये होते और संन्यास लेने से ही मुक्त हुआ [illegible]भी मोक्ष में ही होते।"

[illegible]द्गृहस्थों के लिये लोक और परलोक दोनों ही सुखप्रद होते [illegible] करता है, उससे सुख की प्राप्ति होती है।"

[illegible] यह असम्भव है पिताजी ! सूर्य से बर्फ झड़ने लग जाय और चन्द्रमा [illegible]ने लगे—यह तो हो सकता है, किन्तु परिग्रह से कोई सुखी हो सके [illegible] भी संभव नहीं है।"

[illegible]देव—"पुत्रहीन व्यक्ति नरक में जाता है।"

[illegible]देव—"यह आपका भ्रम है, अगर पुत्र के कारण स्वर्ग की प्राप्ति हो [illegible] सूअर तथा कुत्ते आदि तो खासतौर से ही स्वर्ग में जाते, क्योंकि उनके तो [illegible]हुत अधिक होती है।"

व्यासजी पुत्र के उत्तरों को सुनकर वड़े निराश हुए और अंतिम प्रयत्न करते [illegible]बोले—"वेटा ! पुत्र के दर्शन से मनुष्य पितृऋण से मुक्त हो जाता है तथा [illegible] [illegible]न से देव-ऋण से मुक्त होता है और प्रपौत्र के दर्शन से उसे [illegible] [illegible]हाती है।"

[illegible] दिल होवे,

शुकदेव ने उत्तर दिया—"गीधों की उम्र [illegible] अपना टोले ना।

पीढ़ियों को देखते हैं। पौत्र-प्रपौत्र तो बहुत मामूली हैं उनके लिये। पर कौन जाने उनमें से अब तक कितनों ने मोक्ष प्राप्त किया है।"

यह कहते हुए शुकदेवजी ने पिता को नमस्कार किया और वन को चल दिये।

वस्तुतः सांसारिक संबंध और सांसारिक वस्तुएँ जन्म-मरण को बढ़ाने वाली ही होती हैं अतः मोक्षाभिलाषी व्यक्ति को इनके प्रति उदासीन होना चाहिये और अपनी इन्द्रियों को इनसे विमुख करके आत्मा को समस्त बंधन-मुक्त करने का प्रयास करना चाहिये।

(४) अनुकम्पा

सम्यक्त्व का चौथा लक्षण अनुकम्पा है। रोग, शोक अथवा अन्य कष्ट से पीड़ित प्राणियों के दुःख को दूर करने की भावना अनुकम्पा कहलाती है। यह दो प्रकार की होती है। शक्ति होने पर दुखी प्राणी के दुख को दूर करने का प्रयत्न द्रव्य-अनुकम्पा और दुख मिटाने की शक्ति न होने पर भी दूसरों के दुःख से द्रवित होना भाव-अनुकम्पा है।

श्रेष्ठ व्यक्ति को प्रत्येक प्राणी पर अनुकम्पा करनी चाहिये चाहे वह पापी हो, पुण्यात्मा हो या वध करने लायक अपराध ही क्यों न कर चुका हो। अनुकम्पा आत्मा का निजी गुण है और सबसे बड़ा धर्म है। शेक्सपियर ने दया का महत्त्व बताते हुए कहा है :—

"Mercy is twice blessed, it blesseth him that gives, and him that takes."

—अनुकम्पा ऐसा दोहरा वरदान है जिसकी कृपा दाता पर भी होती है और पात्र पर भी।

जिस भव्य प्राणी के हृदय में सच्ची अनुकम्पा होती है वह पंचेन्द्रिय तो क्या एकेन्द्रिय जीव का भी हनन नहीं कर सकता। संत नामदेव ऐसे ही दयामय थे।

बचपन में एक दिन जब वे घर में आए तो उनकी माता ने चकित होकर पूछा—

"नामू ! तेरी धोती खून [illegible] में हो रही है ?"

"कुछ न[illegible] । यह तो [illegible] पैर छी[illegible] देखा था।"

[illegible] बोलीं [illegible] इस तरह

सांसारिक अत्यन्त [illegible] फिर

रहती तो वह [illegible]

करता, भोग नहीं [illegible]

को बोध देता है:—

कटवाकर मँगाई थी, न। अतः मैंने सोचा कि अपने पैर की भी छाल उतार कर देखूँ कि उस दिन पलास के पेड़ को छाल छिलने से कैसा लगा होगा ?"

पुत्र की बात सुनकर माँ रो पड़ी। बोली—"बेटा ! मुझे लगता है कि किसी दिन तू अवश्य ही महान संत बनेगा। सचमुच पेड़ों में भी अन्य जीवों के समान जान है। चोट लगने से जिस प्रकार हमें दुख होता है उसी प्रकार उन्हें भी होता है।

वास्तव में ऐसी ही अनुकम्पा प्रत्येक सम्यक्दृष्टि प्राणी कहलाने वाले के हृदय में होनी चाहिए, जो एकेन्द्रिय से लेकर पंचेन्द्रिय कहलाने वाले प्राणी तक को न सताये तथा दुःख और कष्ट से घिरे हुए प्राणी की सहायता करने को सदा तत्पर रहे।

इंगलैण्ड के सुप्रसिद्ध लेखक और वीर सर फिलिप सिडनी महारानी एलिजाबेथ के शासनकाल में हुई एक लड़ाई के समय घायल होकर रणक्षेत्र में पड़े हुए प्यास से छटपटा रहे थे।

कुछ सैनिक बड़ी कठिनाई से एक प्याला पानी कहीं से उनके लिए लाए। सिडनी ने ज्योंही पानी का प्याला अपने मुँह से लगाना चाहा, उनकी नजर बगल में ...े हुए एक सिपाही की ओर गई। वह घायल सिपाही भी तृषातुर था और टकटकी ...ाए उस प्याले की ओर देख रहा था।

सर फिलिप सिडनी का हृदय अनुकम्पा से भर गया और उन्होंने अपनी पिपासा की परवाह न करके प्याला उस घायल सिपाही के हाथों में थमा दिया, ... बूँद पानी भी अपने मुँह में नहीं डाला।

...यु-शय्या पर पड़े रहकर भी जो दूसरे का दुख देखकर पिघल जाते हैं ...र अनुकम्पाशील और कौन हो सकता है ? ऐसी ही अनुकम्पा सम्यक्त्व की ...राती है। जिस व्यक्ति को दूसरे के कष्ट की अनुभूति नहीं होती, दूसरे की ...र पीड़ा को देखकर उसके हृदय में दर्द नहीं होता, समझना चाहिए कि ... इन्सान का हृदय नहीं, शैतान का दिल है। संसार में जितने भी धर्म और ...ी का मूल अनुकम्पा है। कहा भी है—

"दयानदी महातीरे सर्वे धर्माः द्रुमायिताः।"

... अनुकम्पा रूपी नदी के किनारे पर ही समस्त धर्मों के वृक्ष फूले- ...पा का अमृतमय जल ही उन्हें हरा-भरा रखता है। नदी का जल ... प्रकार तटवर्ती वृक्ष, पेड़ व पौधे सूख जाते हैं उसी प्रकार अनुकम्पा ...पर समस्त सद्गुण निस्तेज हो जाते हैं। इसीलिए सम्यक्त्व के ... को मुख्य लक्षण माना गया है। एक पंजाबी कवि ने अनुकम्पा- ...बताए हैं—

...ख देख न रोवे, दुखिया देख दुखी दिल होवे,
...रे दा नुकसान, कदे सुख अपना टोले ना।

पीढ़ियों को देखते हैं। पौत्र-प्रपौत्र तो बहुत मामूली हैं उनके लिये। पर कौन जाने उनमें से अब तक कितनों ने मोक्ष प्राप्त किया है।"

यह कहते हुए शुकदेवजी ने पिता को नमस्कार किया और वन को चल दिये।

वस्तुतः सांसारिक संबंध और सांसारिक वस्तुएँ जन्म-मरण को बढ़ाने वाली ही होती हैं अतः मोक्षाभिलाषी व्यक्ति को इनके प्रति उदासीन होना चाहिये और अपनी इन्द्रियों को इनसे विमुख करके आत्मा को समस्त बंधन-मुक्त करने का प्रयास करना चाहिये।

(४) अनुकम्पा

सम्यक्त्व का चौथा लक्षण अनुकम्पा है। रोग, शोक अथवा अन्य कष्ट से पीड़ित प्राणियों के दुःख को दूर करने की भावना अनुकम्पा कहलाती है। यह दो प्रकार की होती है। शक्ति होने पर दुखी प्राणी के दुख को दूर करने का प्रयत्न द्रव्य-अनुकम्पा और दुख मिटाने की शक्ति न होने पर भी दूसरों के दुःख से द्रवित होना भाव-अनुकम्पा है।

श्रेष्ठ व्यक्ति को प्रत्येक प्राणी पर अनुकम्पा करनी चाहिये चाहे वह पापी हो, पुण्यात्मा हो या वध करने लायक अपराध ही क्यों न कर चुका हो। अनुकम्पा आत्मा का निजी गुण है और सबसे बड़ा धर्म है। शेक्सपियर ने दया का महत्त्व बताते हुए कहा है :—

"Mercy is twice blessed, it blesseth him that gives, and him that takes."

—अनुकम्पा ऐसा दोहरा वरदान है जिसकी कृपा दाता पर भी होती है और पात्र पर भी।

जिस भव्य प्राणी के हृदय में सच्ची अनुकम्पा होती है वह पंचेन्द्रिय तो क्या एकेन्द्रिय जीव का भी हनन नहीं कर सकता। संत नामदेव ऐसे ही दयामय थे।

बचपन में एक दिन जब वे घर में आए तो उनकी माता ने चकित होकर पूछा—

"नामू ! तेरी धोती खून से तरबतर क्यों हो रही है ?"

"कुछ नहीं मां ! यह तो मैंने कुल्हाड़ी से जरा पैर छीलकर देखा था।"

रहता था। अत्यन्त दुखी होकर माँ बोली—"तू कैसा मूर्ख है रे, क्या कोई इस तरह करता, भोग नहो छीलता है ? कहीं पक गया तो पैर कटवाना पड़ेगा। तेरी मति फिर [illegible] बोध देता है:— [illegible] ?"

—"माँ ! तुमने मुझसे उस दिन पेड़ की छाल

हो जल में उत्पन्न जलज ज्यों जल से भी न्यारा है,
त्यों शरीर से भिन्न चेतना को भी निर्धारा है।
तो दुनिया की अन्य वस्तुएँ कैसे होंगी तेरी ?
समझ निराले आत्म रूप को मत कह मेरी-मेरी ॥

जो पुरुष-पुंगव आत्मा के सच्चे स्वरूप को समझ लेता है और जिसे संसार से सच्ची विरक्ति हो जाती है उसे कोई भी प्रलोभन और कोई भी तर्क पुनः संसार में लिप्त नहीं कर सकता। कहते हैं कि शुकदेव जन्म से ही संसार के प्रति उदासीन थे। जब वे सब कुछ छोड़-छाड़कर वन में जाने लगे तो उनके पिता व्यास जी ने कहा—

"बेटा ! कुछ दिन ठहर जाओ। मैं तुम्हारे कुछ संस्कार तो कर लूँ।"

शुकदेवजी ने कहा—"पिताजी, अब तक जन्म-जन्मान्तरों में मेरे असंख्य संस्कार हो चुके हैं उन्होंने ही मुझे भव-भ्रमण कराया है। अतः अब मैं उन्हें पुनः दोहराना नहीं चाहता।"

व्यासदेव—"तुम्हें ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ और संन्यास आश्रम में क्रमशः प्रवेश करना चाहिये। तभी मोक्ष प्राप्त कर सकोगे।"

शुकदेव—"अगर ब्रह्मचर्य से मोक्ष की प्राप्ति होती तो संसार के नपुंसकों को वह सदा प्राप्त होता, गृहस्थाश्रम से भी अगर ऐसा होता तो सारा संसार ही ~~ हो गया होता, अगर वानप्रस्थ से मुक्ति मिलती होती तो वन में निवास करने ~ पशु-पक्षी अब तक मुक्त हो गये होते और संन्यास लेने से ही मुक्त हुआ ~ अभी मोक्ष में ही होते।"

-"सद्गृहस्थों के लिये लोक और परलोक दोनों ही सुखप्रद होते ~यय करता है, उससे सुख की प्राप्ति होती है।"

—"यह असम्भव है पिताजी ! सूर्य से बर्फ झड़ने लग जाय और चन्द्रमा ~लाने लगे—यह तो हो सकता है, किन्तु परिग्रह से कोई सुखी हो सके ~ में भी संभव नहीं है।"

~ासदेव—"पुत्रहीन व्यक्ति नरक में जाता है।"

शुकदेव—"यह आपका भ्रम है, अगर पुत्र के कारण स्वर्ग की प्राप्ति हो तो सूअर तथा कुत्ते आदि तो खासतौर से ही स्वर्ग में जाते, क्योंकि उनके तो ~ बहुत अधिक होती है।"

व्यासजी पुत्र के उत्तरों को सुनकर बड़े निराश हुए और अंतिम प्रयत्न करते ~ए बोले—"बेटा ! पुत्र के दर्शन से मनुष्य पितृऋण से मुक्त हो जाता है त~ ~दर्शन से देव-ऋण से मुक्त होता है और प्रपौत्र के दर्शन से उसे ~ होती है।"

~दल होवे,

शुकदेव ने उत्तर दिया—"गीधों की उम्र ~ अपना टोले ना।

बन उपकारी जान गंवावे, दुखियाँ दे दुख दरद मिटावे,
हत्थ विच फड़ इन्साफ दी तकड़ी, कमती कदी भी तोले ना।

कहने का अभिप्राय यही है कि प्रत्येक प्राणी के हृदय में अनुकम्पा रूपी अमृत सदा छलकता रहना चाहिए। जिसके हृदय में पीड़ा से कराहते हुए व्यक्ति को देखकर भी करुणा का भाव नहीं उमड़ता उसके हृदय में सम्यक्त्व का नामोनिशान भी नहीं पाया जा सकता।

(५) आस्था

यह सम्यक्त्व का पाँचवा लक्षण है। इसका अर्थ है आत्मा, लोक, परलोक आदि पर विश्वास करना तथा वीतराग के वचनों पर श्रद्धा रखना। महाभारत में श्रद्धा का महत्त्व बताते हुए कहा गया है—

अश्रद्धा परमं पापं श्रद्धा पाप प्रमोचनी।
जहाति पापं श्रद्धावान्सर्पो जीर्णमिवत्वचम्॥

आत्मा के लिए अश्रद्धा महान पाप है। श्रद्धा से पापों का नाश होता है। जैसे सर्प जीर्ण केंचुली का परित्याग करता है वैसे ही श्रद्धावान् आत्मा पापों का परित्याग कर देता है।

आत्मोद्धार के लिए भक्ति, ज्ञान, योग, वैराग्य एवं सदाचार आदि जितने भी साधन हैं, उनमें से किसी की भी प्राप्ति श्रद्धा के बिना संभव नहीं है। अतः मुमुक्षु प्राणी को जीवन के प्रति अनासक्त भावना रखते हुए अविचल श्रद्धा के साथ सम्यक्त्व की प्राप्ति के लिए कटिबद्ध होना चाहिए। श्रद्धा के अभाव में मनुष्य कितनी भी उत्तम क्रियाएँ क्यों न करे, निरर्थक चली जाती हैं। यही बात हमारे शास्त्रों में बताई गई है—

जेये बुद्धा महाभागा, वीरा असमत्त दंसिणो।
असुद्धं तेसिं परक्कंतं सफलं होई सव्वसो॥

—सूत्रकृतांग सूत्र

—जिस प्रकार राख पर लीपना व्यर्थ होता है उसी प्रकार शुद्ध श्रद्धा के बिना सभी क्रियाएँ व्यर्थ चली जाती हैं। इसके विपरीत जिस आत्मा ने मुहूर्त भर के लिए भी सम्यग्दर्शन का स्पर्श कर लिया है, वह मोक्षगामी होती है।

धर्म पर दृढ़ आस्था रखने वाला व्यक्ति मृत्यु की भी परवाह नहीं करता। मीराबाई ने अपने भगवान पर विश्वास रखते हुए हलाहल जहर पी लिया था और विषधर नाग को माला के समान कंठ में डाला था। किन्तु उसका बाल भी बाँका नहीं हो सका। महासती सुभद्रा कच्चे धागे से बँधी हुई चलनी के द्वारा कुएँ में से जल निकालने में समर्थ हो सकी, वह कैसे? वीतराग प्ररूपित धर्म में अचल श्रद्धा रखने के कारण ही तो। महात्मा गांधी का कथन है—

"श्रद्धा का अर्थ है आत्म-विश्वास और आत्मविश्वास का अर्थ है ईश्वर पर विश्वास।"

श्रद्धा हृदय की वस्तु है, मस्तिष्क उससे लोहा नहीं ले सकता। अगर वह प्रयत्न करता भी है तो टकराकर चूर-चूर हो जाता है अर्थात् तर्क कभी श्रद्धा पर विजय प्राप्त नहीं कर सकता। कहते हैं कि एक बार दोनों में मुठभेड़ हो गई।

तर्क ने अपनी शक्ति का प्रदर्शन करते हुए श्रद्धा से कहा—

"मेरी शक्ति जानती हो, कितनी है ? मैं शंकर को क्षणमात्र में ही कंकर बनाकर रख सकता हूँ।"

उत्तर में किंचित् मुस्कराकर श्रद्धा बोली—पर मैं तो प्रत्येक कंकर को शंकर बनाने की क्षमता रखती हूँ।

तर्क निरुत्तर हो गया। कोई जवाब नहीं दे सका।

वस्तुतः श्रद्धा में असीम शक्ति होती है। जो व्यक्ति उसमें विश्वास नहीं करता वह नाना प्रकार की कुशंकाओं से घिरा रहता है और उसके मन की अस्थिर अवस्था में मिथ्यात्व उस पर अधिकार जमाने का प्रयत्न करने लगता है। सम्यक्त्व-रूपी धर्म से विहीन उस व्यक्ति की कंगाल आत्मा मिथ्यात्व के साथ ही साथ अन्य अनेकानेक दुर्गुणों से घिर जाती है तथा पराजय और पतन को प्राप्त होती है। मिथ्यात्व श्रद्धा को नष्ट कर देता है, तथा श्रद्धा के अभाव में सम्यक्त्व की कल्पना करना निरर्थक साबित होता है।

श्रद्धाविहीन व्यक्ति सम्यक्दर्शन के अभाव में न सम्यक्ज्ञान ही प्राप्त कर सकता है और न ही सम्यक्चारित्र को अपना सकता है। परिणाम यह होता है कि अनेकानेक वर्षों तक जप-तपादि करके भी वह अपने संचित कर्मों का क्षय नहीं कर पाता। जबकि उतने ही कर्मों को सम्यक्ज्ञानी आत्मा मन, वचन एवं काया की गुप्ति से अन्तमुहूर्त जितने स्वल्पकाल में ही क्षय कर डालता है। इससे स्पष्ट हो जाता है कि अज्ञानी आत्माएँ श्रद्धा के अभाव में शुद्धि के पथ पर ज्ञानी आत्माओं से कितनी पीछे रह जाती हैं।

इसलिए बन्धुओ, अगर आपको अपने सम्यक्त्व की जांच करनी है तो सर्वप्रथम श्रद्धा को हृदय में स्थान देना चाहिए तथा भगवान वीतराग के वचनों पर आस्था रखते हुए आत्म-शुद्धि के मार्ग पर बढ़ना चाहिए।

सम्यक्त्व आत्मा का अमूल्य भूषण है, यह ऐसा रत्न है जो आत्मा से कभी विलग नहीं होता। यदि मनुष्य इस रत्न को प्राप्त कर ले तो उसके समान अनन्त वैभवशाली और कौन हो सकता है ? कहा भी है—

सम्यक्त्व रत्नान्न परमं हि रत्नं।
सम्यक्त्व मित्रान्न परमं हि मित्रं॥

सम्यक्त्व बंधोर्न परो हि बन्धुः ।
सम्यक्त्व लाभान्न परो हि लाभः ॥

—अर्थात् सम्यक्त्व-रत्न से बढ़कर कोई रत्न नहीं, सम्यक्त्व रूपी मित्र से बढ़कर कोई मित्र नहीं। सम्यक्त्व रूपी बन्धु से बढ़कर कोई बन्धु नहीं तथा सम्यक्त्व के लाभ से बढ़कर कोई लाभ नहीं है।

ऐसे सम्यक्त्व को धारण करना मनुष्य का परम लक्ष्य होना चाहिए तथा सम, संवेग, निर्वेद, अनुकम्पा और आस्था इन पाँचों लक्षणों का सही अर्थ समझ कर अपने सम्यक्त्व को दृढ़ बनाना चाहिए। इन पाँचों लक्षणों ये युक्त सम्यक्दर्शन आत्मोत्थान का प्रथम सोपान है जिस पर चरण रखकर मनुष्य सम्यक्ज्ञान और सम्यक्चारित्र की भी सफल साधना कर सकता है, तथा इस दुर्लभ मानव-पर्याय को सार्थक बना सकता है।

आशा है सम्यक्त्व के पाँचों लक्षणों को आपने समझ लिया होगा तथा अपने आप की पहचान कराने में ये आपके सहायक बने होंगे। समय काफी हो चुका है, अतः कल हम देखेंगे कि हममें सम्यक्दृष्टित्व है या नहीं, अथवा कितनी मात्रा में है। अस्तु......! □

4

अपनी पहिचान (द्वितीय खण्ड)

बन्धुओ,

कल भी मैंने आपको यही कहा था कि अपनी पहिचान आप स्वयं ही करें। सम्यक्त्व के लक्षणों को जानें तथा देखें कि उनके अनुसार आप में सम्यक्त्व की मात्रा कितनी है? धर्म का मूल सम्यक्त्व है। अगर मानव एक बार इस अमूल्य-रत्न को प्राप्त करले तो संसार के अन्य समस्त लाभ उसके सन्मुख गौण साबित हो जाते हैं। क्योंकि मानव जन्म, आर्य-कुल, धर्म संयोग एवं सुन्दर स्वास्थ्य आदि संयोगों के मिल जाने पर भी सम्यक्त्व जैसे श्रेष्ठ रत्न की प्राप्ति होना अत्यन्त दुर्लभ है। शुभचन्द्राचार्य ने कहा भी है—

"किमुतविवमेकं दुर्लभं बोधि रत्नम्।"

—अन्य सभी वस्तुएं सरलतापूर्वक प्राप्त हो सकती हैं, परन्तु एकमात्र सम्यक्त्व रूप रत्न ही अत्यन्त कठिनाई से प्राप्त होने योग्य है।

सम्यक्त्व की प्राप्ति हो जाने पर मन में विशुद्धि उत्पन्न हो जाती है और कषायों का नाश होता है। मनुस्मृति में भी कहा गया है—

"सम्यक्दर्शनसंपन्नः कर्मणा न हि बध्यते।"

अर्थात्—जो आत्मा सम्यक्दर्शन वाली होती है, वह कर्मों से लिप्त नहीं हुआ करती है। क्योंकि उसके विचारों में कषाय का पुट और विकारों का मिश्रण नहीं हुआ करता है।

कुछ व्यक्ति कहते हैं कि हमें अन्य धर्मावलम्बियों के द्वारा रचे हुए शास्त्र, जैसे कुरान, बाईबिल आदि नहीं पढ़ने चाहिए। इससे हमारा सम्यक्त्व नष्ट हो जाता है। ऐसा कहने वाले पुरुष बड़े भ्रम में हैं। सम्यक्त्व ऐसा कमजोर नहीं होता जो ऐसी साधारण बातों से ही खत्म हो जाय। जिसकी आत्मा सम्यक्दर्शन को प्राप्त कर लेती है, उसके महत्व को समझ लेती है वह सांसारिक प्रलोभनों के तूफान में पड़कर भी अपने पथ से च्युत नहीं होती, रंचमात्र भी नहीं डिगती। तभी कहा जाता है—

"कोऽप्यन्य एव महिमा ननु शुद्धदृष्टेः।"

—सम्यक्‌दृष्टि की महिमा निश्चय ही कुछ निराली और अवर्णनीय हुआ करती है।

ऐसे व्यक्ति मन्दिर, मस्जिद और गिरजाघरों में जाकर भी तथा गीता, कुरान और बाईबिल पढ़कर भी अपने उच्च विचारों पर अविचल रहते हैं।

सम्यक्‌दृष्टित्व

सम्यक्‌दृष्टि का सीधा और सरल अर्थ है 'जिसकी दृष्टि सीधी हो; जो आत्मा, परमात्मा, लोक और परलोक को मानता हुआ वस्तु-तत्त्व के सही स्वरूप को जानता हो।' सम्यग्‌दृष्टित्व प्राप्त हो जाने के बाद ही मनुष्य में आचरण-भेद भी हो जाता है। यह आचरण-भेद ही आचार कहलाता है। आचार आठ प्रकार का होता है, जिसे दर्शनाचार कहते हैं। जिस प्राणी में दर्शनाचार के ये आठ प्रकार विद्यमान हों वही अपने आपको सम्यक्‌दृष्टि कह सकता है, अन्य नहीं। अतः अब आप स्वयं यह देखिये कि दर्शनाचार के ये आठ आचार आप में हैं या नहीं ? अगर आप में और हम में ये मौजूद हैं तो हम अपने आपको सम्यक्‌दृष्टि कह सकते हैं, अन्यथा अपने आपको सम्यक्‌दृष्टि कहना हमारा केवल दंभ मात्र होगा। हमारे 'उत्तराध्ययन सूत्र' में दर्शनाचार के आठ भेदों के नाम कहे गये हैं—

निस्संकिय-निक्कंखिय-निव्वितिगिच्छा अमूढदिट्ठीय।
उववूह थिरीकरणे, वच्छल्ल-पभावणे अट्ठ॥

—अध्ययन २८, गा० ३१

—निश्शंकता, निःकांक्षता, निर्विचिकित्सा, अमूढ़दृष्टि, उपगूहन, स्थिरीकरण, वात्सल्य एवं प्रभावना।

(१) निश्शंकता

दर्शनाचार का पहला भेद है निश्शंकता, अर्थात् वीतराग प्रभु के वचनों में सन्देह न करना। उनके बताए हुए अहिंसा, सत्य और संयमादि में दृढ़ विश्वास रखते हुए उनका पालन करना।

सम्यक्‌दृष्टि पुरुष हिंसा में विश्वास नहीं रखता। प्रत्येक स्थिति में वह अहिंसा का ही पालन करता है। जिस समय गांधीजी ने भारत को स्वतन्त्र कराने के लिए आन्दोलन प्रारम्भ किया उसकी नींव अहिंसा पर ही रखी तथा स्वतन्त्रता प्राप्ति के साथ ही जब हिन्दुस्तान के बँटवारे की विकट समस्या सामने आई, उसे भी अहिंसा का पूर्ण पालन करते हुए ही सुलझाने का प्रयास किया गया।

किन्तु उन दिनों में, मैं समझती हूँ कि बहुत थोड़े ही व्यक्ति बचे होंगे, जिन्होंने मन, वचन और शरीर से अहिंसा का पालन किया होगा। अधिकांश व्यक्ति मुसलमानों का खात्मा करने में जुट गये और बचे हुए क्रियात्मक रूप से नहीं तो हृदय से ही पृथ्वी को मुस्लिम जाति रहित देखने की कामना करने लगे होंगे। लेकिन ऐसे समय

में भी जिनमें सम्यक्दृष्टि थी, उनके दिलों में हिंसा की भावना नहीं आई। मुसलमानों के द्वारा अत्याचार और भयंकर हिंसाकांड किये जाने पर भी वे पुकार-पुकार कर यही कहते रहे—"इन्हें मारो मत, प्रेम से समझाओ ! यह भी हमारे भाई हैं।"

अहिंसा पर दृढ़-विश्वास रखने वाले उन महापुरुषों ने रक्त-पात और मार-काट रोकने के लिए उस विषम परिस्थिति में भी मनुष्यों को बोध दिया—

चोला इन्सान वाला, समझ नायाब बन्दे !
मिलया है बहुत ओखा, कर ना खराब बन्दे !
हस्ती क्यों भुल्यों अपनी, बन के नवाब बन्दे !
करना पवेगा आगे, जाकर हिसाब बन्दे !
छड दे तूं पाप करना, सिखले इन्साफ बन्दे !
धर्म अहिंसा वाली, पढ़ लै किताब बन्दे !

कितनी सुन्दर चेतावनी है कि "संसार के समस्त प्राणियों से अच्छा मानव-चोला (शरीर) तुझे बड़ी कठिनाई से मिला है, इसे निरर्थक मत कर ! अपना मालिक आप ही बनकर तू अपनी हस्ती क्यों भूला जा रहा है ? आगे जाकर तुझे अपना हिसाब भी तो देना पड़ेगा। अच्छा यही है कि प्राणी-प्राणी सब समान हैं, यह समझ कर तू उनके प्रति न्याय की भावना रखते हुए हिंसा जैसे जघन्य पाप का त्याग कर दे और अहिंसा का पाठ पढ़।"

यह कदापि आवश्यक नहीं है कि हिंसा का उत्तर हिंसा से ही दिया जाय। ईसाइयों के धर्म-प्रवर्तक ईसामसीह का तो कथन है—

"अपने शत्रु से प्रेम करो, अगर वह तुम्हारे बायें गाल पर तमाचा मारे तो उसकी ओर दाहिना गाल भी फेर दो।"

कहने का अभिप्राय यही है कि वैर को प्रेम से जीतने का प्रयत्न करना चाहिए। अगर व्यक्ति अहिंसा की कसौटी पर खरा उतर जाता है तो दूसरे व्यक्ति स्वयं ही उसके पास आकर वैर-भाव भूल जाते हैं।

अहिंसा के समान ही सम्यक्दृष्टि मानव के लिए सत्य का महत्त्व है। दोनों एक दूसरे के पूरक हैं। महात्मा गांधी ने कहा है—

"अहिंसा सत्य का प्राण है, अहिंसा में ही सत्येश्वर के दर्शन करने का सीधा और छोटा-सा मार्ग दिखाई देता है। किन्तु यह मार्ग सीधा है, उतना संकरा भी है ? तलवार की धार पर चलने के समान है। नट लोग जिस रस्सी पर एक निगाह रख कर चल सकते हैं, सत्य और अहिंसा की रस्सी उससे भी पतली है।"

इसीलिए ऋग्वेद में कहा गया है—

"ऋतस्य पन्था न तरन्ति दुष्कृत:"

—सत्य के मार्ग को दुष्कर्मी पार नहीं कर सकते।

सत्य की शक्ति और तेज सत्यवादी के चेहरे से ही जाना जा सकता है, उसका परिचय देने की आवश्यकता नहीं रहती।

कई सौ वर्ष पूर्व अरब में हजरत उमर के प्रताप का चारों ओर बोलबाला था। वे बड़े न्यायशील थे। अरब के निवासी उन्हें मसीहा (देवता) मानते थे।

एक बार वे मक्का की मसजिद में बैठे हुए सबका न्याय कर रहे थे। वादी और प्रतिवादी सभी संतुष्ट होकर जा रहे थे। उसी समय उनके सन्मुख एक नवयुवक लाया गया जिसे दो व्यक्ति पकड़े हुए थे। उमर ने तीनों को ध्यान से देखा और पूछा—"कहो, क्या चाहते हो ?"

जो व्यक्ति नवयुवक को पकड़े हुए थे, बोले—"श्रीमान हमारा न्याय कीजिये। इस युवक ने हमारे पिता की हत्या कर दी है।"

उमर ने युवक से पूछा—"क्या ये सच कह रहे हैं ?"

युवक ने उसी क्षण स्वीकृति देते हुए उत्तर दिया—"हजरत ये सच कह रहे हैं। मैंने सचमुच इनके पिता की हत्या की है।"

अविचलित ढंग से खड़े हुए उस नवयुवक की सत्य बात सुनकर उमर दंग रह गये, किन्तु न्याय के तकाजे को मानकर बोले—"हत्या के अपराधी को मृत्युदंड दिया जाता है। मैं भी तुम्हें हत्या करने के अपराध में मृत्युदंड दे रहा हूँ।

युवक ने मस्तक झुकाते हुए विनम्रतापूर्वक कहा—

"श्रीमान का आदेश आँखों पर है, किन्तु एक मेरी प्रार्थना है। क्या आप उसे स्वीकार करेंगे ?"

कुछ क्षण अपराधी की ओर देखकर हजरत उमर बोले—"कहो।"

"मेरे पिताजी जब मरने लगे थे, तब कुछ सोना छोड़कर गये थे। उनकी यह धरोहर मैंने जमीन में गाड़ रखी है। अगर आप मुझे तीन दिन की छुट्टी दें तो वह सोना मैं अपने भाई को सौंपकर पुनः लौट आऊँ।"

ऐसी असंभव प्रार्थना सुनकर उमर ने सोचा—'यह युवक साधारण नहीं। लगता है यह मनुष्य, सचमुच मनुष्य है। अन्यथा मृत्यु-दंड का अपराधी सहज निर्भीकता पूर्वक ऐसी प्रार्थना नहीं करता।' वे कुछ देर सोचते रहे फिर बोले—"तुम्हारी प्रार्थना स्वीकार है नवयुवक ! किन्तु एक शर्त है।"

"कैसी शर्त श्रीमान् ?"

"तुम्हें किसी की जमानत देनी पड़ेगी।"

युवक चुप हो गया। वहाँ उसका कोई परिचित नहीं था और फिर मृत्युदंड प्राप्त अपराधी की जमानत का प्रश्न था। कौन अपना जीवन खतरे में डालने को तैयार होता ? फिर भी उसने चारों ओर आँखें फैलाईं। दृष्टि एक वृद्ध पुरुष पर पड़ी जो हजरत उमर के समीप ही बैठे थे और जिन्हें वह पहली बार ही देख रहा था।

वक ने उन्हीं की ओर देखकर अपने न्यायाधीश से कहा—"यही महाशय मेरी जमानत करेंगे।"

न्यायाधीश सहित वहाँ उपस्थित समस्त व्यक्ति युवक के दुस्साहस पर चौंक ड़े। उमर ने उन वृद्ध पुरुष से पूछा—"क्या आप इस युवक के जामिन बन रहे हैं?"

वृद्ध व्यक्ति का नाम था, अबूजेहल। जनता के आदरणीय और अत्यन्त प्रतिष्ठित व्यक्ति। हजरत उमर भी उनकी बड़ी प्रतिष्ठा करते थे। बिना कोई प्रश्न किये कुछ क्षण उन्होंने युवक की आँखों में झाँका और शांतिपूर्वक नपे-तुले शब्दों का उच्चारण किया—"मुझे कोई आपत्ति नहीं।"

अबूजेहल से युवक के जामिन बनने के लिए कहे जाने पर लोग जितने चकित हुए थे, उससे भी अधिक चकित अबूजेहल की शान्तिपूर्ण स्वीकारोक्ति पर हुए। वह युवक तीन दिन के लिए छोड़ दिया गया।

धीरे-धीरे तीन दिन समाप्त होने को आए। लोग मसजिद में इकट्ठे होने लगे और अपराधी की प्रतीक्षा की जाने लगी। किन्तु वह दिखाई नहीं दिया। उमर ने अबूजेहल की ओर देखकर कहा—"अपराधी का अब तक पता नहीं है। कहीं ऐसा न हो कि उसके बदले आपको मृत्युदंड देना पड़े।"

श्रद्धास्पद अबूजेहल के मृत्युदण्ड की सम्भावना से लोग अत्यन्त घबरा उठे और व्याकुल हो गये। किन्तु जिन्हें सबसे अधिक भयभीत होना चाहिए था वे अबूजेहल शान्त थे। उनकी आकृति पर भय अथवा व्याकुलता का लेश मात्र भी नहीं था।

दोनों फरियादी आ चुके थे। उन्होंने उमर के समीप पहुँचकर निवेदन किया—"श्रीमान्! अपराधी कहाँ है? उसे बुलवा दीजिए।"

उमर ने चिन्तायुक्त निगाहों से अबूजेहल की ओर देखा।

अबूजेहल ने निश्चिन्ततापूर्वक कहा—"भाई! कुछ देर और रुको। अभी दिन समाप्त नहीं हुआ है। अगर अपराधी न आया तो मेरा सिर तो उपस्थित है ही।"

अबूजेहल की बात सुनकर लोग अत्यधिक चिन्तित हो गये और फरियादियों से प्रार्थना करने लगे, "भाई! अबूजेहल क्षमा कर दो। इसके बदले तुम्हें चाहिए जितना रुपया हम लोगों से ले लो।" किन्तु फरियादी टस से मस भी न हुए बोले—"हमें खून का बदला खून चाहिए।"

दिन समाप्त होने को ही था और इसी प्रकार की बातें चल रही थीं कि दोषी युवक भागता हुआ आ पहुँचा। वह हांफ रहा था और पसीने से लथपथ था। उसने उमर के सामने पहुँचकर नम्रता से प्रणाम किया और कहा—"मुझे क्षमा करें कुछ देर हो गई। फिर भी ईश्वर को धन्यवाद है कि मैं ठीक समय पर आ पहुँचा। मैं पिता की धरोहर भाई को सौंप आया, और उसके जीवन-निर्वाह का प्रबन्ध भी कर आया। मैं अब मरने के लिए तैयार हूँ। मेरे जामिन को मुक्त कर दीजिये।"

यह कहकर युवक अबूजेहल की ओर बढ़ा । उसने उनका हाथ चूमते हुए कहा—"आपसे मेरा स्वप्न में भी परिचय न था किन्तु आप इतने दयालु हैं कि मेरे जामिन बन गये । ईश्वर आपको इस नेकी का फल देगा ।"

वृद्ध अबूजेहल ने लोगों की ओर देखकर धीरे-धीरे कहा—"सचमुच ही इस युवक से मेरा कोई परिचय नहीं था । किन्तु जब इतने मनुष्यों के बीच में इसने मुझ पर विश्वास किया, तो मैं इस पर कैसे अविश्वास कर सकता था ? इसकी आकृति पर मुझे सत्य का निष्कपट तेज झलकता दिखाई दिया था । उसी से मैं जान गया था कि यह अपने वचन का निस्संदेह पालन करेगा ।"

अबूजेहल की श्रेष्ठता और उससे भी अधिक दोषी युवक की सत्यवादिता का फरियादियों पर कुछ ऐसा विचित्र प्रभाव पड़ा कि उन्होंने हजरत उमर से प्रार्थना करके युवक को क्षमा करवा दिया ।

सत्य की महिमा ऐसी होती है । यह सत्य का ही प्रभाव था कि एक पंचेन्द्रिय प्राणी का, श्रेष्ठ मानव का वध होते-होते रुक गया । इससे साबित होता है कि सत्य और अहिंसा एक दूसरे के पूरक और सहायक हैं । इसलिए अपने आपको सम्यक्‌दृष्टि मानने वाले व्यक्ति को भगवान द्वारा निर्णीत किये हुए सत्य और अहिंसा के मार्ग पर अविचल श्रद्धापूर्वक चलना चाहिए । कभी भी, और किसी भी परिस्थिति में उससे हटना नहीं चाहिए ।

(२) निःकांक्षता

यह दर्शनाचार का दूसरा प्रकार है । निःकांक्षता का अर्थ है आकांक्षारहित होना । अपने सत्य और अहिंसामय धर्म पर पूर्ण विश्वास रखते हुए कर्म करना । सुख व दुःख को पूर्वकृत कर्मों का फल समझ कर वर्तमान में किये जाने वाले कर्तव्य एवं पुरुषार्थ से मुँह न मोड़ना । अधीरता के कारण अपने धर्म पर अविश्वास करके अन्य धर्म को सही मानना तथा उसे अपनाने का प्रयत्न करना आचार का दोष है । क्योंकि धर्म किसी भी सम्प्रदाय के व्यक्तियों द्वारा किये जाने वाले बाह्य क्रियाकांडों का नाम नहीं है । वह आत्मा का निजी और स्वाभाविक गुण है । वह कहीं भी बाहर खोजने से प्राप्त नहीं होता, अपने अन्दर ही स्थित रहता है ।

सम्यक्‌दृष्टि प्राणी को कर्तव्य और नियति पर भरोसा होता है वह फल की आकांक्षा नहीं करता । क्योंकि वह जानता है—

"यो यद् वपति बीजं हि लभते सोऽपि तत्फलम् ॥"

—विक्रमचरित्र

—जो जैसा बीज बोता है, वह वैसा ही उसका फल प्राप्त करता है ।

पूर्व में आत्मा ने जैसी-जैसी प्रवृत्तियाँ की हैं, और तदनुसार जैसे-जैसे कर्मों का बन्धन किया है, उनके फल को अनेक प्रकार से भोगना ही पड़ता है यह मानते हुए

सुख और दुःख में समभाव रखना तथा वर्तमान में फल की आकांक्षा किये बिना कार्य-रत रहना ही सम्यक्‌दृष्टित्व है। महामानव गांधीजी ने दृढ़ शब्दों में कहा है—

"फलासक्ति छोड़ो और कर्म करो, आशारहित होकर कर्म करो, निष्काम होकर कर्म करो—यह गीता की ध्वनि है जो भुलायी नहीं जा सकती। जो कर्म छोड़ता है, वह गिरता है। कर्म करते हुए भी जो उसके फल की आकांक्षा का त्याग करता है, वह चढ़ता है।"

वस्तुतः अपने कार्य के फल की आकांक्षा न रखने वाले व्यक्ति शनैः-शनैः अनेक सद्‌गुणों के आगार बन जाते हैं। लोभ, लालच व तृष्णा आदि दुर्गुण उनसे कोसों दूर भागते हैं। वे परिग्रह को जंजाल मानते हैं तथा उससे बचते रहने का प्रयत्न करते हैं। उनके समक्ष केवल कर्तव्य होता है। अपने कर्तव्य का पालन करने से वे कभी नहीं डिगते चाहे लाख संकट ही क्यों न उनके मार्ग को रोकें। इतिहास-प्रसिद्ध पन्ना धाय ऐसी ही एक कर्तव्य-परायणा नारी थी।

मेवाड़ के महाराणा संग्रामसिंह के स्वर्गवास के पश्चात् उनके पुत्र विक्रमाजीत को सिंहासन मिला। किन्तु वह राज्य-भार के अयोग्य था अतः मेवाड़ के हितचिन्तक सरदारों ने दूसरे राजकुमार उदयसिंह के बालिग होने तक दासी-पुत्र बनवीर को सिंहासन पर बैठा दिया।

पर सिंहासन पर बैठते ही बनवीर की तृष्णा सर्वोच्च शिखर पर पहुँच गई। सदा के लिए राज्य को अपना बनाने के लिए प्रथम तो उसने विक्रमाजीत को मार डाला और फिर नन्हें राजकुमार उदयसिंह को भी कत्ल करने के लिए एक दिन वह पन्ना धाय के कमरे में जा पहुँचा, जो उदयसिंह का लालन-पालन करती थी। बनवीर ने आते ही कड़क कर उससे पूछा—"उदयसिंह कहाँ है?"

बनवीर के हाथ में नंगी तलवार देखकर पन्ना काँप गई। उदयसिंह और उसका अपना पुत्र जो समवयस्क थे उसी कमरे में सो रहे थे। वह विचार में पड़ गई कि अब क्या करूँ? एक ओर स्वामिभक्ति थी और दूसरी ओर पुत्र-मोह। एक ओर कर्तव्य था तथा दूसरी ओर ममत्व। एक का बलिदान करना अनिवार्य था। कर्तव्य ने विजय प्राप्त की तथा पन्ना धाय ने हृदय कठोर कर रुँधे हुए गले से तथा काँपती हुई अँगुली से अपने पुत्र की शय्या की ओर इशारा कर दिया।

निर्दयी बनवीर झपटा और तलवार के एक ही वार से बच्चे का काम तमाम कर हर्षोन्मत्त होता हुआ चल दिया। पन्ना धाय ने अपने पुत्र का बलिदान देकर मेवाड़ के राजवंश के टिमटिमाते हुए अन्तिम दीपक को बचा लिया। परिणामस्वरूप उसकी कर्तव्यपरायणता इतिहास में स्वर्णाक्षरों से अंकित हो गई।

अगर पन्ना धाय अपने पुत्र के द्वारा भविष्य में प्राप्त होने वाले सुख की आकांक्षा रखती और पुत्र की मृत्यु से होने वाले दारुण दुःख से बचने का प्रयत्न करती तो निश्चय ही अपने पुत्र को जीवित रख सकती थी किन्तु उसने सुख और दुख रूपी

फल का त्याग करके केवल मात्र अपने कर्तव्य को सामने रखा और उसका ही पालन किया।

दर्शनाचार का दूसरा प्रकार मनुष्य को यही सिखाता है कि आकांक्षारहित होकर आत्मा जिस कर्तव्य की गवाही दे उसे धर्म समझकर करना। उसे यह नहीं भूलना चाहिए कि मन विचलित हो सकता है, वह अकरणीय को करणीय मान सकता है किन्तु आत्मा ऐसा नहीं कर सकती, उसकी प्रेरणा अधर्म की ओर नहीं होती। उसके निज गुण अहिंसा, सत्य, संयम आदि हैं जो सदा उसे ऊँचा उठाने के प्रयत्न में रहते हैं तथा जिनका दूसरा नाम धर्म है।

किन्तु जो मानव आत्मा की पुकार की अवहेलना करके भौतिक वैभव से आकृष्ट होकर सत्य संकल्प से परांगमुख हो जाता है, उसे साधना का मार्ग नहीं सूझता। सांसारिक प्रलोभन उसकी आत्मा पर छा जाते हैं, तथा उसकी मानस भूमि पर बलात् आधिपत्य स्थापित कर लेते हैं। अज्ञानी प्राणी मोह, माया और ममता के बन्धनों में आवद्ध होकर आत्म-धर्म से च्युत हो जाता है। ऐसा व्यक्ति गृहत्यागी या तपस्वी भी हो जाय तो उसकी साधना का लक्ष्य भौतिक वैभव या स्वर्गादि के पारलौकिक सुख होते हैं। हमारे दर्शन में इसी को कांक्षा कहा गया है।

सम्यग्दृष्टि में इस प्रकार की कांक्षा नहीं होती। उसे आत्म-स्वरूप की सम्प्राप्ति के सिवाय सब कुछ निस्सार और हेय प्रतीत होता है।

(३) निर्विचिकित्सा

बहुत से व्यक्ति साधना में प्रवृत्त हो जाते हैं, किन्तु उसके फल में सन्देहशील बने रहते हैं। शंका का काँटा सदैव उनके हृदय में चुभा रहता है। इसके परिणामस्वरूप उनकी साधना कभी सफलता प्राप्त नहीं कर पाती। वे सदा यही विचारा करते हैं—"मैं जो धर्मक्रियाएँ कर रहा हूँ, इनका फल मिलेगा या नहीं।" "मेरे यह अनुष्ठान सार्थक होंगे या निरर्थक जाएँगे।" इस प्रकार की आशंकाएँ विचिकित्सा कहलाती हैं तथा व्यक्ति के मन को निर्बल बना देती हैं। एक पाश्चात्य विद्वान ने तो यहाँ तक कहा है—

'Doubt is hell in the human soul.' —गैस्प्रेन

—शंका मानव आत्मा में नरक के समान है।

इसलिए सम्यक्दृष्टि प्राणी अपनी क्रियाओं के फल में सन्देह नहीं करता अर्थात् निर्विचिकित्सा को समीप भी नहीं फटकने देता। उसे प्रतीति होती है कि क्रिया और फल का अविनाभाव सम्बन्ध है। क्रिया की जाएगी तो उसकी फल-प्राप्ति अवश्यम्भावी है। साधना अगर सबल होगी, तो अभिलाषा न होने पर भी उसका फल अवश्य मिलेगा।

निर्विचिकित्सा का दूसरा अर्थ है, संयमपरायण मुनियों के शरीर या वेष को देखकर ग्लानि न करना। सच्चा साधु देहाध्यास से रहित होता है अतः शारीरिक

परिकर्म में भी उत्साह नहीं रखता। देह में रहकर भी वह उससे पृथक सा रहता है। देह के प्रति ममत्वहीनता रहने के कारण उनके शरीर अथवा वस्त्रादि में मलिनता दृष्टिगोचर हो सकती है, किन्तु उसकी ओर लक्ष्य न देना तथा अरुचि प्रकट न करना निर्विचिकित्सा है। वास्तव में, जो सच्चे साधु हैं वे शरीर-वस्त्रादि की शुद्धि की अपेक्षा आत्मा की शुद्धि पर ही ध्यान देते हैं। आचार्य शुभचन्द्र का कथन है—

"तपश्चरति शुद्धात्मा श्रमणोऽसौ प्रकीर्तितः।"

—जो व्यक्ति कषायों से अपनी आत्मा को पवित्र करता हुआ तपश्चर्या करता है, उसे ही श्रमण कहा जाता है।

कहने का अभिप्राय यही है कि अध्यात्मजगत् में पौद्‌गलिक सौन्दर्य के लिए कोई स्थान नहीं है, और शारीरिक सौन्दर्य की तो कल्पना ही नहीं की जा सकती। पल-पल में पलटने वाले शरीर को मात्र धर्म-साधना का अनिवार्य उपकरण समझकर ही साधु उसका संरक्षण करते हैं, उसकी सजावट में समय नष्ट कर अपनी मंजिल को प्राप्त करने में रुकावट नहीं बनने देते। इसी भाव को लेकर किसी ने कितनी सुन्दर चेतावनी दी है—

बेशक ले सोच तेरा, यह चेहरा गुलाब सा,
बाशान से बन जाएगा बेशान परदेशी.......
है वक्त तो थोड़ा, बहुत मुश्किल हैं मंजिलें,
बस इसलिए चलने में, लगा ध्यान परदेशी।

मानव-देह में स्थित आत्मा उसके लिए परदेशी के समान ही है। इसमें निवास करते हुए उसे प्रतिक्षण भय होना चाहिए कि शरीर पल-पल में विनाश की ओर जा रहा है और इसके नष्ट होने से पूर्व जो थोड़ा सा वक्त उसके पास है, उसमें ही साधना की मंजिल पूर्ण करनी है। अतः बाह्य सौन्दर्य को आकर्षक बनाने की अपेक्षा आत्मा की अलौकिक आभा को बढ़ाने का ही प्रयत्न करते हुए अविराम गति से साधना-पथ पर चलना चाहिए। आचार्य समन्तभद्र ने कहा भी है—

स्वभावतोऽशुचौ काये, रत्नत्रय पवित्रिते।
निर्जुगुप्सा गुणप्रीतिर्मता निर्विचिकित्सता॥

—रत्नकरण्ड श्रावकाचार

—शरीर तो स्वभाव से अपवित्र है, उसकी पवित्रता रत्नत्रय से है। अतएव शरीर की ओर लक्ष्य न देकर, गुणी के शरीर से घृणा न कर उसके गुणों से प्रेम करना निर्विचिकित्सा है।

सम्यक्त्वी की दृष्टि ऐसी ही होती है। उसका लक्ष्य किसी भी प्राणी से घृणा न करते हुए उसके गुणों को ग्रहण करना, दूसरे शब्दों में सद्‌गुणोपासना होता है।

(४) अमूढ़दृष्टि

अमूढ़दृष्टित्व दर्शनाचार का चौथा प्रकार है। अज्ञान, भ्रम, संशय तथा

प्रमाद आदि दुर्गुणों का ही दूसरा नाम मूढ़ता है। जब तक मनुष्य की दृष्टि में सम्यक्त्व नहीं आता, तब तक इस मूढ़ता से, अर्थात् इन दुर्गुणों से उसका पिण्ड नहीं छूटता। सम्यक्दृष्टि में मूढ़वृत्ति नहीं होती। उसका हेय-उपादेय विषयक ज्ञान सदा जाग्रत रहता है। वह प्रत्येक काम को विवेक के नेत्रों से तौलता है। उसका निर्णय और व्यवहार सही दिशा में झुकता है, गलत मार्ग पर नहीं जाता।

आज के युग में, मानव के मन में भाँति-भाँति के इतने वहम घुसे हुए हैं कि उनकी गणना करना भी सम्भव नहीं है तथापि जैन ग्रन्थों में उन्हें देवमूढ़ता, लोक मूढ़ता एवं समयमूढ़ता के नाम से बताया गया है।

क्रोध, मान, माया, लोभ एवं मोह आदि आत्मिक विकारों के विजेता और ज्ञान, दर्शन आदि आत्मिक गुणों से सम्पन्न परम-आत्मा ही सच्चे देव हैं; किन्तु इस सत्य को न समझ कर अन्य अनेक विकारों से युक्त देवों को अपना आराध्य मानना देवमूढ़ता है। जो प्राणी ऐसी मूढ़ता का त्याग नहीं करता वह कभी भी सम्यक्-दृष्टि नहीं कहला सकता।

अन्धविश्वास मनुष्य के मस्तिष्क को विकृत कर देते हैं। इनमें फँसकर मनुष्य इतस्ततः भटकता-फिरता है किन्तु आत्म-शुद्धि का मार्ग नहीं खोज पाता। कभी वह प्रचण्ड ग्रीष्म में तपी हुई बालू-रेत पर आतापना लेता है, कभी हाथ-पैर जड़ कर देने वाली भयंकर शीत में किसी जलाशय के तट पर समाधि में मग्न हो जाता है, कभी मूसलाधार वर्षा में खुले आकाश के नीचे ध्यान धर कर खड़ा होता है और नहीं तो शीघ्र ही ब्रह्म-लोक की प्राप्ति के लिये काशी में करवत लेने चला जाता है।

किन्तु इस घोर कायाक्लेश के बावजूद भी वह आत्मा का लेशमात्र भी उत्थान नहीं कर पाता। घोर तपस्या के फलस्वरूप अगर स्वर्ग मिल भी गया तो उससे क्या लाभ हो सकता है? सिद्धि के पथ पर तो वह एक चरण भी नहीं रख पाता। स्वर्ग का वैभव कुछ काल भोगने के पश्चात् पुनः उसे नाना प्रकार की निकृष्ट योनियों में जन्म लेना पड़ता है। यह सब लोकमूढ़ता के कारण ही होता है। आचार्य समन्तभद्र ने भी लोकमूढ़ता की व्याख्या की है:—

आपगासागरस्नानमुच्चयः सिकताश्मनाम्।
गिरिपातोऽग्निपातश्च, लोकमूढं निगद्यते॥

—रत्नकरण्ड श्रावकाचार

—सागर में स्नान करने से, बालू-रेत में आतापना लेने से, ऊँचे पर्वत से गिरकर मरने से अथवा अग्नि में जल कर प्राण विसर्जन करने से आत्मा की शुद्धि मानना लोकमूढ़ता है।

ऐसी मूढ़ताओं का शिकार बन जाने से मनुष्य अपने सहज विवेक को तिलाञ्जलि दे देता है तथा अपनी चिन्तन-शक्ति को नष्ट कर बैठता है। परिणाम यह होता है कि उसे अनन्त काल तक जन्म-मरण के चक्र में उलझे रहना पड़ता है। किन्तु

सम्यग्दृष्टि में इस प्रकार की मूढ़ता नहीं होती। वह अपनी आत्मा के लिये जो उचित और श्रेयस्कर मानता है, वही करता है।

तीसरी समयमूढ़ता कहलाती है। अपने धर्म और धर्मग्रन्थों के विषय में विपरीतता और भ्रांति रखना समयमूढ़ता है। समयमूढ़ व्यक्ति धर्म सम्बन्धी वास्तविकता का कभी निर्णय नहीं कर पाता और न ही शास्त्रोक्त बातों पर श्रद्धा रखता है। उनकी सत्यता पर उसे सदा सन्देह और अविश्वास बना रहता है। फलस्वरूप आत्मोन्नति का सही मार्ग उसे नहीं मिल पाता और दुर्लभ मानव-पर्याय उसके लिये निरर्थक हो जाती है।

(५) उपगूहन

उपगूहन अर्थात् अपने गुणों को गुह्य रखना और दूसरों के सद्गुणों की सराहना व प्रशंसा करना। यह पाँचवाँ दर्शनाचार है। किन्तु होता इसके विपरीत ही है। आज का मनुष्य अपने आपको गुणों का आगार मानता है और चाहता है कि अन्य भी वैसा ही समझें। अगर वह पांच रुपये भी दान में देता है तो दान-दाताओं की सूची में अपना नाम देखना चाहता है। ऐसी भावना रखने वाले सम्यग्दृष्टि नहीं माने जा सकते। सम्यक्दृष्टि बनने के लिये 'नेकी कर और कुंए में डाल', यह कहावत चरितार्थ करनी होती है।

कहा जाता है कि कलकत्ते में लक्ष्मी नारायणजी मुरोदिया बड़े सरल और उदार व्यापारी थे। एक बार उनके समाज में दो भाइयों में बँटवारा हुआ; किन्तु एक कीमती अँगूठी के लिये दोनों में झगड़ा हो गया और मार-पीट की नौबत आ गई।

धीरे-धीरे यह झगड़ा समाज के प्रमुख होने के नाते मुरोदियाजी के पास पहुंचा। उन्होंने दोनों भाइयों को समझाया किन्तु कोई नतीजा न निकला।

तब सोच-विचार कर मुरोदियाजी ने चुपचाप वैसी ही सुन्दर और मूल्यवान अँगूठी बनवाई तथा उस भाई के पास जाकर बोले, जिसके पास अँगूठी थी—

"देखो, मैं तुम्हारे भाई को समझा दूंगा, किन्तु एक शर्त है कि अँगूठी तुम अपनी तिजोरी में ही रखना कभी निकालना नहीं, क्योंकि तुम्हारे हाथ में अँगूठी देखकर उसे पुनः झगड़े की याद आ जाएगी।"

उसके बाद वे दूसरे भाई के पास गये और अपनी बनवाई हुई अंगूठी उसे देते हुए बोले—"देखो, यह अँगूठी मैंने तुम्हारे भाई से दिलवा तो दी है, किन्तु तुम इसे कभी भी पहनना मत! अन्यथा तुम्हारा बड़ा भाई अपनी पराजय को मानकर दुखी होगा।"

दोनों भाइयों ने अँगूठियाँ लेकर अपनी तिजोरियों में रख दीं और कलह शांत हो गया।

किन्तु कई वर्ष बाद जब यह रहस्य खुला तो दोनों भाई बड़े चकित और

शर्मिन्दा हुए तथा मुरोदियाजी के पास अँगूठी लौटाने के लिये आए। पर मुरोदिया जी ने केवल इतना ही कहकर अँगूठी नहीं ली—"मैं तुमसे बड़ा हूँ अतः छोटों को उपहार देने का मुझे अधिकार है।'"

आज कितने व्यक्ति ऐसे मिल सकते हैं ? दो रुपये का दान करके अथवा एक दिन उपवास रखकर भी जब तक वह जाहिर न हो जाय चैन नहीं ले पाते। यह सम्यक्‌दृष्टित्व का लक्षण नहीं है। जिसकी दृष्टि सम्यक् होती है वह अपने किसी भी गुण का विज्ञापन नहीं करता वरन् अन्य लोगों में जो भी गुण हों, उन्हें प्राप्त करने की कोशिश करता है। वह अपनी आत्मा की अनन्तशक्ति में विश्वास रखते हुए उसे उत्तरोत्तर उन्नत बनाने में प्रयत्नशील रहता है, अन्य व्यक्तियों द्वारा प्रशंसा प्राप्त करने की कामना नहीं करता।

(६) स्थिरीकरण

इसका अर्थ है, दुर्जन, पथभ्रष्ट और मिथ्यादृष्टि प्राणियों को सन्मार्ग पर स्थित करना। जो व्यक्ति अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह से विमुख हो जाते हैं, उन्हें उद्‌बोधन देकर पुनः स्थिर करना। इसके लिये प्रथम तो यह आवश्यक है कि मनुष्य स्वयं अविचलित भाव से इनका पालन करे और धर्म के इन अंगों पर दृढ़ आस्था रखे।

आज के नवयुवक भिन्न-भिन्न मत-मतान्तरों को जानकर तथा पूजा-पाठ आदि विभिन्न प्रकार की बाह्य क्रियाओं का आडम्बर देखकर अपने सत्य अहिंसामय धर्म पर भी विश्वास नहीं करते तथा सांसारिक सुखों के भोग को ही जीवन का लक्ष्य मानकर उसकी प्राप्ति में लगे रहते हैं।

यह कितनी बड़ी अज्ञानता है। ठीक उसी प्रकार जिस प्रकार सड़क पर एक निर्बल व्यक्ति को ठोकर खाकर गिरते हुए देखकर देखने वाला स्वयं भी गिर पड़े। ऐसे व्यक्ति को आप महामूर्ख कहेंगे किन्तु धर्म से गिरते हुए व्यक्ति को देखकर स्वयं भी धर्म से छुट्टी पा लेना क्या मूर्खता नहीं है ? इससे बढ़कर और क्या मूर्खता हो सकती है ?

सम्यक्‌दृष्टि पुरुष ऐसी मूर्खता नहीं करता। वह स्वयं धर्म-मार्ग पर पूर्ण विश्वास सहित चलता है तथा आत्म-सिद्धि के राज पथ से भ्रष्ट हुए प्राणियों को मार्ग दर्शन कराता हुआ साथ ले चलने का प्रयास करता है। केशी स्वामी ने खून की नदी बहाने वाले राजा प्रदेशी को अपने सम्यक्‌दृष्टित्व की दृढ़ शक्ति के बल पर ही सन्मार्ग सुझाया था।

(७) वात्सल्य

वात्सल्य का अर्थ आप सब भली-भाँति जानते ही हैं। समान धर्म वालों के प्रति तो मनुष्य का स्वाभाविक स्नेह रहता ही है किन्तु सम्यक्‌दृष्टि को अपने स्नेह का दायरा सम्पूर्ण सृष्टि बनाना चाहिये। केवल मनुष्य ही नहीं, पशु-पक्षी आदि

समस्त जीवों के प्रति उसका वात्सल्य भाव एकसा रहना चाहिये। अपने परिवार, कुटुम्ब, जाति और समाज के प्रति तो मानव का प्रेम होता ही है किन्तु उनके प्रति प्रेम के कारण वह अन्य जाति और धर्म से द्वेष रखे तथा धर्म के कारण उनसे लड़ मरे, खून की नदियां बहाने को तैयार हो जाय, यह सम्यक्दृष्टि का लक्षण नहीं है। उसका तो प्राणीमात्र पर समान भाव होना चाहिये चाहे वह किसी भी जाति और धर्म का क्यों न हो। संसार में ऐसे महापुरुषों की भी कमी नहीं है जो साधारण रूप-रंग और फटे कपड़ों से अपनी देह को छिपाए रहने पर भी उसमें एक महान् हृदय रखते हैं।

मारवाड़ के प्रसिद्ध वीर दुर्गादास राठौड़ को देखकर आगरा के बादशाह की बेगम गुलनार उस पर आसक्त हो गई और उसने दुर्गादास के पास एक सन्देश भेजा जिसमें गुप्त रूप से मिलने के लिये लिखा था। किन्तु वीरावर राठौड़ ने कहलवा दिया— "मैं परस्त्री से एकान्त में नहीं मिल सकता। हिन्दू धर्म के अनुसार यह पाप है।"

यह उत्तर पाकर गुलनार क्रोधित हो गई। उसने बादशाह से झूठी शिकायतें करके दुर्गादास को पकड़वा लिया तथा लोहे के एक पिंजरे में बन्द करवा दिया। पिंजरे के पास एक मुसलमान पहरेदार नियुक्त किया गया। रात को बेगम गुलनार साधारण वस्त्रों में पिंजरे के पास पहुँच कर दुर्गादास से बोली—"अब भी समय है, तुम मेरी बात स्वीकार कर लो अन्यथा कल कुत्ते की मौत मारे जाओगे। तुम्हारा जीवन और मरण पूर्णरूप से मेरे हाथों में है।"

वीर दुर्गादास के मन में विकार का लेशमात्र भी उदय न हुआ। उसने गम्भीरतापूर्वक उत्तर दिया—"बहिन गुलनार! हिन्दू धर्मानुसार अपनी पत्नी के अलावा अन्य सब स्त्रियां मेरे लिये बहिन के समान हैं। मैं धर्म-विरुद्ध कार्य नहीं करूंगा, क्योंकि मैं हिन्दू हूं।"

"अच्छी बात है, अपने धर्म का फल कल प्राप्त कर लेना!" कहती हुई गुलनार बिफरी हुई शेरनी के समान क्रोधित होकर पिंजरे पर थूकती हुई चली गई।

मुसलमान संतरी आड़ में छिपा हुआ दोनों की बातचीत सुन रहा था। वह दुर्गादास को कैद करने का रहस्य समझ गया। उसने उसी समय पिंजरे का दरवाजा खोला और दुर्गादास को एक घोड़ा देकर कहा—

"वीरवर! आप हिन्दू हैं तो मैं भी सच्चा मुसलमान हूं। किसी भी बेगुनाह को सजा पाते हुए देखना भी इस्लाम की दृष्टि में पाप है। मैंने आपकी और बेगम साहब की बातचीत सुनी है और जान गया हूं कि आप बेगुनाह हैं। इसलिये मैं आपको कैद से छुटकारा देता हूं, आप तुरन्त खुशी से अपने देश लौट जाइये।"

सेनापति दुर्गादास ने उस साधारण सिपाही को अपने गले से लगाया और कहा—"तुम सच्चे मुसलमान हो भाई! मैं हृदय से तुम्हारी इज्जत करता हूं।

भविष्य में कभी भी किसी प्रकार की आवश्यकता हो, मुझसे मिलना।" कहते हुए उन्होंने घोड़े को एड़ लगाई और वहाँ से चल दिये।

बंधुओ, आपने समझ लिया होगा कि उस संतरी के समान एक मुसलमान व्यक्ति भी अगर मत-मतान्तर की परवाह न करते हुए सत्यवादी और बेगुनाह प्राणी को स्नेह की दृष्टि से देखता है, उसकी रक्षा करता है तो वह सम्यक्दृष्टि है, और जैन कहलाने वाला व्यक्ति अगर इसके विपरीत विचार रखता है तो वह सम्यक् दृष्टित्व रहित है। सम्यक्त्व पर जैनियों का ठेका नहीं है। वह किसी भी धर्म के, और किसी भी सम्प्रदाय के व्यक्ति में पाया जा सकता है। सम्यक्दृष्टि का धर्म जन-कल्याण में अपार आनन्द का अनुभव करना होता है। हृदय की संकीर्णता में वह नहीं टिकता।

(८) प्रभावना

दर्शनाचार का आठवाँ और अंतिम लक्षण प्रभावना है। इसका अर्थ है अपने धर्म के सिद्धान्तों का पालन करते हुए उसका प्रचार करना।

हमारा भारत धर्मप्रधान देश माना जाता है। किन्तु इसके भी अनेक भाग ऐसे हैं जहाँ के व्यक्ति यह नहीं जानते कि धर्म किस चिड़िया का नाम है। धर्म क्या है, उसके सिद्धान्त कौन-कौन से हैं और धर्मगुरु कैसे होते हैं, इसकी कल्पना भी वे नहीं कर पाते। हिंसा उनके लिये नैसर्गिक क्रिया है और उनकी उदरपूर्ति अधिकांश में उसी पर, अर्थात् मांस-भक्षण पर निर्भर होती है।

कुछ संस्मरण

अपने कश्मीर भ्रमण के समय मैंने उधर के अनेक छोटे-बड़े गाँवों को देखा, जहाँ के व्यक्ति प्रथम तो हमें देखकर चकित होते थे किन्तु हमारे परिचय के साथ ही धर्म-कर्म का और उसके सत्य-अहिंसा आदि सिद्धान्तों का संक्षिप्त परिचय पाकर ही अपने आपको धन्य मानते थे। मुझे महान आश्चर्य तो तब होता था जबकि जन्म-काल से ही मांस-भक्षण और मदिरा-पान की आदत होने पर भी अनेक व्यक्ति इन दोनों का अपूर्व दृढ़ता और श्रद्धा सहित त्याग कर देते थे। उन सरल आत्माओं के बीच में पहुँचना तो सरल होता था, किन्तु वहाँ से आगे बढ़ना हमारे लिए दुष्कर हो जाता था। उनका निष्कपट स्नेह और आन्तरिक आग्रह हमारे कठोर मन को भी निर्बल बना देता था। अत्यन्त दीनतापूर्वक नाना प्रकार के शब्दों में वे यही कहते—"आपके रूप में हमें साक्षात भगवान के दर्शन हुए हैं। अब आप ही बताइये हम आपको कैसे जाने दें?"

वास्तव में ही, अनार्य कहे जाने वाले उस प्रदेश में हमसे पूर्व किसी भी जैन-साध्वी ने वहाँ जाने का साहस नहीं किया था। किन्तु हिम्मत करके हमारा उधर कदम बढ़ाना किसी भी प्रकार के भय का अथवा निराशा का कारण नहीं बना। उलटे हमें असीम प्रसन्नता हुई यह देखकर कि धर्म के नाम से, युगों के भूखे उन

व्यक्तियों ने थोड़े समय में, हमारी थोड़ी सी बोध की बातों को ही अमृत की बूंदों के समान आदर दिया और प्रगाढ़ श्रद्धा के साथ ग्रहण किया। केवल हिन्दू ही नहीं उधर के मुसलमान भाई भी ठीक हिन्दुओं के समान ही जिज्ञासा रखते और प्रवचनों में भाग लेते थे।

वेरीनाग से अनन्तनाग की ओर जाते समय मुसलमानों का एक गाँव 'लार्कपुर' आया। जहाँ ठहरने का हमारा प्रोग्राम नहीं था। किन्तु सड़क के किनारे पर ही स्कूल था अतः वहाँ के हैडमास्टर अजीज खाँ ने हमें देखा और हमारे पास आकर वहाँ रुकने का आग्रह किया। गाँव के समस्त मुसलमान स्त्री पुरुषों की श्रद्धा-भावना इतनी प्रबल रही कि बिना प्रोग्राम के भी हमें वहाँ दो दिन रुकना पड़ा। दोनों वक्त प्रवचन होता था। वहाँ के लोगों ने प्रवचनों का उसी समय अंग्रेजी एवं काश्मीरी भाषा में अनुवाद कर लिया। कई मुसलमानों ने मांस व मदिरा का त्याग भी कर दिया।

जम्मू से रवाना होते समय हमें बताया गया था कि उधर के मुसलमान बड़े खतरनाक होते हैं। किन्तु हम तो केवल 'लार्कपुर' ही नहीं वरन् अन्य-अन्य स्थानों के मुसलमानों का भी अनुपम प्रेम देखकर दंग रह गये। संक्षेप में, अगर मैं यह भी कह दूं तो अनुचित नहीं होगा कि वर्षों तक आप लोगों के बीच में विचरण करने पर भी जो आनन्द नहीं मिला, वह कश्मीर भ्रमण के कुछ महीनों में ही प्राप्त हो गया।

एक मेधावी बालक

कश्मीर से लौटते समय जब हम 'ऊधमपुर' से 'जम्मू' आ रहे थे, एक ऐसा होनहार बालक हमें मिला, जिसका स्मरण मुझे प्रायः बना रहता है। दूर किसी पर्वत पर से उसने हमें देखा तो लगभग भागता हुआ हमारे पास आ पहुँचा। वह केवल दस और बारह वर्ष के बीच की उम्र का था। आते ही उसने आपाद-मस्तक देखते हुए हमसे पूछा—"आप कौन हैं? और क्या करते हैं?"

मैंने सहज ही उत्तर दिया—"हम जैन साध्वी हैं और धर्म का प्रचार करती हैं।"

"ओह, तब आप अवश्य ही मेरे प्रश्नों का उत्तर दे सकती हैं।"

"क्या प्रश्न हैं तुम्हारे?" मुझे उस छोटे से बालक की जिज्ञासा को देखकर आश्चर्य हुआ।

वह बोला—"कृपा करके मुझे यह बताइये कि हमें भगवान ने क्यों पैदा किया है? वह हमसे क्या चाहता है? मनुष्य का शरीर पाकर हमें कौन-कौन से अच्छे कार्य करने चाहिए?"

उस दस-बारह वर्ष के बच्चे के ऐसे विशिष्ट सूझ-बूझ भरे प्रश्न सुनकर मुझे आश्चर्य और प्रसन्नता हुई। पर दो-चार वाक्यों में उनके उत्तर नहीं दिये जा

सकते थे अतः मैंने उससे अपने साथ-साथ कुछ दूर चलने के लिए कहा। वह सहर्ष चल पड़ा और लगभग छः मील तक हमारे साथ चला। इस बीच मैंने उसे गृहस्थ धर्म और साधुधर्म के नियम विस्तार-पूर्वक बताए। वह एकाग्रचित्त से सुनता गया। अन्त में जब वह लौटने को हुआ तो मैंने अचानक ही उससे पूछा—

"तुम्हें मेरी बातें समझ में आईं ? और कुछ याद हुईं क्या ?"

हाँ, हाँ, क्यों नहीं, आप सुन लीजिये ! कहकर उस होनहार बच्चे ने पन्द्रह-बीस मिनिट में वे सभी नियम क्रमशः एक-एक करके सुना दिये। मैं उसकी प्रखर बुद्धि को देखकर दंग रह गई।

अन्त में उसने मांस-मदिरा का जीवन पर्यन्त के लिए त्याग किया और बोला—"मैं घर जाकर सारी बातें लिखूंगा तथा अपने माता-पिता और गांव वालों को भी ये सब बातें बताऊँगा एवं उन्हें त्याग-पथ पर चलने की प्रेरणा दूंगा।" कहकर उस बच्चे ने प्रणाम किया और आँखों में आँसू भरकर रवाना हुआ।

काश, ऐसे बालक हम जैन कहलाने वालों में भी होते ! हमारे बालकों को तो क्या, नवयुवकों को देखकर भी बड़ा अफसोस होता है कि उन्हें धर्म के नाम से ही झुंझलाहट होती है। न उसे समझने की वे जिज्ञासा रखते हैं और न ही उसके अनुसार चलने की इच्छा। सोचती हूँ, आप जैसे विचारकों और धर्मात्माओं के बीच में रहने पर भी इन धर्म के नाम से कोरे रहने वाले युवकों की अपेक्षा क्या वह किसी जंगली माता-पिता का जिज्ञासु बालक उत्तम नहीं था ? कितनी लालसा थी उसमें, मनुष्य जन्म को सार्थक करने वाली बातों को जानने की। जिज्ञासा तीव्र बुद्धि का एक स्थायी और निजी गुण होता है तथा उसके कारण ही सत्य की तह तक पहुँचा जा सकता है। महात्मा कबीर ने कहा है—

जिन ढूंढ़ा तिन पाइयाँ, गहरे पानी पैठ।
मैं बपुरा बूड़न डरा, रहा किनारे बैठ॥

हाँ, तो मैं दर्शनाचार के आठ भेद आपको बता चुकी हूँ। इनके आधार पर आप अपने आपको पहचानिये कि आप सम्यक्दृष्टि हैं या नहीं ? अगर आपके जीवन में ये हैं तो कोई भी आपको मिथ्यादृष्टि नहीं कह सकता, और नहीं हैं तो आपका अपने आपको सम्यक्दृष्टि मानना केवल दंभ है।

सम्यक्त्व की प्राप्ति हो जाना आत्मा के लिए उत्तम से उत्तम लाभ है। सम्यक्त्व मोक्ष-प्राप्ति का अधिकार पत्र है। कहा भी है—

'सम्यक्त्वेन हि युक्तस्य ध्रुवं निर्वाणसंगमः।'

—जो वास्तव में सम्यक्त्व से युक्त है, उसको निश्चय ही मोक्ष की प्राप्ति होगी।

अतएव सम्यक्त्व की प्राप्ति, उसकी सुरक्षा और सुरक्षा के साथ ही उसे उज्ज्वलतर बनाने के लिए मनुष्य को सम्यक् दर्शनाचारों को जीवन में उतारना

चाहिए। सम्यक्दर्शन साधना का मूल आधार है। इससे सम्पन्न व्यक्ति ही यथार्थ द्रष्टा बनता है और उसमें सत्य की ज्योति जाग उठती है।

हमारे जैनधर्म का दृढ़ कथन है कि सृष्टि का प्रत्येक जीवात्मा अपने शुद्ध स्वरूप की दृष्टि से सिद्ध-बुद्ध-परमात्म-स्वरूप है। प्रत्येक आत्मा में अनन्त ज्ञान-दर्शन की प्रखर ज्योति विद्यमान है। किन्तु उसकी सहज शक्तियाँ कर्मावरणों से आच्छादित हो रही हैं।

उन आवरणों में सबसे प्रबल मिथ्यात्व है, मिथ्यात्व से जीव की रुचि विपर्यस्त हो जाती है। जैसे मदिरा के नशे से बेमान मनुष्य की विचारधारा विपरीत बन जाती है, उसी प्रकार मिथ्यात्व के प्रभाव से जीव की रुचि भी विपरीत हो जाती है। वह अपने दृष्टि विपर्यास के कारण हेय को उपादेय और उपादेय को हेय मानने लगता है। आध्यात्मिक दृष्टि से यह जीव की निम्नतम दशा है जिसे हम साधारण भाषा में मूर्खता कहते हैं। वह व्यक्ति मूर्खों में भी सबसे बड़ा मूर्ख है जो जानता है कि इस संसार में सुख है। ऐसे मूर्ख अथवा मिथ्यात्वियों को बोध देना बड़ा दुष्कर होता है। भर्तृहरि ने कहा भी है—

> लभेत सिकतासु तैलमपि यत्नतः पीडयन्,
> पिबेच्च मृगतृष्णिकासु सलिलं पिपासार्दितः।
> क्वचिदपि पर्यटञ्छश विषाणमासादयेद्,
> न तु प्रतिनिविष्टमूर्खजन चित्तमाराधयेत्॥

—यत्नपूर्वक पेरने से रेत में से तेल निकालना संभव है, मृगतृष्णा से प्यासे की प्यास बुझाना संभव है, ढूंढ़ने से खरगोश का सींग भी मिल सकता है परन्तु मूर्ख का मन जिस वस्तु की ओर झुक गया है उससे हटाना सम्भव नहीं है।

इसलिए हमें ऐसी मूर्खता या मिथ्यात्व से कोसों दूर रहने का प्रयत्न करना चाहिए। इसके लिए आवश्यक नहीं है कि हम समस्त ज्ञान के भंडार को टटोल ही लें या बत्तीसों शास्त्रों को कण्ठस्थ करें। यह सब करने पर ही हम सम्यक्त्वी बन सकेंगे यह विचार कर निराश होने की आवश्यकता नहीं है। सम्यक्त्व की आत्मा में जागृति करने के लिए मैंने कल और आज में जो सम्यक्त्व के पांच लक्षण और सम्यक् दर्शनाचार के आठ प्रकार बताये हैं उनको सहज-भाव से जीवन में उतारना काफी है। आप यह कभी न भूलें कि सैकड़ों ग्रन्थों को घोंट कर पी जाने वाला भी मिथ्यात्वी बना रह सकता है और दूसरी तरफ पुस्तकीय ज्ञान से रहित सरलात्मा सम्यक्त्व का धारी कहलाने में समर्थ होता है। कवि रसखान ने भी अपनी सीधी और सहज भाषा में भव-सागर तैरने के उपाय बताए हैं—

> सुनिये सबकी कहिये न कछु, रहिये इमि या भव सागर में।
> करिये व्रत नेम सचाई लिए जिनतें तरिये भव-सागर में॥

मिलिये सबसों दुरभाव विना, रहिये सत संग उजागर में।
रसखानि गोविंदहि यों भजिये, जिमि नागरि को चित गागर में ॥

बन्धुओ, समय काफी हो चुका है। आशा है अब आपने अपने आपको भली-भांति पहिचान लिया होगा तथा अपने में रहे हुए अभावों की पूर्ति करने का संकल्प किया होगा। स्मरण रखें कि दृढ़ संकल्प के समक्ष देव, दानव सभी पराजित हो जाते हैं। महात्मा गांधी ने कहा है—

"दृढ़ संकल्प एक गढ़ के समान है जो कि भयंकर प्रलोभनों से हमको बचाता है, दुर्बल और डांवाडोल होने से हमारी रक्षा करता है।"

आपके संकल्प भी आपकी अभिलाषा की पूर्ति करेंगे। मेरी यही कामना है। एवमस्तु"""। □

5

महावीर के अमर सिद्धान्त

आधुनिक युग के इस विश्रृंखल संसार में प्रत्येक मानव का मानस अत्यधिक चंचल एवं अस्थिर बना हुआ है। चारों ओर भौतिक विज्ञान के चमत्कारों की चकाचौंध छा गई है और मनुष्य के नेत्र अत्यन्त कौतूहल एवं आश्चर्य से इसे अपनी प्रगति मानकर यत्र-तत्र विचरण कर रहे हैं। कभी वे चन्द्रलोक की ओर जाने वाले यानों की ओर जाते हैं, कभी विशाल कल-कारखानों की ओर तथा कभी पृथ्वी पर बिछे हुए विद्युत के जाल की ओर।

किन्तु ऐसा लगता है कि बाह्य संसार में जितना-जितना विद्युत प्रकाश बढ़ता जा रहा है, मानव के आंतरिक संसार में यानी उसके अन्तर्मन में उतना ही अधिक अंधकार व्याप्त होता जा रहा है। बाह्य-प्रकाश से उसके नेत्र अवश्य चमक रहे हैं पर आन्तरिक ज्योति मंद होती जा रही है और आत्म-शक्तियाँ कुंठित बन रही हैं। ऐसी विचित्र स्थिति के कारण व्यक्ति का व्यक्तिगत जीवन भ्रम, सन्देह, अविश्वास या अनिश्चय से परिपूर्ण है तथा मन अशांति का अनुभव कर रहा है। बाह्य प्रगति उसकी आत्मा को खुराक नहीं पहुँचाती और वह खुराक उसे खोजने पर मिल भी नहीं रही है। अगर कुछ व्यक्ति बाह्य चकाचौंध से घबराकर आत्म-संतुष्टि प्राप्त करना भी चाहते हैं तो विभिन्न मतों और विभिन्न वादों के जय-जयकारों की ध्वनियाँ सुनकर आत्मानन्द की प्राप्ति के मार्ग की जानकारी नहीं कर पाते।

इसका मुख्य कारण यही है कि वे इस भौतिक युग के बाह्य क्रिया-कलापों में उलझे रहने से अपनी स्वतन्त्र चिन्तन-शक्ति को खो बैठे हैं। गम्भीर चिन्तन-मनन का उन्हें समय ही नहीं मिला और कभी भूले-भटके आत्म-कल्याण की भावना हृदय में आई भी तो कभी किसी मत की ओर कभी किसी मत की बात सुनकर उनका मन डाँवाडोल हो गया। आज के अधिकांश व्यक्तियों ने कभी धर्म-ग्रन्थों को उठाकर देखा नहीं और आत्मा के रहस्यों को जानने की कोशिश भी नहीं की। केवल इधर-उधर की सुनी-सुनाई या ऊपरी तौर से पढ़ी-पढ़ाई बातों के आधार पर ही वे कभी कुछ कहते है और कभी कुछ। कभी कुछ करते है और कभी कुछ। ऐसी अस्थिरता के कारण ही आज का सामाजिक जीवन अत्यन्त क्षीण, श्रीहीन, शक्तिहीन, दलित या निःसत्व हो गया है; क्योंकि मानव की शक्ति का वास्तविक स्रोत आत्मा से निर्झरित

होता है, कहीं बाहर से नहीं आता। किन्तु आज का मनुष्य, बुद्धिबल, धनबल, बाहुबल एवं जनबल आदि के विषय में तो विचार कर भी लेता है पर आत्मबल का खयाल उसे स्वप्न में भी नहीं आता। दूसरे शब्दों में यह भी कहा जा सकता है कि मानव का समग्र जीवन अनात्मवाद की लहरों में बह रहा है तथा स्वयं को भूलकर वह जगत को खोजने का प्रयत्न कर रहा है। परिणाम यह हुआ कि न वह स्वयं को समझ पाया है और न ही जगत को समझ सका है।

एक उर्दू भाषा के कवि ने इस स्थिति का बड़ा सुन्दर चित्रण करते हुए कहा है—

न खुदा ही मिला न विसाले सनम,
न इधर के रहे न उधर के रहे।

वस्तुतः आज मानव की ऐसी ही स्थिति हो रही है। वह भौतिक ज्ञान द्वारा निर्मित उत्तमोत्तम साधनों का अम्बार लगाकर आनन्द की प्राप्ति करना चाहता है, किन्तु वे सब शरीर को आराम पहुँचाते हैं और आत्मा ज्यों की त्यों अशांत बनी रहती है। इसके अलावा जब आत्मा अशांति का अनुभव करती रहती है तो सुख के बाह्य साधनों से मनुष्य ऊब जाता है और उसे वे भी सुखप्रद महसूस नहीं होते।

इसलिए प्रत्येक व्यक्ति को भौतिक संसार से मुँह मोड़कर आर्यावर्त्त की युग युगान्तर से चली आने वाली गरिमा को समझना चाहिए तथा धर्म और ज्ञान के क्षेत्र में आना चाहिये। भारत सदा से धर्मप्रधान देश कहलाता आया है और यह बात निर्विवाद सत्य भी है। अगर हम मानवीय संस्कृति के इतिहास के अनुसार देखें तो स्पष्ट जान सकते हैं कि इस समग्र विश्व में केवल भारत ही ऐसा है जहाँ सर्वप्रथम धर्म की उज्ज्वल ज्योति प्रसृत हुई थी। जिस समय संसार के अन्य देशों में मनुष्य असंस्कृत, असभ्य एवं पशुवत् जीवन व्यतीत कर रहा था, उस समय भी हमारा भारत देश धर्म और संस्कृति की दृष्टि से बहुत उच्च स्तर पर था।

इस युग के प्रारम्भ में भगवान ऋषभदेव के द्वारा संस्थापित जैनधर्म की गरिमा को भगवान महावीर ने संवर्द्धना प्रदान की। किन्तु उस समय उन्हें धार्मिक एवं सामाजिक, दोनों ही क्षेत्रों में अनेकानेक विकट समस्याओं से जूझना पड़ा था। आज से छब्बीस सौ वर्ष पूर्व यद्यपि धर्म का दीप प्रज्ज्वलित था, पर देश की दशा अत्यन्त शोचनीय थी। चारों ओर हिंसा का ताण्डव नृत्य हो रहा था तथा मृषा, शोषण एवं अनाचार की अति से मानवता कराह रही थी। धर्म के नाम पर पशुओं के रक्त की नदियाँ तो बहती ही थीं, शूद्रों पर तथा नारी जाति पर भी भयानक अत्याचार होते थे। दूसरे शब्दों में उस समय पाप-कर्मों को ही धर्म मानकर जनता धर्म को कलंकित कर रही थी। उस विकट बेला में जगदोद्धारक वीर प्रभु ने अवतार लिया और अपनी आत्म-शक्ति से इस धरातल पर फैली हुई अनेकानेक बुराइयों का नाश करके प्राणी मात्र को उपकृत किया।

महिमामय महावीर

भगवान महावीर ने क्षत्रियकुंड में महाराजा सिद्धार्थ की सर्वगुणसम्पन्न महारानी त्रिशला देवी के उदर से जन्म लिया और तीर्थंकर होने के कारण चौंसठ इन्द्रादिक देवों के द्वारा 'सुमेरुगिरि' पर लेजाकर आपका जन्म-महोत्सव या जन्म कल्याणक मनाया गया। जन्म से ही मुखरित अनेक उत्तम गुणों के कारण आपको वर्द्धमान, सन्मति, वीर, महावीर एवं अतिवीर आदि नामों से पुकारा जाने लगा।

'पूत के पाँव पालने में ही दिख जाते है" यह कहावत भगवान के जीवन में अक्षरशः चरितार्थ हुई और बहुत शीघ्र आपका लक्ष्य आत्म-बोध की ओर उन्मुख हो गया। भौतिक वैभव को आत्म-साधना में बाधक समझकर आप उससे विरक्त हो गये और तीस वर्ष की आयु में राज्य-पाट त्यागकर साधना के पथ पर अग्रसर हुए। संयमी जीवन अपनाने पर बारह वर्ष और और तेरह पक्ष तक आपने अपूर्व कष्ट-साध्य साधना की तथा केवलज्ञान प्राप्त कर लिया। भगवान महावीर लोक में प्रकाशस्तम्भ, ज्ञान रूपी नेत्रों के प्रदाता, महान धर्मोपदेशक, राग-द्वेष के विजेता, सर्वज्ञ और सर्व कल्याणकारक बने।

महावीर ने क्या कहा ?

महावीर ने कहा—धर्म के द्वारा ही ध्येय की प्राप्ति हो सकती है और धर्म ही मानव के इहलौकिक तथा पारलौकिक, भौतिक और आध्यात्मिक, दोनों ही प्रकार के अभ्युदय एवं कल्याण का कारण है।

जब उनसे यह पूछा गया कि 'कौनसा धर्म उत्कृष्ट है ?' तो उन्होंने उत्तर दिया—

'धम्मो मंगलमुक्किट्ठं अहिंसा संजमो तवो।'

अर्थात् जो उत्कृष्ट मंगलमय है वही धर्म है। मंगलमय का अर्थ है—समस्त दोषों को, बुराइयों को एवं पापों को दूर करके आत्मिक सुख, शांति और संतोष प्रदान करने वाला। इस बात को इस प्रकार भी समझा जा सकता है कि जो व्यक्ति के लिए मंगलमय है वह व्यक्ति का धर्म है और जो परिवार, समाज, देश और विश्व के लिए मंगलमय है वह क्रमशः इन सबका धर्म है। कितनी सुन्दर परिभाषा है ? धर्म का इससे अच्छा तथा यथार्थ परिचय और क्या हो सकता है ? वास्तव में ही धर्म सृष्टि का सार है तथा मनुष्य की दृष्टि को भौतिक जगत के बाह्य एवं अस्थायी आकर्षणों से मोड़कर अन्तर्मानस की ओर उन्मुख करने वाला है। जो भव्य प्राणी ऐसा कर लेता है यानी भौतिक चमत्कारों से मुँह मोड़कर आत्मा के अनन्तज्ञान, अनन्तदर्शन एवं अनन्तचारित्र की महान शक्तियों को पहचान लेता है, वही सच्चे आनन्द का, सच्चे संतोष का तथा सच्ची शांति का अनुभव कर सकता है। ये शक्तियाँ केवल इस जन्म में ही नहीं, अपितु अनेक जन्मों तक आत्मा का पथ-प्रदर्शन करती हुई उसे सशक्त

बनाए रहती हैं तथा अन्त में सिद्ध-बुद्ध बनाकर ही छोड़ती हैं। इसीलिए हमारे शास्त्र कहते हैं—

धम्मंमि जो वढमई, सो सूरो सत्तिओ य वीरो य।
णहु धम्मणिरुस्साहो पुरिसो सूरो सुबलिओऽवि ॥

अर्थात् जो व्यक्ति धर्म में दृढ़निष्ठा रखता है, वस्तुतः वही बलवान और शूरवीर है। जो धर्म में उत्साहहीन है, वह वीर एवं बलवान होते हुए भी न वीर है, न बलवान है।

उपरोक्त गाथा से स्पष्ट है कि मानव भले ही अग्नि, जल एवं वायु आदि को नियन्त्रित करके पृथ्वी पर कदम-कदम पर कल-कारखानों का जाल बिछादे, दैत्याकार इंजिनों का निर्माण करके लाखों व्यक्तियों को देश के एक कोने से दूसरे कोने में सहज ही ले जाय और विद्युत के द्वारा जगत के एक-एक कोने को प्रकाशित करके स्वयं को महान बुद्धिशाली एवं बलशाली मान ले, किन्तु उस बुद्धिबल से आत्मा को बांधने वाले कर्मों का एक फन्दा भी नहीं खुल सकता तथा हजारों वाट के बल्बों का बाहरी प्रकाश आत्मा को ज्योतिर्मान या उज्ज्वल नहीं बना सकता। ऐसी स्थिति में उस सब का क्या महत्त्व है ? रंचमात्र भी नहीं। आत्मा उसी प्रकार कर्मों से आच्छादित रहेगी और इस शरीर के नष्ट होते ही न जाने कितने अन्धकार से परिपूर्ण नरकों में या अनेकानेक हीन योनियों में परिभ्रमण करती रहेगी। उस समय भला ये असंख्य आविष्कार और बुद्धि के नमूने उसके क्या काम आयेंगे ?

इसलिए अच्छा यही है कि आत्म-बल बढ़ाया जाय तथा सम्यक्ज्ञान की शुभ ज्योति से आत्मा को उज्ज्वल बनाया जाय। परिणाम यह होगा कि बाह्य शक्तियाँ जहाँ आत्मा का एक भी कर्म-पाश नहीं हटा सकेंगी, वहाँ आत्मिक शक्तियाँ सम्पूर्ण कर्म-बन्धनों को निर्मूल करके आत्मा को सदा के लिए भव-समुद्र से पार कर देंगी। आवश्यकता केवल धर्म को अपनाने की तथा उसकी शरण लेने की है। भगवान महावीर का कथन है—

जरामरणवेगेण बुज्झमाणाण पाणिणं।
धम्मोदीवो पइट्ठाय, गई शरणमुत्तमं ॥

धर्म का महत्त्व बताते हुए वीतराग प्रभु ने मानव को बताया है कि—जरा और मरण के तेज प्रवाह में डूबते हुए प्राणियों के लिए धर्म ही द्वीप है, आधार, गति है और सर्वोत्तम शरण का स्थान है।

इस प्रकार धर्म जीव के लिए शरणभूत है तथा पूर्ण मंगलमय है। कहा सकता है कि ऐसा कौन सा विधि-विधान है, जिससे सबका मंगल-साधन होता है ? इस प्रश्न का उत्तर भी भगवान के द्वारा दिया गया है कि अहिंसा, संयम और तप रूपी त्रिवेणी ही सबके लिए मंगलमय है, वही कल्याणकारिणी एवं पाप-प्रणाशिनी है।

जो इस त्रिवेणी में अवगाहन करेगा वही अपनी आत्मा को कर्म-मल से सम्पूर्णतया रहित करके चिरशांति एवं चिर आनन्द की प्राप्ति कर सकेगा।

मुख्य सिद्धान्त

भगवान महावीर सत्य के उपदेष्टा थे अतः उन्होंने ऐसे सिद्धांतों का निरूपण किया, जिनसे प्रत्येक मानव स्वयं मुक्ति के पथ पर चले तथा औरों को भी उस पर चलाने में समर्थ बन सके। सम्पूर्ण विश्व की भलाई या कल्याण को दृष्टि में रखकर उन्होंने ऐसे सिद्धांतों को जगत के सामने रखा, जिनमें धर्म के सभी प्रकारों का समावेश हो गया और वे मानव मात्र के कर्मों को काटने वाले दिव्यास्त्र साबित हुए। जिन महामानवों ने इन्हें ग्रहण किया उन्होंने सत्य का साक्षात्कार करते हुए अपनी आत्मा का कल्याण तो किया ही साथ ही विश्वमैत्री का आदर्श उपस्थित किया, विश्व-व्याप्त असहिष्णुता को मिटाने का मार्ग लोगों को बताया तथा दार्शनिक दृष्टिकोणों में समन्वय स्थापित करके सैद्धान्तिक वाद-विवादों को समाप्त करने का प्रयत्न किया।

ऐसा कर सकने की अपूर्व शक्ति प्रदान करने वाले भगवान महावीर के मुख्य सिद्धान्त तीन हैं, जिनके नाम हैं—(१) अहिंसा (१) अनेकान्त एवं (३) अपरिग्रह।

(१) अहिंसा

आदि तीर्थंकर भगवान ऋषभदेव द्वारा स्थापित और उसके पश्चात् भगवान महावीर द्वारा निर्मित जैनधर्म के भव्य, मनोहर, विशाल तथा अद्वितीय भवन की पहली ईंट अहिंसा ही है। दूसरे शब्दों में हम यह भी कह सकते हैं कि मोक्ष-गढ़ की सोपान रचना में अहिंसा प्रथम सीढ़ी है और इस पर कदम रखे बिना ऊपर नहीं चढ़ा जा सकता।

सूक्ष्म विचार करने पर यद्यपि यह स्पष्ट विदित होता है कि भारतवर्ष के विविध धर्मों में अहिंसा, सत्य, अचौर्य एवं ब्रह्मचर्य आदि सर्वसम्मतधर्म के प्रकार माने गये हैं और सभी दर्शन इन्हें ग्रहणीय कहते हैं; किन्तु इसमें दो राय नहीं है कि जैन-दर्शन में अहिंसा का जैसा विशद व्यावहारिक, प्रभावशाली या कि सर्वांगीण विवेचन किया गया है वैसा किसी भी अन्य दर्शन में नहीं मिलता।

अहिंसा सभी धर्मों के लिए मान्य है पर जैनधर्म की तो मूल भित्ति या प्राण ही है, जिसके बिना धर्म का आस्तित्व नहीं टिक सकता। कहने का अभिप्राय यही है कि सभी धर्मों में आदरणीय अहिंसा धर्म आत्म-साधना का सबसे बड़ा अंग या साधन है। श्री आचारांगसूत्र में बताया भी है कि—

> अत्थि सत्थं परेण परं।
> नत्थि असत्थं परेण परं॥

गाथा का भावार्थ यही है कि इस संसार में हिंसा आदि एक से बढ़कर एक शस्त्र हैं, किन्तु अहिंसा रूपी अशस्त्र एक से एक बढ़कर नहीं है। अर्थात् अहिंसा की साधना से बढ़कर श्रेष्ठ कोई दूसरी साधना नहीं है।

इसीलिए सभी दर्शन अहिंसा को सर्वश्रेष्ठ धर्म स्वीकार करते हैं। अगर हम वैदिक, बौद्ध, मुस्लिम, सिक्ख तथा ईसाई धर्म ग्रन्थों का अवलोकन करें तो ज्ञात होता है कि सभी धर्मों के प्रवर्तकों ने मुक्त कंण्ठ से अहिंसा की प्रशंसा और सराहना की है। जिस मुस्लिमों को हम तिनका तोड़ने के समान ही पशुओं की गरदनें धड़ से अलग करते हुए देखते हैं, उन्हीं के धर्मग्रन्थ कुरान में लिखा हुआ है—

"वल्लाहो ला मुहिब्बुल जालमीन।
अला इन्नज्जालमीन फी अजाबिन मुकीम।

सूरत अल इमरान; ६-३, सूरत सूरा ५-२

यानी—खुदा अत्याचारियों से प्रेम नहीं करता। याद रखो, अत्याचारी व्यक्ति सदा दुःख पाते रहेंगे।

वेदों में भी अनेक स्थानों पर अहिंसा के प्रमाण दिखाई देते हैं—

न किर्देवा मिनीमसि, न किरा योपयामसि।"

—ऋग्वेद

अर्थात्—हे देवताओ! हम न किसी को मारें और न किसी को दुःखी करें।

बौद्धधर्म के प्रसिद्ध ग्रन्थ 'धम्मपद' में भी लिखा है—

**न तेन अरियो होति, येन पाणानि हिंसति।
अहिंसा सब्ब पाणानं, अरियोति पवुज्जति॥**

अर्थ है—जो मनुष्य दूसरों को दुख देता है, वह आर्य या भला पुरुष नहीं होता। भला कहलाने का अधिकारी वही है जो दूसरों को पीड़ा नहीं पहुँचाता।

ईसाई धर्मग्रन्थ 'इन्जील' में भी है—

Thou shalt not kill.

—तू किसी का वध नहीं करेगा।

इन उदाहरणों को देने का अभिप्राय यही बताना है कि जो व्यक्ति हिंसा करते हैं, उनके धर्मग्रन्थ भी हिंसा को बुरा तथा अहिंसा को उत्तम बताते हैं और इस प्रकार संसार के किसी भी धर्म ने हिंसा को धर्म के रूप में स्वीकार नहीं किया है। किन्तु जैनदर्शन में अहिंसा की जितनी गहन और सूक्ष्म विवेचना की गई है वह अद्वितीय और असाधारण है क्योंकि जैनधर्म के उपदेष्टाओं ने इस दुर्लभ एवं आत्म-कल्याणकारी सिद्धांत को चरम सीमा तक पहुँचा दिया है। भगवान महावीर का कथन है—

**एवं खु नाणिनो सारं, जं न हिंसइ किंचणं।
अहिंसा समयं चेव, एतावत्तं वियाणिया॥**

सूयगडंगसूत्र, ११-१०

जैनदर्शन के प्रवर्तकों ने अहिंसा की मात्र मीमांसा ही नहीं की है अपितु उसे अपने आचरण में लाकर उसकी व्यवहार्यता भी साबित कर दी है। अनेकानेक सन्त-महापुरुष अहिंसा के उस रूप को व्यवहार या आचरण में लाते रहे हैं तथा वर्तमान समय में भी ऐसा कर रहे हैं।

जैनधर्म में बताई गई अहिंसा की सूक्ष्मता का एक यह प्रमाण है कि जहाँ अन्य धर्मों ने उसे केवल कायिक माना है अर्थात् अहिंसा की सीमा मनुष्य जाति तक ही रखी है और कदाचित आगे गई तो पशु-पक्षियों तक वहाँ जैनधर्म में ऐसी कोई मर्यादा नहीं है। इसमें अहिंसा तत्त्व कायिक से आगे वाचिक और उससे भी आगे मानसिक होकर आत्मिक रूप तक पहुँच गया है। जैनधर्म की अहिंसा के असीम प्रांगण में जगत के सम्पूर्ण चराचर जीवों का समावेश हुआ है और इस प्रकार वह अमर्याद या असीम है। अगर यह नभ के समान विशाल है तो आत्मा की तरह सूक्ष्म और काल की तरह अनन्त भी है।

आचारांगसूत्र में बताया गया है....

सव्वे पाणा सव्वे भूया,
सव्वे जीवा, सव्वे सत्ता
न हंतव्वा, न अज्जावेयव्वा
न परिघेतव्वा, न परियावेयव्वा
न उद्दवेयव्वा

अर्थात्—किसी भी प्राणी, किसी भी भूत, किसी भी जीव और किसी भी सत्त्व को नहीं मारना चाहिए, न उन पर अनुचित शासन करना चाहिए, न उन्हें परिताप देना चाहिए और न उनके प्रति किसी प्रकार का उपद्रव करना चाहिए।

अहिंसा का इस प्रकार पालन करने वाले भव्य जीव ही आत्मा को निष्कलंक रख सकते है तथा सच्चे अर्थों मे आत्म-साधना करने वाले साधक कहलाने के अधिकारी हो सकते हैं। शरीर, वचन और मन से भी हिंसा का त्याग करने वाले ऐसे विरले ही साधु-पुरुष होते हैं। एक छोटा सा उदाहरण है—

यहूदियों के धर्मगुरु 'रबी वूल्फ' के घर से चाँदी की कोई मूल्यवान वस्तु चोरी चली गई। वूल्फ की पत्नी को अपनी नौकरानी पर चोरी का सन्देह हुआ और उसने डाँट-फटकार करते हुए नौकरानी से चोरी को स्वीकार करने के लिए कहा।

किन्तु नौकरानी डाँट-फटकार और गालियाँ खाकर भी स्वयं को निर्दोष बताती रही और कहती रही "मैंने चोरी नहीं की है।"

इस पर वूल्फ की पत्नी ने यह मामला स्वयं ही न्यायालय में ले जाने का निश्चय किया और जाने के लिए तैयार हो गई। पर जिस समय वह रवाना हो रही थी उसने देखा कि उसके पति भी अपना चोगा पहनकर बाहर जाने के लिए तैयार है।

पत्नी ने आश्चर्य से पूछा—"आप कहाँ जाने की तैयारी में हैं ?"

"क्यों ? मैं भी तो न्यायालय में जा रहा हूँ।" वूल्फ ने शांति से उत्तर दिया।

"पर आपकी वहाँ क्या जरूरत है ? मैं अच्छी तरह जानती हूँ कि वहाँ क्या बोलना चाहिए और कैसे बोलना चाहिए ?"

इस पर धर्मगुरु ने कहा—"देवी ! तुम तो सब कुछ जानती हो क्योंकि पढ़ी-लिखी हो, किन्तु बेचारी नौकरानी अशिक्षित है अतः वह बोल नहीं सकती और धनाभाव के कारण कोई वकील भी नहीं कर सकती। इसलिए मैं उसका वकील बनकर उसकी ओर से पैरवी करने जा रहा हूँ।"

धर्माचार्य की यह बात सुनकर उनकी पत्नी ने माथा ठोक लिया और न्यायालय जाने का विचार ही छोड़ दिया।

वस्तुतः सच्चे संत या साधक ऐसे ही होते हैं। अहिंसा की भावना उनमें न्यायप्रियता जगाती है और वे किसी का मन नहीं दुखा सकते, इसके लिए भले ही उन्हें कितना भी त्याग क्यों न करना पड़े। धर्मगुरु वूल्फ ने भी जब देखा कि प्रमाण के अभाव में भी उनकी पत्नी जब निर्दोष नौकरानी के हृदय को पीड़ित कर रही है तथा न्यायालय में जाने से उस पर और भी अत्याचार होने की संभावना है तो वे स्वयं ही पत्नी के विरोधी बनकर नौकरानी की रक्षा के लिए चल दिये।

अहिंसा के कायिक, वाचिक एवं मानसिक रूप से पालन का यह कितना उत्कृष्ट उदाहरण है ? अगर प्रत्येक मानव में अहिंसा के इसी प्रकार सर्वांगीण रूप से पालन करने की भावना जाग जाय तो विश्वमैत्री विश्वबन्धुत्व एवं विश्वशांति का प्रसार होने में देर न लगे। इस विश्व में दया, क्षमा, करुणा, परोपकार एवं सहानुभूति आदि की जो स्वर्गीय भावनाएँ पाई जाती हैं वे सब अहिंसा की ही अनुपम और बहुमूल्य देन है।

खेद की बात है कि जैनधर्म के महान तत्त्व अहिंसा के यथार्थ रहस्य को अनेक लोग नहीं समझते और कहते हैं—"महावीर की अहिंसा व्यक्ति को कायर और डरपोक बनाती है।"

यह आक्षेप बड़ा भ्रमपूर्ण और असत्य है। लोग भूल जाते हैं कि अहिंसा के दिव्यास्त्र से ही भारत की सैकड़ों वर्षों की दासता निर्मूल की गई तथा रक्त की एक बूंद बहाये बिना ही गांधीजी ने अत्यन्त शक्तिशाली ब्रिटिश सरकार का इसी दुर्लभ शस्त्र से मुकाबला किया था। अहिंसा के द्वारा भारत का स्वतन्त्र हो जाना सम्पूर्ण जगत के लिए अद्भुत साबित हुआ तथा सभी देशों ने अहिंसा के सिद्धांत या इस ब्रह्मास्त्र का लोहा माना। आज भी विश्व को अहिंसा के अमृत की आवश्यकता है क्योंकि चिरकाल से भीषण महायुद्धों की और आपसी कलहों की मारकाट से त्रस्त

जगत शांति की कामना कर रहा है। पर वह शांति हिंसा से कभी नहीं मिल सकती, अहिंसा से ही प्राप्त होगी।

इस प्रकार गम्भीरतापूर्वक विचार करने पर हमें स्पष्ट मालूम हो जाता है कि महावीर की अहिंसा कभी मानव को कायर या डरपोक नहीं बनाती। वह स्वयं ही ऐसी प्रचंड शक्ति है कि उसकी उपासना करने वाला निर्भीक, तेजस्वी एवं शूरवीर ही बनेगा; दब्बू, कायर या तेजहीन नहीं। सबसे बड़ी बात तो यह है कि अहिंसा जहाँ मानव को विश्वमैत्री एवं विश्ववन्धुत्व का पाठ पढ़ाती है, वहाँ आत्मा पर आच्छादित कर्म-समूहों को भी नष्ट करती चलती है और मोक्ष-द्वार को निकट लाती है।

(२) अनेकान्तवाद

भगवान महावीर ने जिस प्रकार जीवन व्यवहार में पावनता लाने के लिए मानव को अहिंसा का उपदेश दिया है, उसी प्रकार विचारों में व्यापकता, सत्यता और निर्मलता लाने के लिए अनेकान्तवाद या स्याद्वाद का अमूल्य उपहार भी समर्पित किया है। स्याद्वाद के प्रभावोत्पादक सिद्धान्त के द्वारा विविधता में एकता और एकता में विविधता के दर्शन होते हैं। इस सिद्धान्त के द्वारा जैनधर्म ने विश्व की महान् सेवा की है और यह विश्वधर्म साबित हुआ है। संसार के महान विचारकों ने इसका हृदय की गहराई से स्वागत किया है तथा सराहना की है।

इंगलैंड के सुप्रसिद्ध विद्वान थामसन का कथन है—

"न्यायशास्त्र में जैनन्याय अत्यन्त उच्च है और उसमें स्याद्वाद का स्थान अति गम्भीर है। वस्तुओं की भिन्न-भिन्न परिस्थितियों पर यह बहुत सुन्दर प्रकाश डालता है।"

वस्तुतः स्याद्वाद अनुभवसिद्ध, स्वाभाविक और परिपूर्ण सिद्धांत है। दार्शनिक क्षेत्र और लोक-व्यवहार दोनों में ही इसकी अत्यधिक उपयोगिता है। इसीलिए आचार्य सिद्धसेन दिवाकर ने कहा है—

> जेण विना लोगस्स वि, ववहारो सव्वहा न निव्वडइ।
> तस्स भुवणेक्क गुरुणो, णमो अणेगंत वायस्स॥

अर्थात्—जिसके बिना लोक-व्यवहार भी सर्वथा चलता नहीं, उस भुवन के अद्वितीय गुरु अनेकान्तवाद को नमस्कार है।

जैनधर्म के स्याद्वाद सिद्धांत ने वैज्ञानिक क्षेत्र को भी बहुत प्रभावित किया है तथा उसमें रही हुई अनेकानेक कठिनाइयों का हल निकाला है। इस सिद्धांत के आधार पर ही आधुनिक विज्ञान ने सिद्ध किया है कि प्रत्येक पदार्थ में एक ही नहीं वरन् अनेक गुण विद्यमान हैं।

उदाहरणस्वरूप—बहुत समय से ऐसी एकान्त मान्यता चली आ रही थी कि लोहा भारी होने के कारण पानी में डूब जाता है। किन्तु अनेकान्त दृष्टि के द्वारा

वैज्ञानिकों ने इसके अन्य गुण भी ज्ञात किये और परिणाम यह हुआ कि इसी अनेकान्त-ज्ञान ने लोहे के भारी-भरकम और मनों बोझ वाले जलयान सागर के वक्ष पर तैरा दिये। आज भी अन्वेषक निरन्तर एक-एक पदार्थ के अनेकों अप्रकट गुणों या शक्तियों की खोज इसी सिद्धान्त के द्वारा करते चले जा रहे हैं।

स्याद्वाद सिद्धान्त जैनदर्शन की दिव्य विभूति है और जैनागम का मूल भी है। मूल के अभाव में जिस प्रकार वृक्ष का अस्तित्व नहीं रह सकता, इसी प्रकार स्याद्वाद के अभाव में जैनदर्शन की गरिमा ज्योतिहीन साबित होती है। इस अनुपम सिद्धान्त को न समझ पाने के कारण विश्व में विभिन्न धर्मों, दर्शनों, पंथों, मतों और सम्प्रदायों में विवाद खड़े होते हैं। प्रत्येक धर्म या मत का अनुयायी दूसरे धर्म एवं मत को असत्य या मिथ्या बतलाता है तथा अपने माने हुए मत को पूर्ण सत्य मानकर औरों का विरोध करता है। परिणाम यह होता है कि कभी-कभी तो धर्म के नाम पर खून की नदियाँ बह जाती हैं और धर्म बदनाम होते हैं।

इसका मुख्य कारण यही है कि मनुष्य एकान्तवादी होते हैं और अपने एकान्त-वाद को ही सम्पूर्ण सत्य मानकर अन्य धर्मों को झूठा साबित करने के प्रयत्न में रहते हैं। किन्तु अनेकान्तवाद एकान्तवादी दर्शनों की भूल बताकर प्रत्येक पदार्थ के सत्य स्वरूप को सामने रखता है तथा आपसी कलह को मिटाता है।

वस्तुतः यदि मनुष्य मतभेद की बातों पर विचार करने की अपेक्षा उन बातों को ध्यान में लाएँ, जिनसे वे सहमत हैं तो संसार में विरोध और विषमता बहुत कम हो जाय।

महात्मा कबीर ने इस सम्बन्ध में अपनी सीधी-साधी भाषा के द्वारा अत्यन्त सुन्दर विचार व्यक्त करते हुए कहा है—

> एक वस्तु के नाम बहु, लीजे नाम पिछान।
> नाम पच्छ ना कीजिये, सार तत्त ले जान॥
> सब काहू का लीजिये, साँचा शब्द निहार।
> पच्छपात ना कीजिये, कहै कबीर विचार॥

अनेकान्तवाद के समर्थक इसी प्रकार मनुष्य को समझाते हैं कि एक ही वस्तु के अनेक रूप होते हैं अतः उनमें से किसी एक नाम को ही पकड़ कर वस्तु का परिचय देना ठीक नहीं है। एक नाम को लेकर पक्षपात करने की अपेक्षा वस्तु के सार तत्त्व को ग्रहण करना उचित है। यथा—एक व्यक्ति किसी का पुत्र है। यह उसका एक रूप है, पर क्या वह केवल एकमात्र पुत्र ही कहा जा सकता है? नहीं, वह अपने पुत्र का पिता भी है, पत्नी का पति है, बहन का भाई है और इसी प्रकार किसी का मामा, किसी का भानजा या भतीजा है। तो उस व्यक्ति में केवल पुत्रत्व धर्म की स्थापना करना एकान्तवाद है और वह गलत है; क्योंकि उसी में अपने पुत्र की अपेक्षा से पितृत्व, पत्नी की अपेक्षा से पतित्व तथा भाई की अपेक्षा से भ्रातृत्व आदि अनेक धर्म

हैं। ये सभी धर्म यद्यपि सही हैं, किन्तु अपूर्ण हैं और सबको मिला देने पर ही सही निर्णय उस व्यक्ति का किया जा सकता है। यही बात अन्य सभी धर्मों के विषय में समझनी चाहिए।

अनेकान्तवाद इसी प्रकार धर्म के प्रत्येक अंग में समन्वय स्थापित करता है तथा सैद्धान्तिक मतभेदों को मिटाता है। तारीफ की बात यह है कि वह धर्म के प्रति रही हुई किसी भी एकान्त मान्यता को अस्वीकार नहीं करता और उसे सही मानता है। वह समस्त मान्यताओं का स्वागत करता है तथा अपने विशाल या व्यापक दृष्टि-कोण से उन्हें एकरूपता प्रदान करता है। दूसरे शब्दों में यह भी कहा जा सकता है कि स्याद्वाद एक सागर है जिसमें समस्त मत या वाद समाविष्ट हो जाते हैं। जितने वचन-पथ हैं, उतने ही नयवाद हैं, और जितने नयवाद हैं, उतने ही दर्शन हैं। इस प्रकार दर्शनों या धर्मों की तालिका बहुत लम्बी है और एकान्त मान्यता के कारण उनमें मतभेद भी तीव्र हैं। पर यह स्याद्वाद की ही चमत्कारिक शक्ति है जो सभी में समन्वय करता हुआ मतभेद की खाई को पाटता है।

'स्याद्' शब्द का अर्थ है—'कथञ्चित्' यानी किसी अपेक्षा से और 'वाद' का अर्थ है—वस्तुतत्त्व का निर्णय। इसीलिए दोनों मिलकर स्याद्वाद कहलाते हैं और स्याद्वाद किसी भी वस्तु का विवेचन एवं परीक्षा सापेक्ष दृष्टि से करता है। आधुनिक दार्शनिकों की भाषा में इसे Theory of Relativity कहा जाता है।

भारत में वैसे तो अनेक दर्शन है किन्तु मुख्य रूप से पाँच दर्शन या वाद प्राचीन काल से चले आ रहे है। वे हैं—(१) कालवाद, (२) स्वभाववाद, (३) कर्म-वाद, (४) पुरुषार्थवाद एवं (५) नियतिवाद।

इनको मानने वाले एकान्त रूप से अपनी मान्यता को ही सर्वोपरि मानते हैं यानी कर्मवादी केवल कर्म से, पुरुषार्थवादी परिश्रम से और नियतिवादी भाग्य से ही कार्य की सिद्धि होती है, ऐसा कहते हैं। किन्तु स्याद्वाद कार्य की सिद्धि में काल यानी समय को, स्वभाव को, कर्म को, पुरुषार्थ को और भाग्य को, अर्थात् सभी को अपने-अपने स्थान पर आवश्यक मानता है और सभी के अनुकूल होने पर ही कार्य-सिद्धि में विश्वास करता है।

कहने का अभिप्राय यही है कि भगवान महावीर के द्वारा प्रदान किया हुआ अनेकान्तवाद या स्याद्वाद एक अनुपम दृष्टिकोण है जो दार्शनिक, वैज्ञानिक एवं व्याव-हारिक, सभी दृष्टियों से महत्त्वपूर्ण है। इस सिद्धान्त में समन्वय करने की अद्भुत क्षमता है और इसीलिए संसारभर के विचारकों के लिए यह अनुपम वरदान साबित हुआ है। स्याद्वाद ही सत्य भगवान की दिव्य झांकी दिखाता है, चिन्तन के क्षेत्र में अपूर्व प्रकाश फैलाता है तथा विभिन्न धर्मों को एक साथ खड़ा करके उनका सौन्दर्य एवं महत्त्व बढ़ाता है।

(३) अपरिग्रह

भगवान महावीर की संसार को तीसरी देन अपरिग्रह-सिद्धान्त है। आत्म-कल्याण के लिए मोक्ष-मार्ग की साधना करने वाले साधक के लिए और विश्वशान्ति तथा प्रत्येक प्राणी को सुखी देखने की कामना रखने वाले महापुरुष के लिए इस सिद्धान्त का पालन करना अनिवार्य है। इसका पालन करने पर ही उपरोक्त अभीष्ट की सिद्धि हो सकती है।

इस विश्व में अपरिग्रह के समान शुभ और परिग्रह के समान अशुभ वृत्ति अन्य कोई नहीं है। 'प्रश्नव्याकरणसूत्र' में भी कहा गया है—

"नत्थि एरिसो पासो पडिबंधो अत्थि,
सव्व जीवाणं सव्वलोए।"

—संसार में परिग्रह के समान प्राणियों के लिए दूसरा कोई जाल एवं बंधन नहीं है।

वस्तुतः भगवान महावीर ने मानव की प्रकृति को भली-भाँति समझ लिया था और परिग्रह के दुष्परिणामों का बृहद् अवलोकन किया था। इसीलिए उन्होंने संग्रह वृत्ति का घोर निषेध करते हुए मुमुक्षु को इस वृत्ति से बचने का आदेश दिया। उन्होंने कहा—

'मुच्छा परिग्गहो वुत्तो।'

—मूर्च्छा ही परिग्रह है।

खेद की बात है कि मानव ने भगवान के इस आदेश का पालन नहीं किया। फल यह हुआ है कि आज विश्व में चारों ओर अशान्ति ही दृष्टिगोचर हो रही है। मनुष्य मनुष्य का रक्षक होने के बदले भक्षक बना हुआ है तथा एक दूसरे का सर्वस्व हड़पने की घात में लगा हुआ है। इसके प्रमाण हैं—वे तस्कर बाजार, जिनमें अनैतिकता व्याप्त है। वे दो नम्बर वाले खाते, जो हमारी धार्मिकता पर तुषारपात कर रहे हैं, जमाखोरी के वे क्रूर चित्र, जिनमें गरीबों का खून चमक रहा है तथा रेखाओं में दीन-दरिद्रों के आंसुओं की कालिमा छिपी हुई है। कल-कारखाने भी यही प्रमाण देते हैं कि इनमें असंख्य शोषित, पद-दलित, प्रवंचित तथा विवश मानव अपनी हड्डियों को पेल रहे हैं और उनका मांस तिजोरियों में सोना बनकर ढल रहा है। उन्हीं मानवों का रक्त है जो कि स्याही बनकर नोटों को छापने के काम आ रहा है। ऐसी स्थिति में प्रामाणिकता को ठौर कहाँ है? वह तो विद्रूप बनकर पलायन करती जा रही है।

पर प्रामाणिकता को हटाकर अप्रामाणिकता कभी अधिक समय तक अपने पैर जमाये रख सकती है क्या? नहीं, अप्रामाणिकता से संग्रह किया हुआ धन या परिग्रह अल्पकाल में ही मनुष्य के लिए नाना दुखों का कारण बनता है। कहा भी है—

'किं न क्लेशकरः परिग्रहनदी पूरः प्रवृद्धिगतः।'

अर्थात्—नदी के वेग की तरह बढ़ा हुआ परिग्रह भी क्या-क्या क्लेश पैदा नहीं करता ?

वस्तुतः परिग्रह महापाप है जो कि आत्मा को कर्म-बन्धनों से जकड़कर उसका अगला लोक तो मिट्टी में मिलाता ही है, इस लोक में भी चैन नहीं लेने देता। जितने दिन वह रहता है मानव को सर्प के समान अपनी रक्षा में लगाए रहता है और उसके पश्चात् या तो चोरी चला जाता है या छीन लिया जाता है। आजकल समाचार पत्र इन्हीं समाचारों से रंगे रहते हैं कि सरकार ने अमुक व्यक्ति के यहाँ छापा मारकर इतना सोना, चाँदी या रुपया अपने कब्जे में किया या कि अमुक सेठ के गोदामों की तलाशी लेकर हजारों ही नहीं लाखों की कीमत की भिन्न-भिन्न वस्तुएँ निकालीं जो बाजार में अप्राप्य हो रही हैं। इतना ही नहीं, सरकार ने राजाओं के खजाने भी खोज लिए तथा खोद-खोदकर करोड़ों का माल अपने अधिकार में कर लिया।

इन बातों से स्पष्ट है कि पाप भले ही कुछ दिन मनुष्य को कृत्रिम सुख का अनुभव करा दे, किन्तु अन्त में वह अपना फल प्रदान किये बिना नहीं रह सकता। परिग्रह रूपी पाप भी ऐसा ही है। इसे अपनाने वाले व्यक्तियों ने कुछ काल के लिए अपने संचय से सुख और सन्तोष का अनुभव किया होगा, किन्तु उसके बाद ही इसी जीवन में निन्दा, तिरस्कार तथा अपयश का पात्र बन गये और अगले जीवन तो अभी बाकी ही हैं, जिनमें न जाने कौन-कौन-सी हीन गतियों में जाकर कितनी यातनाएँ भोगनी पड़ेंगी।

इसीलिए सन्त-महापुरुष या आत्म-मुक्ति के इच्छुक परिग्रह रूपी महापाप से दूर रहने के प्रयत्न में लगे रहते हैं। वे भगवान के वचनों पर विश्वास रखते हुए सदा यही भावना रखते हैं कि—

"अप्पगाहा समुद्द सलिले अचेल-अत्थेण।'

अर्थात्—ग्राह्य वस्तु में से भी अल्प ही ग्रहण करना चाहिए। जिस प्रकार सागर के अथाह जल में से अपने वस्त्र धोने के योग्य अल्प जल ही ग्रहण किया जाता है।

वस्तुतः अल्प परिग्रह भी किस प्रकार मोक्ष-मार्ग की साधना में विघ्न डालता है, इसे महापुरुष ही बारीकी से समझ सकते हैं। स्वामी रामकृष्ण परमहंस के जीवन का एक प्रसंग इस बात को बताता है—

स्वामी जी संसार से विरक्त होने के कारण सदा आत्म-साधना में जुटे रहते थे। अपने अमूल्य जीवन के एक-एक क्षण का वे सदुपयोग करते थे तथा उन्हें व्यर्थ जाने देना नहीं चाहते थे।

एक बार उनके किसी भक्त ने उन्हें एक बड़ा कीमती वस्त्र भेंट में दिया। स्वामीजी ने उसे प्रसन्नतापूर्वक स्वीकार कर लिया क्योंकि ऐसा बहुमूल्य वस्त्र उन्हें पहली बार ही मिला था।

किन्तु उस कीमती वस्त्र का प्रभाव उन्हें शीघ्र ही दिखाई दे गया। वह इस प्रकार कि जब वे ध्यान करने बैठे तो ध्यान के बीच में ही उस वस्त्र का विचार बार-बार आने लगा। स्वामीजी ने सोचा—"कोई बात नहीं, अभी वस्त्र नया है और अभी-अभी मिला है अतः इसका विचार आ रहा है। कुछ समय बाद मैं स्वयं ही इसे भूल जाऊंगा।"

पर ऐसा हुआ नहीं। कई दिन तक वस्त्र शरीर पर रहा और उनकी दृष्टि पुनः-पुनः उसकी ओर जाती रही। एक दिन उस नये वस्त्र को धारण किये हुए वे अपनी आराध्या महाकाली के दर्शनार्थ भी गये, किन्तु वहाँ भी उस वस्त्र का ही दिमाग में ध्यान बना रहा और देवी की भक्ति में पूरा मन नहीं लगा। यहाँ तक कि जब वे देवी की प्रतिमा के सम्मुख साष्टांग प्रणाम करने लगे तो यह खयाल आया—"जमीन पर लेटकर प्रणाम करने से यह सुन्दर वस्त्र खराब हो जाएगा।"

स्वामी परमहंस विचारों की ऐसी लीला देखकर हैरान हो गये और अगले ही क्षण उस वस्त्र को शरीर से उतार कर दूर फैंकते हुए बोले—"जो भी वस्तु आत्म-साधना में, मन की शान्ति प्राप्त करने में और भगवान से मिलन में व्यवधान डालती है, उसकी मुझे तनिक भी आवश्यकता नहीं, चाहे वह कितनी भी मूल्यवान क्यों न हो।"

इस उदाहरण पर गहराई से विचार करें तो ज्ञात होता है कि जब एक ही वस्त्र को अत्यल्प काल के लिए ही अपने पास रखने पर स्वामी रामकृष्ण परमहंस को साधना में बाधा महसूस होने लगी, तब फिर जो लोग अपने शरीरों पर अनेक वस्त्राभूषण रखते हैं या लाखों का धन संचय कर लेते हैं और तिजोरियों को ठसाठस भर देते हैं, उनका चित्त आत्म-साधना में कैसे लगता होगा ? स्पष्ट है कि नहीं लग सकता। ऐसे व्यक्तियों की तृष्णा तो बढ़ती ही जाती है। तृष्णा की आग भड़क जाने पर फिर सहज ही शान्त नहीं होती।

भगवान ने कहा भी है—

"जहा लाहो तहा लोहो, लाहा लोहो पवड्ढइ।"

—ज्यों-ज्यों लाभ होता जाता है, त्यों-त्यों लोभ भी बढ़ता जाता है।

परिणाम यही होता है कि लोभी मनुष्य अहर्निश अर्थोपार्जन में जुटा रहता है और आत्म-कल्याण की भावना हृदय में फटक नहीं पाती। कदाचित कभी आत्म-मुक्ति का विचार आ भी जाए तो वह अल्पकाल में ही तिरोहित हो जाता है। इस प्रकार अनुचित संग्रह या परिग्रह मानव के लिए अभिशाप है और जन्म-जन्मान्तर तक

के लिए दुःख का कारण है। परिग्रह की वृद्धि करके वह कभी सच्चा सुख हासिल नहीं कर सकता। सच्चा सुख उसे तभी महसूस होता है, जबकि वह परिग्रह को कम से कम कर लेता है। जैसा कि कहा गया है—

'Happy is he, whose wants are few.'

—सुखी वही है जिसकी आवश्यकताएँ कम से कम हैं।

अन्त में केवल इतना ही कि जो भव्य पुरुष भगवान महावीर के अहिंसा, अनेकान्त एवं अपरिग्रह, इन तीनों सिद्धान्तों को आत्मसात् करके जीवन में उतारेंगे वे ही शाश्वत सुख की प्राप्ति कर सकेंगे। □

6

आत्मविकास में अवरोधक : आठफना मद-सर्प

आज आपके जीवन-विकास के एक पहलू पर विशेष रूप से विचार प्रस्तुत करूँगी। संसार के सभी मनुष्य, चाहे वे अमेरिका में पैदा हुए हों, जापानी हों, चीनी हों, पाकिस्तानी हों, हिन्दुस्तानी हों या अफ्रीकन—सभी विकास चाहते हैं। परन्तु चाहते हुए भी मानव का विकास नहीं हो पाता, इसका क्या कारण है ? कौन उस विकास को रोकता है ? उस विकास के मार्ग में कौन-सा रोड़ा अटकता है ?

विकास में बाधक सांप : अहंकार

अगर आप गहराई से सोचेंगे तो आपको मालूम होगा कि मनुष्य के अन्दर एक सांप बैठा रहता है। मनुष्य उसे अपना मित्र समझता है, उसे बार-बार पपोलता है, अपने शरीर पर तो नहीं, मन पर उसे लिपटाए रहता है और उसके चमकीले, गुदगुदे शरीर को बार-बार स्पर्श करता है। परन्तु वास्तव में वह सांप और सांपों से ज्यादा जहरीला है, वह फुफकारता रहता है, और खुद का बहुत बड़ा शत्रु है, जो स्वयं को भी काटता है और दूसरों को भी काटता है, पीड़ा से व्यथित कर देता है। प्रतिक्षण वह फन उठाए रहता है। आप पूछेंगे कि वह सांप कौन-सा है ? उसका क्या स्वरूप है ? उसे कैसे पहिचाना जाए ? उसकी क्या स्थिति है ? हम अगर उससे लड़ना चाहें तो कैसे लड़ें ? कैसे संघर्ष करें और किस प्रकार उस पर विजय पाएं ? जीवन के विकास का प्रश्न इसी पर विजय प्राप्त करने से हल होगा। हमारे शास्त्रकारों ने कहा है—मनुष्य के अन्दर बैठा हुआ वह सर्प है—अहंभाव।

मद और उसके नाना रूप

जिसे हम 'अहं' कहते हैं—उसके अहंकार, दर्प, गर्व, अभिमान और मद आदि एक नहीं, हजारों नाम हैं। उसे जिस नाम से भी पहिचाना जा सके, वही नाम ठीक है। परन्तु आप देखेंगे कि वह झटपट पकड़ में नहीं आता। बड़े-बड़े साधक उसके चक्कर में पड़ जाते हैं। क्योंकि वह एक रूप में ही नहीं आता, अपितु नाना रूपों में आता है। उसका परिवर्तन भी झटपट और विचित्र-विचित्र रूपों में होता रहता है। कभी साधक उसे किसी रूप में देखता है और कभी किसी अन्य रूप में उसे देख पाता है। कभी-कभी तो वह ऐसा हितैषी बनकर और रूप बदल कर आता है कि साधक उसे पहिचान भी नहीं पाता।

जातिमद का अभिशाप

भगवान् महावीर ने इस सर्प को 'मद' कहा है और इसे आठफना सर्प कहा है। यह मोटे तौर पर आठ रूपों में दिखाई पड़ता है। कभी यह मद जाति के रूप में अपना मुंह बाहर निकालता है। आप जानते हैं कि मनुष्य हड्डियों और मांस का ढेर है। शरीर में अनेक घिनौनी वस्तुएँ भरी हैं। ऊपर से यह चमड़ी मढ़ी हुई है। किसी की चमड़ी गोरी है, किसी की काली है। किसी का डीलडौल और रूपरंग अच्छा है और कोई बिलकुल नाटा, बेडौल या काला-कलूटा खराब लगता है। सबके शरीर में मल-मूत्र का भण्डार भरा है। किन्तु फिर भी मनुष्य अपने शरीर पर इतराता है, वह इसी पर ऐंठता है और किसी के घर में या किसी माता के उदर में जन्म ले लेने मात्र से अपने को ऊंचा और श्रेष्ठ मानने लगता है और दूसरों को नीचा समझता है, उन्हें हिकारत और नफरत की नजरों से देखता है।

वास्तव में देखा जाय तो किसी भी मनुष्य के कपाल पर यह नहीं लिखा होता कि वह ऊँचा है या नीचा है। वह श्रेष्ठ है या निकृष्ट है। किन्तु इस जातिमद ने मनुष्य-मनुष्य के बीच में बहुत बड़ी दीवार खड़ी कर दी है। शास्त्र पुकार-पुकार कर कहते हैं—

सक्खं खु दीसई तवोविसेसो, न जाइ विसेस को वि।

अर्थात्—मनुष्य का विशिष्ट तप ही प्रत्यक्ष नजर आता है, कोई जाति-पाँति बाहर से नजर नहीं आती। इतना होने पर भी जातिमद से घिरा हुआ मनुष्य अहंकार-वश होकर, घृणा, निन्दा, ईर्ष्या, हत्या आदि करने पर उतारू हो जाता है। कौम के आपसी झगड़े जरा-सी बात पर सिरफुटौव्वल का रूप ले लेते है। जो जैनधर्म अहिंसा का सन्देश लेकर चला था, उसी जैनधर्म के अनुयायी जातिवाद के शिकार बन कर एक दूसरे के लिए सिरदर्द बन गये। इसी जाति-पाँति के शिकार तथाकथित पोंगापंथी ब्राह्मणों ने लाखों-करोड़ों लोगों का बहिष्कार और तिरस्कार करके उन्हें विधर्मी बनने को मजबूर कर दिया। जाति-पाँति के नाम पर हजारों अत्याचार भी हुए हैं। जाति-मद के कारण ही मनुष्य-मनुष्य के बीच में दीवार खड़ी हुई है। उसका भयंकर नतीजा हिन्दुस्तान भोग चुका है और लगभग दो हजार वर्ष लम्बी राजनैतिक गुलामी भोग चुका है। विदेशों में भी जाति-कौम के नाम पर, रंग-भेद के नाम पर लाखों लोगों को गुलाम बना कर उन पर जुल्म ढहाया गया। भारतवर्ष में जिस प्रकार शूद्रजाति के लिए शिक्षा और विकास के द्वार बन्द थे, वैसे ही पाश्चात्य देशों में—सभ्य माने जाने वाले मुल्कों में—लाखों लोगों को गुलाम बनाकर उन्हें मानवोचित संस्कारों से, शिक्षा, दीक्षा, कला आदि से वंचित रखा गया। कितना बड़ा पाप और पाखण्ड फैलाया है—इस जातिवाद के भूत ने! हमारा देश जातिभेद के कारण एक दो नहीं, हजार वर्ष, भयंकर दुष्परिणाम भोग चुका है। फिर भी जनता की आँखें खुली नहीं हैं। वह अपने जीवन में जाति-पाँति की दीवार को फिर मजबूती से खड़ी करती ही जाती

है। जातिमद का यह साँप उसके अपनाने वाले की आत्मा को तो बुरी तरह काटता ही है, जिसका विष जन्म-जन्मान्तर तक दुःख देता रहता है, इसके सिवाय वह जिस किसी को भी घृणा करके काटता है, उसे भी पीड़ित, पददलित और अपमानित करके तिल-तिलकर मारता है। जातिमद के कारण एक-दूसरे के साथ सहयोग, प्रेम, स्नेह और वात्सल्य को भी तिलांजलि दे देता है मनुष्य !

भारतवर्ष के दार्शनिकों से पूछा गया—"आत्मा की कौन-सी जाति है ?" तो उन्होंने यही कहा—'आत्मा की कोई जाति नहीं।' आत्मा आत्मा है, अजर-अमर अविनाशी है। आत्मा न तो ब्राह्मण है, न शूद्र है, न क्षत्रिय है और न ही वैश्य। न ही आत्मा का कोई काला-गोरा रूप है। न आत्मा का कोई स्पर्श, रस, गन्ध, शब्द या रूप है। न आत्मा पर कोई आवरण है, जिसके आधार पर हम यह कह सकें कि आत्मा अमुक जाति की है।

जातिमद निराधार है

प्रश्न होता है कि जाति आत्मा की न सही, शरीर की तो होती है। शरीर के आधार पर ही तो जाति मानी जाती है। इसके उत्तर में भी दार्शनिक गड़बड़ाए नहीं। वे साफ कहते हैं कि शरीर की क्या जाति ? उसकी तो पुद्गल और जड़ जाति है। शरीर के ढांचे और कद चाहे भिन्न-भिन्न हों, उसकी रचना एक ही ढंग से होती है। संसार के सभी मनुष्यों का शरीर पंचभूतों से बना हुआ है। किसी का शरीर हड्डी, मांस, मज्जा, त्वचा आदि सप्त धातुओं के अलावा अन्य किसी धातु का बना हो, ऐसा देखने में नहीं आता। जिस प्रकार एक उच्चवर्णाभिमानी का शरीर मरने पर जब चिता में भस्म हो जाता है, तब क्या उसकी राख में कोई विशेष प्रकार की सुगन्ध आती है ? न राख के स्वाद में ही कोई अन्तर आता है। शरीर के राख हो जाने पर यह पता ही नहीं चलता कि यह ब्राह्मण के शरीर की राख है और यह क्षत्रिय-शरीर की राख है। क्या ब्राह्मण के शरीर में कोई सोने-चाँदी की शलाकाएँ लगी हुई होती हैं या उसके शरीर में मलमूत्र की जगह दूध भरा होता है ? आखिर वह भी तो हड्डियों और मलमूत्र का पिण्ड है।

यही कारण है कि भारतवर्ष के किसी भी दर्शन और धर्म ने जाति को महत्त्व नहीं दिया। उन्होंने जन्म को नहीं, गुण-कर्म को महत्त्व दिया है। आत्मा की जाति न तो शरीर से ही घटित होती है और न ही अन्य किसी तरह से। शरीर को लेकर जातियां जरूर प्रचलित की गईं, लेकिन जैनाचार्य से जब जाति के बारे में पूछा गया तो उन्होंने साफ-साफ कह दिया—

'मनुष्यजातिरेकैव जातिकर्मोदयोद्भवा'

—जाति नामकर्म के उदय से मनुष्यजाति एक ही है। असल में, अलग-अलग जातियां मानी ही नहीं गई थीं।

वर्णव्यवस्था धंधों के लिए, मद के लिए नहीं

वर्णव्यवस्था की गई थी, सो केवल धंधों के आधार पर ! उनमें कोई उच्च-नीच या श्रेष्ठ-कनिष्ठ की कल्पना नहीं थी। वर्णव्यवस्था केवल बाजार के लिए थी। परस्पर सिरफुटौव्वल मचाने के लिए वर्ण नियत नहीं किये गये थे। भगवद्गीता में स्पष्ट कहा है—

'चातुर्वर्ण्यं मया सृष्टं गुणकर्म विभागशः।'

—मैंने चार वर्णों की रचना गुण और कर्म के विभाग को लेकर की है।

कर्म से ही ब्राह्मण-क्षत्रिय आदि बनता है

और जैनधर्म के अन्तिम तीर्थंकर श्रमण भगवान् महावीर ने भी पावापुरी के अपने अन्तिम प्रवचन में स्पष्ट कहा है—

कम्मुणा बंभणो होई, कम्मुणा होई खत्तिओ।
वइसो कम्मुणा होई, सुद्दो हवई उकम्मुणा॥

मनुष्य अपने कर्म (धंधे से) ही ब्राह्मण होता है, कर्म से ही क्षत्रिय होता है, कर्म से ही वैश्य होता है और कर्म से ही शूद्र ! जैनधर्म जन्मना जातिवाद को कोई महत्त्व नहीं देता। भगवान महावीर से जब जातियों के बारे में पूछा गया कि "भगवान् जातियाँ कितने प्रकार की है ?" तब उन्होंने बिना लागलपेट के सत्य बात कह दी—"जातियाँ पांच हैं। वे इस प्रकार है—एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय और पंचेन्द्रिय।"[1]

मनुष्य ऊँच-नीच जन्म से नहीं बनता, वह कर्म से ही बनता है। यदि मनुष्य का कर्म पवित्र है, और वह शूद्र है तो उसे पवित्र ही मानना चाहिए; और कर्म अपवित्र है तो चाहे वह ब्राह्मण भी है, तब भी उसे अपवित्र समझना चाहिए। इस दृष्टि से तो जातियाँ बदलती रहती हैं। एक मनुष्य आज शूद्र है, कल को वह ब्राह्मण का कर्म अपना लेता है—पवित्र सदाचारी बन कर सदाचार का उपदेश देता है तो वह ब्राह्मण है और ब्राह्मण भी निन्द्य एवं घृणित पाप-कर्म अपना लेता है तो वह ब्राह्मण के वेश में भी चाण्डाल है, शूद्र है, नीच है।

निष्कर्ष यह निकला कि तथाकथित उच्चजाति या वर्ण वाला कर्म नीच करता है तो हम उसे नीचा समझते है और अगर नीच-जाति या वर्ण वाला भी उच्च-कर्म करता है तो हम उसे ऊँचा समझते है। रावण कौन था ? कितना शक्तिशाली था ? जब यह प्रश्न उठा कि रावण ब्राह्मण था या क्षत्रिय ? तब जैन रामायणकारों

---

१ "कतिविहाओ जाइओ भंते ?" गोयमा ! जाइओ पंचविहाओ, तं जहा— एगिंदिया, बेइंदिया, तेइंदिया, चउरिंदिया, पंचेंदिया य।

—समवायांग

ने उसे क्षत्रिय बताया और वैदिक रामायणकारों ने उसे बताया—ब्राह्मण। एक बार यह विवाद छिड़ गया तो जैन-वैदिक दोनों ही परम्परा के लोग विवाद करने लगे। इतने में वहाँ एक संत पहुँच गये। संत के सामने दोनों ने अपना मामला रखा कि बताइये—रावण ब्राह्मण था या क्षत्रिय ? संत भी पशोपेश में पड़ गये। संत ने कहा—मैं अपना निर्णय बाद में दूँगा। पहले तुम राजदरबार में जाकर तो पूछ लो। दोनों पक्ष के विवादकर्ता राजदरबार में पहुँच गये, यह मामला लेकर। वहाँ भी वर्षों हो गये। रावण के मामले में कोई निर्णय नहीं दिया जा सका। आखिर वे सन्त के पास पहुँच कर बोले—"महाराज ! आप ही फैसला कर दीजिए कि रावण ब्राह्मण था या क्षत्रिय ?" संत मुस्कराए और कहा—"तुम पागल हो गये हो, क्या ? रावण न तो क्षत्रिय था और न ही ब्राह्मण, वह तो राक्षस था। क्या किसी क्षत्रिय और ब्राह्मण का यह कर्म है कि वह किसी दूसरे की स्त्री को उड़ा लाए ? वर्ण में चल कर भले ही रावण ब्राह्मण रहा है, परन्तु वैदिक परम्परा वालों ने तो अन्त तक उसे राक्षस ही बताया है। इसी प्रकार रावण वर्ण में चलकर भले ही क्षत्रिय रहा हो, लेकिन जैनों ने भी उसे राक्षस माना है।"

हाँ तो, हमारा फैसला प्रारम्भ से नहीं, अन्त से होता है। और जीवन का अन्तिम परिणाम ही सही स्थिति को बताता है कि कौन ब्राह्मण, क्षत्रिय, देव, दानव या मानव रह सका; कौन नारकीय जीवन गुजार सका।

जातियाँ भी कर्म के अनुसार बदलती हैं

और तथाकथित जो जातियाँ बनाई गई हैं, वे भी तो जीवन में कर्म के बदलने से, शुभाशुभ कार्य के करने से बदल जाती हैं। काका कालेलकर ने ऐसे व्यक्ति का उदाहरण अपनी एक पुस्तक में दिया है कि एक व्यक्ति ने ब्राह्मण के घर में जन्म लिया था। वह किसी के साथ बर्मा चला गया। वहाँ जा कर उसने बढ़ईगीरी का काम सीख लिया और वह बढ़ई बन गया। किन्तु कुछ वर्षों बाद जब बढईगीरी में कमाई कुछ नहीं होने लगी तो वह मुसलमान कसाई बन गया और एक कसाई के साझे में मांस की दूकान कर ली। बतलाइए, कहाँ गये उसके जाति-संस्कार ? और कहाँ रहा उसका ब्राह्मण जाति का मद ? क्योंकि जातियाँ स्थायी नहीं हैं, वे तो टेम्परेरी हैं, केवल बाजार की व्यवस्था के लिए बनाई गई थीं। मनुष्य अच्छा या बुरा तो कर्म—कार्यों से ही पहिचाना जाता है।

जाति-कौमवाद का भयंकर नशा

मुझे बड़ा आश्चर्य होता है जब मनुष्य जन्मना जाति का आधार लेकर अपने झूठे अहंकार का प्रदर्शन करता है। किन्तु अन्ततोगत्वा इस झूठे जातिमद का भंडा फूट जाता है। नीच से नीच और दुराचारी मनुष्य भी दूसरी जाति वाले को देखते ही जातिमद में उफन पड़ता है कि मेरी जाति श्रेष्ठ है, मैं ऊँचा हूँ। दूसरी जाति वालों ने चाहे जितने अच्छे ऊँचे कर्म किये हों, उनमें चाहे जितनी अच्छाई रही हो तो भी इस जातिमद के नशे में आकर मनुष्य अच्छाई या गुणों की कद्र नहीं करता।

कौमवाद का नशा कितना बुरा होता है, इसका एक उदाहरण लीजिए—

महात्मा गांधी के भक्तों में से एक थे शौकतअली। जब गांधीजी से उनका किसी बात पर मतभेद हुआ तो वे अलग हो गये और गांधीजी के विरोधी बन गये। उन पर जाति-कौमवाद का नशा इतना चढ़ा हुआ था कि गांधीजी के लिए जब किसी ने पूछा तो उन्होंने कहा—गांधीजी अच्छे आदमी हैं, बहुत बड़े इन्सान हैं, उनका इख़लाक बहुत ऊँचा है, परन्तु वे चाहे जितने ऊँचे क्यों न हों, मगर एक मुसलमान, जो शराब पीता हो, गोश्त खाता हो या व्यभिचार करता हो, तो भी वह गांधीजी से ऊँचा है, क्योंकि वह मुसलमान है।"

गांधीजी चूंकि मुसलमान नहीं थे, इसलिए वे नीचे माने गये, शौकतअली की दृष्टि में। यह तर्क सुनकर हमारा मन नाराज होता है, किन्तु हमारे ब्राह्मण पण्डित भी तो यही तर्क देते रहे कि ब्राह्मण चाहे जितने नीच कर्म करता हो, वह शराब पीता हो, परस्त्रीगामी हो, फिर भी वह श्रेष्ठ है। शौकतअली और प्राचीन ब्राह्मणों का तर्क तो एक ही तरीका है। दोनों जन्म से—ब्राह्मण या मुसलमान के घर में पैदा होने मात्र से—इन्सान को श्रेष्ठ मानते हैं। कर्म के आधार से दोनों ही इन्सान को नहीं नापते। इसीलिए तो गांधीजी को शराबी व गुण्डे मुसलमान से भी गये बीते मानने को शौकतअली तैयार हो गये, क्योंकि गांधीजी मुसलमान नहीं हैं। ये गलत तर्क आपके गले नहीं उतरेगा, न उतरना चाहिए। क्योंकि यह तर्क केवल झूठे जाति-मद के आधार पर प्रस्तुत किया गया है। इसके पीछे मनुष्य का जातीय अहंकार काम कर रहा है।

कुलमद भी कम भयंकर नहीं

इसी प्रकार मनुष्य के अन्दर जो मद (अहंकार) का सर्प बैठा है, उसका दूसरा फन है—कुल-मद। मनुष्य चाहे चारित्रवान न हो, चाहे अनैतिक काम करता हो, चाहे वह वायदा करके मुकर जाता हो, परन्तु किसी तथाकथित कुल में जन्म लेने के कारण वह अपने आपको उच्च और दूसरों को नीच मानने लगता है। यह खानदान का झूठा घमंड भी मनुष्य को नीचे गिराता है। अगर कोई व्यक्ति किसी उच्च-कुल में पैदा हुआ है तो उसे दूसरों से घृणा, द्वेष, ईर्ष्या या नफरत करने की क्या जरूरत है? इसका मतलब है कि उस मनुष्य में अच्छाई या ऊँचाई तो है नहीं, वह [illegible] अच्छाई से आती है, इसलिए उस रिक्तता को भरने के लिए, वह कुल का [illegible] है, कुल के सहारे से वह अपने आपको ऊँचा या अच्छा सिद्ध करना चाहता है। इन खानदानों के नशे ने भी बहुत उपद्रव खड़ा कर दिया। कुलों की व्यवस्था तो नैतिक मर्यादाओं के पालन करने की दृष्टि से की गई थी, किन्तु अब [illegible] अहंकार-पोषण की और दूसरों से घृणा करने की चीज।

अक्सर यह देखा जाता है कि मनुष्य के [illegible] हो जाता है तो वह कुलीनता और [illegible]

शराब, मांसाहार और ऐश के चक्कर में पड़कर अपने जीवन को बर्बाद कर देता है और अपने कुल को भी बदनाम कराता है। क्या ऐसे व्यक्ति का कुल का अहंकार सच्चा है? सारा अहंकार बालू की दीवार के समान कुल के सहारे टिका हुआ है, पर है वह झूठा ही। और फिर आपके रिश्ते-नाते भी इन्हीं कुलों के आधार पर तय होते हैं। एक लड़का खानदानी है, किन्तु आवारा फिरता है, बुरी सोहबत में रहता है, कई दुष्कर्म करता है। लड़की वाले अपनी लड़की की उसके साथ सगाई करने के लिए आते हैं। उसे देखते हैं। उसके कुकर्मों की कथा भी सुनते हैं, परन्तु सब कुछ सुन-सुनाकर अन्त में फैसला कर लेते हैं कि कुछ भी हो, लड़का खानदानी घर का है? क्या हुआ? लड़के की समस्त बुराइयों पर हड़ताल फेर दी जाती है, केवल खानदान शब्द के चक्कर में आकर। यह है खानदान का मद, जो बड़ों-बड़ों के दिमाग क्षणभर में बदल देता है, दुनियाभर की गंदगी, खानदान की मिट्टी के नीचे दब जाती है। दरिद्रता आ चुकी है, परिस्थिति खराब हो चुकी है, दुर्व्यसन में सारी सम्पत्ति स्वाहा हो चुकी है, फिर भी कुलीनता के नाम पर किसी कुप्रथा या कुरूढ़ि के पोषण के लिए हजारों रुपये का कर्जदार बन कर जिंदगीभर पिसता रहता है। इस प्रकार के एक-दो नहीं, हजारों व्यक्ति मिलेंगे, जो खानदान के अहंकार के नशे में चूर होकर हजारों रुपये व्यर्थ खर्च कर देंगे, किन्तु अगर किसी दीन-हीन, गरीब को कुछ सहायता देने का प्रश्न आएगा, वहाँ हिचकिचाएँगे, बहाने बनाएँगे। कुल का उपयोग सदाचार और सद्विचार के अर्थ में होता था। वह तो रहा नहीं। मूल प्रश्न था, उसे तो समाप्त कर दिया गया। कुल का जो प्राण था, वह तो निकल चुका, केवल निःसत्त्व कलेवर रह गया। हजारों आदमी कुल के गर्व पर जीवन को बर्बाद करते जा रहे हैं। वे न अपनी हैसियत देखते हैं न अपनी आय-व्यय का नापतौल करते हैं और न ही उचित-अनुचित का विवेक करते हैं। ऐसे कुलमद से ग्रस्त व्यक्ति के जीवन में विवेक का प्रकाश शायद ही प्रस्फुटित होता है कि वह कुल-परम्परा के नाम पर चलने वाले गलत कामों को, फिजूलखर्ची को बन्द कर दे। इसलिए कुलमद का सांप भी बार-बार डसता है, अपने को और दूसरों को भी; फिर भी मनुष्य उसे पपोलता है। कुल के अहंकार का नशा कोई भाट या चारण विरुदावली गाकर चढ़ा देता है तो मन गुदगुदाने लगता है और वह हजारों रुपये कुलमद की वेदी पर यों ही चढ़ा देता है। परन्तु कुलमद के सांप को वश में करने का संकल्प किसी विरले में ही पैदा होता है। अधिकांश लोग तो प्रवाह में बहते चले जाते हैं।

ज्ञानमद के खतरनाक रूप

इसके बाद तीसरा फन है—ज्ञानमद का। ज्ञान का मद भी बड़ों-बड़ों को सताता है। ज्ञान का अहंकार रूपी सर्प जब मनुष्य को डसता है तो वह अपने आपे में नहीं रहता। वह अपने सिवाय सभी को मूर्ख समझने लगता है। भर्तृहरि ने ज्ञानमद से ग्रस्त व्यक्ति का बड़ा सुन्दर चित्र खींचा है—

"यदा किंचिज्ज्ञोऽहं गज इव मदान्धः समभवम् ।
तदा सर्वज्ञोऽस्मीत्यभवदवलिप्तं मम मनः ।
यदा किञ्चित् किञ्चिद्‌बुधजनसकाशादवगतम् ।
तदा मूर्खोऽस्मीतिज्वर इव मदो मे व्यपगतः ॥"

—जब मैं थोड़ा-बहुत जानने लगा, तब हाथी की तरह (ज्ञान के) मद में अन्धा हो गया और मेरा मन उस समय इस प्रकार के अहंकार से लिप्त हो गया कि मैं सर्वज्ञ हूँ। किन्तु जब विद्वानों के सम्पर्क से कुछ-कुछ ज्ञान प्राप्त किया, तब मुझे लगा कि मैं तो अभी मूर्ख हूँ। इस प्रकार मेरा ज्ञानमद बुखार की तरह उतर गया।

ज्ञान अनन्त है, उसका कोई ओर-छोर नहीं है। सामान्य आदमी थोड़ा-सा पढ़-लिखकर या शास्त्रों का अध्ययन करके क्या उस अनन्तज्ञान की थाह पा सकता है ? परन्तु 'अधजल गगरी छलकत जाय' की कहावत की तरह अधकचरा ज्ञान प्राप्त करके कुछ लोग इतने मदान्ध हो जाते हैं कि वे मद में आकर गुणीजनों एवं विद्वानों का अनादर कर बैठते हैं, उनकी निन्दा और भर्त्सना करके अपने ज्ञानलव का ढिंढोरा पीटते रहते हैं। मनुष्य को विद्या प्राप्त करके या शास्त्रों का अध्ययन करके नम्र बनना चाहिए, उसके बदले वे विद्या पढ़कर अधिकाधिक अहंकारी, उद्धत और अविनीत बनते जाते हैं।

पुराने जमाने में ज्ञानमद से लिप्त लोग शास्त्रार्थ करते थे। पहलवानों की तरह वाद-विवाद के अखाड़े में उतरते थे और अपने-अपने तर्कों और युक्तियों के दाव-पेंच चलाते थे। पर प्रायः उनका ज्ञान छिछला होता था, जो कुछ होता था, वह रटा-रटाया होता था। उसी को वे शास्त्रार्थ के समय उगल देते थे। वाद-विवाद में केवल विजिगीषा (दूसरे को जीतने की इच्छा) हुआ करती थी, वहाँ जिज्ञासा (जानने की इच्छा) का तो नामोनिशान नहीं होता था। इसलिए हार-जीत के आधार पर ही उनके ज्ञानमद का पारा उतरता-चढ़ता था। वह वाद-विवाद या शास्त्रार्थ जीवन की किसी उलझी हुई गुत्थी को सुलझाने और जिज्ञासापूर्वक किसी बात के रहस्य को जानने-समझने के लिए नहीं होता था। ऐसा होता भी कैसे ? क्योंकि विवाद या शास्त्रार्थ केवल ज्ञानमद के आधार पर हुआ करता था, वह नम्रता से अनुप्राणित तो होता ही नहीं था।

कई लोग ऐसे दुर्विदग्धों (अधकचरे पण्डितों) या पण्डितम्मन्यों को ज्ञानमद का मद पिलाकर सांडों की तरह आपस में लड़ाया करते थे और तमाशा देखते थे।

इसलिए ज्ञानमद भी सांप से कम भयंकर नहीं है। इस मद का विष चढ़ जाने पर जल्दी उतरता नहीं, मनुष्य अपनी भूल स्वीकार करने या अपनी गलती मानने को तैयार नहीं होता। 'विद्या ददाति विनयम्' से यह कोसों दूर होता है। 'विद्या विवादाय' ही उसका मूलमंत्र होता है।

ज्ञान हमारे विवेकनेत्र खोलने के लिए, हमें अपना आत्म-दर्शन कराने के

लिए होते हैं। वे एक प्रकार से दर्पण हैं, जो हमें जीवन के अच्छे-बुरे चित्र दिखा देते हैं। प्रभु के दर्शन के लिए भी वे हमारे मार्गदर्शक बनते हैं। परन्तु कब ? जब शास्त्रों का अध्ययन करने वाला नम्रतापूर्वक, जिज्ञासापूर्वक, विवेकनेत्र खोलकर उन्हें ग्रहण करता है। अगर वह शास्त्र की बातें सुनकर शास्त्रकार की गलती या दोष ढूंढ़ने में लग जाता है, अथवा शास्त्रकार की निन्दा करने लगता है, शास्त्र की अच्छी बातों को छोड़कर उनकी उस युग की बातों को लेकर अथवा शास्त्र वाक्य के किसी एक हिस्से को पकड़ कर उसकी छीछालेदर करने लगता है या खण्डन करने में लग जाता है तो उस शास्त्र से व्यक्ति कुछ सीखने और अनुभव ग्रहण करने के बदले अपने ज्ञान-मद को ही बढ़ाएगा। ज्ञानाग्नि से अपने दुष्कर्मों को नष्ट करने के बजाय ज्ञानमद-ग्रस्त व्यक्ति मदजनित कर्मों में और वृद्धि कर लेता है। शास्त्रों के अध्ययन के साथ-साथ व्यक्ति में नम्रता, विचार-सहिष्णुता, विनय और विवेक आना चाहिए, उसके बदले शास्त्राभिमानी में उद्दण्डता, कुत्तों की तरह लड़ने की वृत्ति, अविनय और अविवेक आ जाता है। वह ज्ञान के मद में फटा-फटा-सा रहता है और हर किसी को वादविवाद या शास्त्रार्थ के लिए ललकारता रहता है। वह ज्यों-ज्यों शास्त्रों का अध्ययन करता जाता है, त्यों-त्यों उसका अहंकार दूसरों के विचारों का येन-केन-प्रकारेण खण्डन में, अपने दुराग्रह के पोषण में और कुत्तों की तरह लड़ने में प्रवृत्त हो जाता है। यदि सारी जिंदगी इस तरह से कुत्तों की तरह लड़ने में गुजर जाए तो शास्त्रों का अध्ययन क्या किया ? जैसे गली के दो कुत्ते टुकड़ों के लिए लड़ते रहते हैं, वैसे ही अगर शास्त्रज्ञ व्यक्ति शास्त्र रूपी शस्त्रों को लेकर लड़ते रहें तो कुत्ते की वृत्ति में और उस शास्त्रज्ञ की वृत्ति में क्या अन्तर रहा ? कुत्ता जूठन के लिए लड़ता है और शास्त्रज्ञ अभिमान की जूठन के लिए लड़ता है तो क्या फर्क रहा कुत्ते और उस शास्त्रजीवी में ?

शास्त्रमदमत्त दो सगे भाइयों में मेल संभव नहीं

आचार्य हरिभद्र, जैन समाज के उद्भट विद्वान् और समभावी आचार्य हो चुके हैं, उन्होंने एक जगह अपने अनुभव की आँच में तपी हुई बात कह दी—

"संसार की वर्तमान परिस्थितियों को देखते हुए मुझे ऐसा प्रतीत होता है कि गली के दो कुत्ते सम्भव है कभी आपस में मिलें तो उनमें प्रेम हो जाए, परन्तु दो सगे भाई, एक ही माँ के उदर में लोटे हुए दो सहोदर यदि भिन्न-भिन्न धर्म या पंथ में चले जाएँ तो उनमें परस्पर प्रेम नहीं हो सकता। उनमें एकता और मेलजोल के भाव पैदा नहीं किये जा सकते।" आचार्य को इतनी बड़ी अनुभवसिद्ध बात कहनी पड़ी, इसका अर्थ है—धर्म, पंथ और शास्त्र का अहंकार इस हद तक दूषित और पतित कर देता है कि व्यक्ति उनके नाम पर मानवता, भ्रातृभाव और प्रेमभाव को तिलांजलि दे सकता है। दो सहोदर भाई भी अपने पंथ और शास्त्र के नाम पर अपने अहंकार को आगे करके परस्पर संघर्ष के लिए तैयार रहते हैं। इसीलिए भगवान् महावीर ने

साधकों को चेतावनी दी कि यह ज्ञान का मद भी मानव की जिंदगी को बर्बाद कर देता है, सत्य की प्राप्ति से भी वंचित कर देता है।

ऐश्वर्यमद का दानवीय रूप

इसके पश्चात् नम्बर आता है—ऐश्वर्यमद का, जो सांप की तरह मनुष्य के अन्दर कुण्डली मारे बैठा रहता है। जब भी कोई प्रसंग आता है तो वह फुफकारता हुआ अपना फन बाहर निकालता है। इसीलिए गोस्वामी तुलसीदासजी को कहना पड़ा—

'प्रभुता पाइ काहु मद नाहीं'

प्रभुता पाकर किसे मद नहीं आ जाता? एक दीनहीन को जब जरा-सी कुर्सी मिल जाती है तो वह अपने आपे में नहीं रहता। हुकूमत क्या मिली, मानो ईश्वरीय राज्य मिल गया। ऐश्वर्य-मदान्ध न्याय-अन्याय कुछ नहीं देखता। वह अभिमान में आकर अपने मुख से निकले हुए वचन को ही न्याय मानता है।

मान लीजिए, दो साथी हैं। दोनों की आर्थिक स्थिति समान है। दोनों साथ-साथ रहते हैं, साथ-साथ जाते-आते हैं, किन्तु दोनों में से जब एक किसी उच्च पद पर पहुंच जाता है, मिनिस्टर बन जाता है तो उस कुर्सी पर दूसरे साथी को अपना साथी नहीं मिलेगा, और ही कोई बैठा मिलेगा। क्योंकि उसका जो साथी था, वह तो नम्र, मिलनसार और हमदर्द था। परन्तु जब कुर्सी पर पहुंच जाने के बाद वह बदल गया है। वह अब पहले जैसा साथी नहीं रहा। अब वह न नम्र है, न मिलनसार और न हमदर्द। वह अपने अहंकार के बल पर नाचता है। ऐश्वर्यमद ने उसका तौर-तरीका बदल दिया है। उसके सोचने का ढंग ही और हो गया है। कुर्सी पा जाने पर मनुष्य को कुर्सी का अहंकार छू जाता है तो वह अपने साथियों को भूल जाता है। वह अपने अतीत को भूल जाता है।

ऐश्वर्यमदनिवारण का उपाय : अतीत को मत भूलो

[illegible] राजा की चित्रशाला में एक चित्रकार कार्य करता था। चित्रकार ने एक मोर ऐसा चित्रित किया मानो सजीव हो। एक दिन राजा चित्रशाला देखने आया। उस समय चित्रकार नहीं था। चित्रकार की लड़की थी। राजा चित्रित मोर को देखकर इतना भावविभोर हो गया कि वह चित्र के मोर को सचमुच पकड़ने लगा। इसे देखकर चित्रकार की पुत्री हँस पड़ी और कहने लगी—बस, मिल गया मेरा चौथा पाया। राजा ने पूछा कि क्या बात है? तुम्हें हँसी क्यों आई? चित्रकार पुत्री बोली नहीं। राजा ने जब बहुत आग्रह किया तो वह कहने लगी—"मुझे तो तीन पहले मिल ही गए थे, आज चौथे तुम आज मिल [illegible]" राजा ने पूछा—"कैसे?" चित्रकार पुत्री ने कहा—"पहला मूर्ख मेरा पिता है, [illegible] पर भोजन के लिए जाता है। दूसरा मूर्ख [illegible] है, [illegible] जाता। [illegible] ऐसा ही चित्रकार हो, उसकी [illegible] नहीं [illegible]

का प्रसिद्ध वणिक है जो चित्रकला की कीमत कम आँकता है और चौथे मूर्ख आप हैं। माफ करिये, आप जब जानते थे कि चित्रशाला में मोर चित्रित किया गया है, फिर भी मोर को पकड़ने के लिए आपने हाथ मारा।" राजा लड़की की बुद्धिमत्ता और प्रतिभा से अत्यन्त प्रभावित हुआ। लड़की वैसे सौम्य और सुन्दर भी थी। अतः राजा ने मन ही मन उससे विवाह करने का विचार कर लिया। जब लड़की का पिता चित्रकार आया तो राजा ने उसे बहुत बड़ा पुरस्कार चित्र के लिए दिया और पुत्री का विवाह राजा ने अपने साथ कर देने का प्रस्ताव रखा। पहले तो उसने आनाकानी और संकोच किया, लेकिन राजा ने जब अधिक आग्रह किया तो अपनी लड़की से पूछ कर शुभमुहूर्त में राजा के साथ उसका विवाह कर दिया।

विवाह के बाद जब चित्रकार की पुत्री रानी बनकर आई तो उसकी दूसरी सौतें उसे कनखियों से देखने लगीं। चित्रकार पुत्री की बुद्धि में कुछ ऐसा चमत्कार था कि उसने राजा को प्रभावित कर दिया। राजा अब उसी के पास अधिकतर आने लगे। दूसरी रानियों के मन में इसके प्रति द्वेष पैदा हुआ। चित्रकार पुत्री में एक विशेषता थी वह प्रतिदिन सन्ध्या समय अपने पिता के यहाँ जिन मोटे व सादे वस्त्राभूषणों को पहनती थी, उन्हीं में सुसज्ज होकर प्रभु से प्रार्थना करती—"प्रभो! मैं वही चित्रकार-पुत्री हूँ, रानी बनकर बढ़िया वस्त्राभूषणों में मैं अपने पूर्वजीवन को भूल न जाऊँ। प्रभो, मुझ में अभिमान न आ जाये ऐश्वर्य का, कि मैं राजरानी हूँ। मैं तो वही गरीब चित्रकार की बेटी हूँ।" दूसरी रानियों को यह देखकर शक हुआ। उन्होंने राजा के कान भर दिये कि प्राणनाथ! यह कोई जादूगरनी है। रोज शाम को पुराने फटे-से कपड़े पहन कर यह पूजा करती है। पता नहीं, क्या-क्या मंत्र बोलती है। अगर आपको हमारी बात पर विश्वास न हो तो आप स्वयं छिप कर देख लीजिये। इस चित्रकारपुत्री (नई रानी) का यह हाल था कि दिन भर राजसी वेशभूषा और शृंगार में रहती और शाम को जैसा कि मैंने कहा था, अपना नित्यकर्म करती थी। राजा ने गुप्तरूप से इस नई रानी की जाँच की। देखा तो पुराने, सादे और मोटे कपड़े पिटारी में से निकालकर पहने और फिर आँखें मूँदकर एकाग्रचित से हाथ जोड़कर मन ही मन कुछ बोलकर फिर उसने मस्तक झुकाया और अपने पुराने कपड़े पिटारी में रखकर रानी ने नये कपड़े पहने और बाहर आई। राजा ने उसे देखते ही कहा—"प्रिये! क्या कर रही थीं तुम? क्या मंत्र पढ़ती हो? क्या किसी को वश में करने के लिए जादू-टोना कर रही थीं?" रानी ने नमस्कार करके विनयपूर्वक कहा—"मैं मंत्र तो रोजाना पढ़ती हूँ। यह तो मेरा प्रतिदिन का नियम है। इसे आप जादू कहो तो यह जादू संसार को वश में करने के लिए नहीं है, अपितु अपने आपको वश में करने के लिए है। जादू तो दूसरों पर चलाया जाता है, पर यह मंत्र मैं अपने पर चलाती हूँ।"

"अपने आप पर तुम क्या जादू चलाती हो और क्यों?" राजा ने पूछा। बुद्धिमती रानी ने कहा—"प्राणनाथ! मैं निर्धन थी, मुझे अपने पिता के यहाँ ठीक तरह से

खाना भी नसीब नहीं होता था। मैंने इन्हीं वस्त्रों में अपना बचपन गुजारा। भगवान की कृपा से मुझे बुद्धि और सुन्दरता मिली। आपकी कृपा से मुझे राजरानी पद मिला। इसलिए मैं अपने अतीत को न भूल जाऊँ, इसके लिए अपने पुराने वस्त्रों में सुसज्ज होकर अपने आपको प्रभु की साक्षी से समझाती हूँ कि "अरी लड़की! तू वही चित्रकार की निर्धन पुत्री है, तू वैभव और ऐश्वर्य पाकर दीवानी मत हो जाना, जिससे परमात्मा के सामने अपराधी बने। बस, मेरा रोजाना यही कार्यक्रम रहता है।"

राजा सुनकर अत्यन्त प्रसन्न हुआ। उसकी भ्रान्ति दूर हो गई। राजा उस बुद्धिमती रानी का पहले से अधिक सम्मान करने लगा।

कहानी का हार्द यही है कि वैभव, ऐश्वर्य या उच्च पद पाकर अपने भूतकाल को मत भूलो। अगर अपने अतीत को विस्मृत नहीं करोगे तो आपको ऐश्वर्यमद नहीं घेरेगा। आप अपने भूतपूर्व कष्टप्रद दैन्ययुक्त जीवन का स्मरण करके वैभव और ऐश्वर्य के स्वामी बनकर गरीबों के दुःख-दर्द में साथी बन सकेंगे। अपने पुराने साथियों, सहयोगियों और उपकारियों को भूलेंगे नहीं। सदा अपना असली स्वरूप आपके सामने चमकता रहेगा।

ऐश्वर्यमद का कारण : धन प्राप्ति

ऐश्वर्यमद मनुष्य में तब आता है, जब पास में जरा धन इकट्ठा हो जाता है। लोग धन को देखकर उसे किसी न किसी पद पर प्रतिष्ठित कर देते हैं। और इन्सान का कुछ ऐसा क्षुद्र स्वभाव है कि जरा-सा धन का ढेर हो गया या ऐश्वर्य ने करवट ली तो वह अपने सारे अतीत को तथा अपने पुराने साथियों-सहयोगियों को भूलकर वर्तमान से चिपक जाता है।

किसी निर्धन के पास जरा-सा धन आते ही लोगों ने उसे गाँव का चौधरी बना दिया। एक बार एक पण्डितजी गाँव में पहुँचे। वे पहली ही बार इस गाँव में आए थे। एक आदमी से पूछा—"बताओ, इस गाँव का चौधरी कौन है?" वह हँसा, मुस्कराया और बोला—"पण्डितजी! पिछले साल मैं चौधरी था, इस गाँव का। इस साल मेरा भाई चौधरी है। उसके यहाँ १०-२० मन गल्ला ज्यादा हो गया, इसलिए वह चौधरी बन गया। अगले साल देखेंगे, कौन चौधरी होता है?"

अभिप्राय यह है कि आजकल प्रायः धन के आधार पर ही पद दिया जाता है। गुण और चरित्र को नहीं देखा जाता। इस प्रकार पद पाते ही मनुष्य पद के नशे में कर्तव्य को भूल जाता है, इन्सानियत को ठुकरा देता है। अपनी पिछली अभाव-ग्रस्त जिन्दगी को याद नहीं करता।

इसीलिए शास्त्रकार सदा यही कहते रहे हैं—अतीत को भूलो मत, वर्तमान में भटको मत, आदर्श से स्पर्श करते रहो। हारो मत। पुरुषार्थ करते रहो। सद्भावना और आशा के साथ आगे बढ़ो।

ऐश्वर्यमद ग्रस्तों की खुशामद न करो

कई लोग ऐश्वर्यमद तो नहीं करते, किन्तु जो ऐश्वर्यमद में मत्त हैं, उनकी खुशामद करते रहते हैं, उनके ऐश्वर्यमद को प्रोत्साहन देते रहते हैं। और स्वयं के पास ऐश्वर्य न होने से कुढ़ते रहते हैं, हीनभावना के शिकार हो जाते हैं। ये दोनों स्वभाव अच्छे नहीं हैं। न तो ऐश्वर्यमद को प्रोत्साहन देना है और न ही हीनभावना के शिकार बनकर ऐश्वर्य के लिए तरसते रहना है।

अस्थायी ऐश्वर्य का मद कैसा ?

ऐश्वर्य सदा स्थायी नहीं है। हमने अपनी आँखों के सामने देखा है कि जो लोग बहुत बड़े धनाढ्य थे, जमींदार थे और जिनके आगे सैकड़ों व्यक्ति हाथ जोड़े आज्ञा पाने के लिए तैयार रहते थे, वे लोग एक दिन दीन-हीन अनाथ बने हुए भिखारी की तरह घूमने लगे। जिनकी तूती बोलती थी, वे ही दूसरों के दास बनकर जीवनयापन करने लगे। इसलिए जैसे लक्ष्मी चंचल है, वैसे ऐश्वर्य भी चंचल है। आज जो मिनिस्टर है उसका पाँच साल में तो निश्चित ही तख्ता बदल जाता है। सम्भव है, बीच में ही उसका सिंहासन डाँवाडोल हो जाय। इसलिए ऐश्वर्य का गर्व करना व्यर्थ है।

धन का गर्व : धतूरे के नशे से बढ़कर

धनवान होना एक बात है और धन का गर्व करना और बात है। अपने न्याय-नीतिपूर्ण पुरुषार्थ से धनिक होना, कोई बुरी बात नहीं है। बुरी बात है—धन का मद करना। राजस्थान के प्रसिद्ध कवि बिहारी ने धनमद का नशा धतूरे के नशे से भी बढ़कर बताया है—

> कनक कनक ते सौगुनी, मादकता अधिकाय।
> वा खाये बौरात है, वा पाये बौराय॥

धतूरा भी कनक कहलाता है और सोना भी कनक कहलाता है। धतूरे से सोने में सौगुनी अधिक मादकता होती है। धतूरा तो खाने पर आदमी पागल होता हैं, किन्तु सोने के हाथ में आते ही आदमी अभिमान के नशे में पागल हो जाता है।

इसलिए अगर अमीरी मिल गई है तो आनन्द से रहें उसका गर्व न करें और अमीरी प्राप्त न होने का भी आपके मन में दुःख हो।

उत्तराध्ययनसूत्र के महान् टीकाकार वादिवेताल शान्तिसूरि ने एक बहुत बड़ी बात कह दी है कि संसार में उच्चत्व और नीचत्व झूले के समान ऊपर-नीचे होता रहता है। रेंहट की घड़िया के समान कभी नीचे और कभी ऊपर मनुष्य का जीवन चलता रहता है। इसमें न किसी के मन में गर्व होना चाहिए और न हीनत्व की भावना ही होनी चाहिए।

बलमद का नानारूपों में प्रादुर्भाव

इसी प्रकार बल का मद भी मनुष्य को पतित कर देता है। बल सदा एक-सा नहीं रहता। जवानी में जो शारीरिक ताकत होती है, वह जवानी के ढलते ही समाप्त होने लगती है। बुढ़ापे में तो अत्यन्त क्षीण हो जाती है। रावण सरीखे राजाओं का बल भी मृत्यु के आगे नहीं चला। बड़े-बड़े बलशाली मृत्यु के आगे हार खा जाते है। मौत के आगे वे भी काँपने लगते हैं। मौत तो दूर रही, एक मलेरिया का मच्छर भी बड़े से बड़े पहलवान को चेलेंज दे सकता है। इसलिए बल का गर्व करना भी व्यर्थ है।

और फिर संसार में एक से एक बढ़कर बलवान पड़े हैं। कौन यह दावा कर सकता है कि मुझ से बढ़कर कोई बलवान नहीं है।

बुढ़ापा, बीमारी और मौत इनके आगे किसी भी बलवान का घमण्ड नहीं चल सकता। अनन्तबली तीर्थंकरों और मुक्तात्माओं (सिद्धों) के सामने एक सामान्य व्यक्ति का बल क्या अर्थ रखता है?

कई लोग धन बल का घमंड करते हे और वह सोचते हैं कि धनबल से सब काम हो जाते है। परन्तु मौत, बुढ़ापा और रोग के आगे धन धरा रह जाता है। उस धन की क्या कीमत है जो इनके आगे कुछ भी न कर सके। क्या धन से विद्या, बुद्धि आत्मशक्ति, तपस्या खरीदी जा सकती है? कदापि नहीं।

इसी प्रकार जनबल का अहंकार भी व्यर्थ है। मौत, बुढ़ापे या रोग के आगे जनबल क्या करेगा? कर्मों से छूटने के लिए तो स्वयं का आत्मबल ही काम आएगा, वहाँ जनबल किस काम आएगा?

बुद्धिबल भी आयुष्य, वृद्धावस्था, बीमारी आदि के सामने व्यर्थ हो जाता है। अतः बुद्धिबल पर गर्व करना कोई शोभा नहीं देता। संसार में एक से एक बढ़कर बुद्धिमान है और बृहस्पति के सामने मानव की बुद्धि कितनी तुच्छ है!

कई लोग तपोबल पर अभिमान करते हैं और कहते हैं—हम चाहें तो तपोबल से सारे संसार को भस्म कर सकते हैं। तपोबल बहुत बड़ा बल है। वह बड़ी से बड़ी शक्ति को झुका सकता है। किन्तु तपोबल भी अभिमान, आसक्ति, रागद्वेष, क्रोध आदि के कारण दूषित हो जाता है। हजारों वर्षों तक मनुष्य तप करे किन्तु क्षणभर के क्रोध से, द्वेष से या अभिमान से वह मिट्टी में मिल जाता है। इसलिए तपोबल का मद भी मनुष्य को पतित और नष्ट कर देता है। वैदिक पुराणों में एक कथा आती है कि विश्वामित्र ने दीर्घकाल तक तप किया था किन्तु उनको अपने तप का अभिमान बहुत था और कोई जरा-सा उन्हें छेड़ देता तो उनके क्रोध का पारा चढ़ ही उठता था। फिर विश्वामित्र का तपोबल स्वस्थ एवं सात्त्विक नहीं रहता था। इसी कारण उनके तपोबल का प्रभाव ब्रह्मर्षि वशिष्ठ के क्षमाबल के सामने फीका पड़ गया था।

सर्व बलों से बढ़कर : आत्मबल

यद्यपि इन सब बलों में आत्मबल बढ़कर है, किन्तु आत्मबल के साथ अभिमान, आसक्ति, प्रसिद्धि-लालसा, प्रदर्शन आदि प्रविष्ट हो जायँ तो वह क्षीण हो जाता है। इसीलिए तो सूरदासजी प्रभु से आत्मबल या परमात्मबल (रामबल) के लिए प्रार्थना करते हैं :

सुने री मैंने निर्बल के बल राम।
पिछली साख भरूँ संतन की आड़े संवारे काम ॥ध्रुव॥
जब लग गजबल अपनो राख्यो, नेक सर्यो नहीं काम।
निर्बल ह्वै बलराम पुकार्यो, आए आधे नाम ॥सु०॥१॥
द्रुपद सुता निर्बल भई ता दिन, गह लाए निज धाम।
दुःशासन की भुजा थकित भई, वसनरूप भये श्याम ॥सु०२॥
अपबल, तपबल और बाहुबल, चौथो है बल दाम।
'सूर' किशोर-कृपा ते सब बल—हारे को हरिनाम ॥सु० ३॥

कितना स्पष्ट चिन्तन सूरदासजी ने साधकों के सामन प्रस्तुत किया है। पुराणों में एक हाथी का आख्यान आता है कि एक हाथी तालाब में नहा रहा था कि एक मगरमच्छ उसका पैर पकड़ कर अपनी ओर खींचने लगा। गजेन्द्र को अपने बल पर बड़ा अभिमान था; किन्तु ज्यों-ज्यों गजेन्द्र जोर लगाता जाता था त्यों-त्यों मगरमच्छ उसे पानी में खींचकर ले जाना चाहता था। इसी रस्साकस्सी में मगरमच्छ ने अपना पूरा जोर लगाकर हाथी को परास्त कर दिया और हाथी को वह अब जल में ले जाने लगा। जल में मगरमच्छ (जलचारी) का जोर होता ही है। हाथी का अपने बल का अभिमान चूर-चूर हो गया। अतः उसने अपने बल का अभिमान छोड़कर अपने आपको परमात्मा के चरणों में समर्पित कर दिया। अब क्या था? परमात्मबल की शरण में जाते ही मगरमच्छ ने हाथी को छोड़ दिया। वह सही-सलामत तालाब से बाहर आ गया।

यह कहानी अपबल (शरीर बल) की अपेक्षा आत्मबल या परमात्मबल की महत्ता सूचित करती है। साथ ही एक बात की ओर संकेत करती है, कि अपने बल का तुम्हें अभिमान नहीं करना चाहिए, चाहे वह बल जप का हो, तप का हो, तन का हो, धन का हो, बाहु का हो या और कोई हो। जब तक मनुष्य में अपने बल का अभिमान मौजूद रहता है, तब तक परमात्मबल उसे प्राप्त नहीं होता, आत्मबल ही प्राप्त होता है।

तपोमद से भी दूर रहो

यहाँ बलमद के प्रसंग में ही तपोबल का प्रसंग आ गया तो तपोमद के विषय में भी कुछ कहना अप्रस्तुत नहीं होना। तपोमद भी जीवन को नीचे गिराता है। तपस्या में वृद्धि करना, उसका परोपकार के कार्यों में निःस्वार्थ उपयोग करना तो

अच्छा है, लेकिन तपस्या का अभिमान करना तपस्या को विकृत व दूषित करना है। इससे तपस्या का रहा-सहा बल भी क्षीण हो जाता है।

गोशालक ने अपनी तपस्या का मद करके वेश्यायन बालतपस्वी को छेड़ा। अतः उसने गोशालक पर क्रुद्ध होकर तेजोलेश्या छोड़ी। अगर भगवान् महावीर शीतलेश्या के द्वारा गोशालक को न बचाते तो वह उस तेजोलेश्या के प्रभाव से वहीं भस्म हो जाता। अतः गोशालक का तपोमद किस काम आया? उलटे, वह तपोमद उसके अपने लिए अनर्थकारक बना।

रूपमद कितना खतरनाक है?

इसी प्रकार का मद, रूप का मद है। वह भी सर्प से कम भयंकर नहीं है। मनुष्य जब अपने रूप, लावण्य, और सौन्दर्य पर इतराता है तब प्रकृति हंसती है, मौत और बुढ़ापा उसके इस घमण्ड पर मुस्कराते हैं कि तेरे इस रूप को तो हम मिट्टी में मिला देंगे। सन्ध्याराग के समान रूप तो क्षणिक है। एक व्यक्ति बहुत ही सुन्दर और सुरूप है, उसे हैजा हो गया। दस्तों पर दस्तें लगने लगी, खून का पानी हो गया। ५ मिनट में तो उसका शरीर कुम्हलाकर विकृत हो गया। जिस रूप पर वह घमण्ड करता था, उसे बीमारी ने चूर-चूर कर दिया।

उसका रूपमद उतर गया

मथुरा की नर्तकी वारांगना वासवदत्ता को अपने रूप पर बड़ा नाज था। वह अपने तीखे कटाक्ष से सैकड़ों नवयुवकों को आकर्षित कर लेती थी। उसके सौन्दर्य की आग में युवक पतंगों की तरह गिर पड़ते थे। एक दिन एक तेजस्वी युवक भिक्षु, उसी राजमार्ग से आ रहा था। उसका चेहरा ब्रह्मचर्य के तेज से दमक रहा था। वासवदत्ता उपगुप्त भिक्षु के रूप को देखकर उस पर मुग्ध हो गई। उसने अपनी दासी को भेज कर उपगुप्त को बुलाया। परन्तु उपगुप्त ने उसकी माँग को ठुकराते हुए कहा—"बहन! जब समय आएगा, तब मैं स्वयं तुम्हारे पास आ पहुँचूंगा। तब तक तुम प्रतीक्षा करो।" युवक भिक्षु को हाथ से जाते देख वासवदत्ता का मन बेचैन हो उठा। पर क्या कर सकती थी?

कुछ ही महीनों बाद वासवदत्ता के शरीर में भयंकर कोढ़ फूट पड़ा। सारे शरीर से मवाद और रक्त झरने लगा। दुर्गन्ध से आसपास का वातावरण गन्दा हो गया। पास में रहने वाले भी उसे छोड़ कर चले गए। जो युवक उसके एक इशारे पर नाचते थे, वे अब उसके पास तक नहीं फटकते थे। कुछ लोगों ने वहाँ के राजा से जाकर शिकायत की—"महाराज! वासवदत्ता का शरीर रोग से सड़ गया है। इसकी वजह से सारे शहर में रोग फैल जाएगा। अतः इसे नगर से बाहर निकाल दिया जाए।" जो राजा वासवदत्ता पर उसके सौन्दर्य के कारण मुग्ध था, उसी ने आज उसे शहर से बाहर फिंकवाने का आदेश दे दिया। वासवदत्ता को कुछ लोग घसीट कर शहर से बाहर ले गए और एक गड्ढे में डाल कर चले गए।

वासवदत्ता वहाँ पड़ी-पड़ी कराह रही थी। न कोई उसे रोटी-पानी देने वाला था, न उसकी कोई सेवा-शुश्रूषा करने वाला था। उसका रूप का घमंड आज चूर-चूर हो गया था। वह बिलख-बिलख कर रो रही थी।

इसी समय पता लगने पर उपगुप्त भिक्षु वहाँ आ पहुँचा। भिक्षु ने वासवदत्ता को मधुर शब्दों में सम्बोधित करते हुए कहा—"बहन! घबराओ मत! मैं अपने वायदे के अनुसार तुम्हारी सेवा-शुश्रूषा में आ पहुँचा हूँ।" उपगुप्त भिक्षु ने उसके घाव धोए मरहमपट्टी की, उसे खिलाया-पिलाया। कुछ ही दिनों की परिचर्या के बाद वासवदत्ता स्वस्थ हो गई। अब उसे अपने रूपमद पर पश्चात्ताप हो रहा था। उसे शरीर, संसार और भोग-विलासों से विरक्ति हो चुकी थी। उपगुप्त भिक्षु के उपदेश से वह अपना वेश्याकर्म छोड़कर बौद्धभिक्षुणी बन गई।

कहने का तात्पर्य यह है कि रूप का मद भी कितना निःसार एवं थोथा है।

लाभमद के कड़वे लाभ

अब अष्टफने मद रूपी सर्प का अन्तिम फन रह जाता है, जिसका नाम है—लाभमद। दिखने में यह मद मामूली-सा लगता है। हर व्यक्ति को अपने पुरुषार्थ या तदबीर से अथवा भाग्य या तकदीर से होने वाले लाभ पर गर्व होता है और वह अगर ईश्वरवादी है तो भी ईश्वर को कुछ देर के लिए ताक में रख कर कहता है—यह मैंने कमाया है, मेरे पुरुषार्थ से यह सब प्राप्त हुआ है। मैं ही कमाने वाला हूँ और कमाता ही कौन है? मैंने ही अपने हाथों से व्यापार बढ़ाया और लाखों रुपये कमाये हैं। मेरी ही बदौलत सब गुलछर्रे उड़ा रहे हैं। मैं न कमाता तो ये भूखों मर जाते। आज मेरे ही नाम का सिक्का बाजार में चलता है। अगर वह किसी कारखाने या मिल का मालिक है तो मूँछों पर ताव देकर लोगों के सामने अपनी शेखी बघारेगा—"अजी! है कोई मेरे बराबर कारखाने में उत्पादन करने वाला? मेरे हाथ में जब से यह मिल आई है तब से इसमें तरक्की होती गई है। मेरे ही पुरुषार्थ की बदौलत यह मिल चल रही है।"

बहनों और बच्चों में भी अपने लाभ और अपने द्वारा प्राप्त वस्तु की बड़ाई करने की आदत है। बहनें जब कोई भी घर में अच्छा काम हो जाएगा तो अपने मुँह मियां मिट्ठू बनते देर नहीं लगाएंगी। बच्चे भी अपने हमजोली बालकों के साथ खेल में जीत जाने पर, परीक्षा में पास होने पर, या कोई भी छोटा-बड़ा कार्य करने पर अपने मुँह से अपनी प्रशंसा करेंगे। बचपन से लेकर बुढ़ापे तक मनुष्य में अपने लाभ का अहंकार चलता रहता है। कई लोग तो इतने बातूनी होते हैं कि जरा-सा उन्हें छेड़ दो, बस रिकार्ड चालू हो जायगा, फिर फ्रंटियर मेल की तरह बीच में कहीं रुकेगा नहीं। जब तक घंटा-आध-घंटा वे अपनी डींग नहीं हाँक देंगे तब तक उन्हें चैन नहीं पड़ेगा। और तो और—साधु-साध्वियों में भी लाभमद की बीमारी भयंकर रूप से प्रविष्ट है। लाभमद का यह सांप उन्हें भी बार-बार डसता है और वे लाभमद

वे अपने लाभ—अपनी उपलब्धियों अथवा अपनी क्षमताओं और शक्तियों को दिखाऊ बना लेते हैं। कभी तो वे अपनी शिक्षा में प्राप्त हुई बढ़िया चीज का बखान करके अपने लाभमद को व्यक्त करते हैं, कभी अपने पास संगृहीत शास्त्र, ग्रन्थ, वस्त्र-पात्र आदि का अहंकार प्रगट करते हैं। इसका वे प्रदर्शन भी करते रहते हैं। अपनी उपलब्धियों के प्रदर्शन करने का अर्थ ही है अपने अहंकार का प्रदर्शन करना।

लाभमद स्व-पर दोनों के लिए लाभदायी नहीं

इस प्रकार यह लाभमद भी विभिन्न रूपों में आकर मानव जीवन को विकृत और अशान्त कर देता है। अपने लाभमद के जरिये वह दूसरों का अपमान भी कर बैठता है, दूसरों को हिकारतभरी दृष्टि से देखता है। अपने पास प्राप्त शक्तियों का लाभ वह दूसरों को न देकर या दूसरों के हित के लिए उसका उपयोग न करके सिर्फ दूसरों को दिखाया करता है। कभी-कभी तो ऐसा व्यक्ति स्वयं भी उन प्राप्त वस्तुओं का उपभोग नहीं करता और न ही दूसरों को उसका उपयोग या उपभोग करने देता है। केवल साँप की तरह उस प्राप्त वस्तु पर अहंकार का फन फैलाए बैठा रहता है। इस प्रकार लाभमद से ग्रस्त व्यक्ति न तो दूसरों को अपने लाभ में हिस्सेदार बनाना चाहता है और न ही दूसरों को उसका लाभ लेने देता है, बल्कि अपने लाभ का प्रदर्शन करके वह दूसरे के मन में ईर्ष्या पैदा करता है, दूसरों को सिर्फ टुकुर-टुकुर देखने देकर तरसाता रहता है।

अलवर के पास एक बहुत बड़ा पुराना राजमहल है। वहाँ अब कोई राजा नहीं रहता। केवल संग्रहालय का रूप दे रखा है। वहाँ एक बार सर्वोदय नेता दादा धर्माधिकारी पहुँच गए। उन्होंने वहाँ पर रहने वाले कर्मचारियों से पूछा—"यह महल किसका है?"

उन्होंने कहा—"यह यहाँ के राजासाहब का है।"

"राजसाहब यहाँ रहते हैं या आते-जाते हैं?"

उन्होंने कहा—"यहाँ कोई नहीं रहता। हम भी इस महल के अन्दर न तो रह सकते हैं और न ही इसकी किसी चीज का उपभोग कर सकते हैं।"

"तो इन चीजों का उपयोग कौन करता है?"

वासवदत्ता वहाँ पड़ी-पड़ी कराह रही थी। न कोई उसे रोटी-पानी देने वाला था, न उसकी कोई सेवा-शुश्रूषा करने वाला था। उसका रूप का घमंड आज चूर-चूर हो गया था। वह बिलख-बिलख कर रो रही थी।

इसी समय पता लगने पर उपगुप्त भिक्षु वहाँ आ पहुँचा। भिक्षु ने वासवदत्ता को मधुर शब्दों में सम्बोधित करते हुए कहा—"बहन! घबराओ मत! मैं अपने वायदे के अनुसार तुम्हारी सेवा-शुश्रूषा में आ पहुँचा हूँ।" उपगुप्त भिक्षु ने उसके घाव धोए मरहमपट्टी की, उसे खिलाया-पिलाया। कुछ ही दिनों की परिचर्या के बाद वासवदत्ता स्वस्थ हो गई। अब उसे अपने रूपमद पर पश्चात्ताप हो रहा था। उसे शरीर, संसार और भोग-विलासों से विरक्ति हो चुकी थी। उपगुप्त भिक्षु के उपदेश से वह अपना वेश्याकर्म छोड़कर बौद्धभिक्षुणी बन गई।

कहने का तात्पर्य यह है कि रूप का मद भी कितना निःसार एवं थोथा है।

लाभमद के कड़वे लाभ

अब अष्टफने मद रूपी सर्प का अन्तिम फन रह जाता है, जिसका नाम है—लाभमद। दिखने में यह मद मामूली-सा लगता है। हर व्यक्ति को अपने पुरुषार्थ या तदबीर से अथवा भाग्य या तकदीर से होने वाले लाभ पर गर्व होता है और वह अगर ईश्वरवादी है तो भी ईश्वर को कुछ देर के लिए ताक में रख कर कहता है—यह मैंने कमाया है, मेरे पुरुषार्थ से यह सब प्राप्त हुआ है। मैं ही कमाने वाला हूँ और कमाता ही कौन है? मैंने ही अपने हाथों से व्यापार बढ़ाया और लाखों रुपये कमाये हैं। मेरी ही बदौलत सब गुलछर्रे उड़ा रहे हैं। मैं न कमाता तो ये भूखों मर जाते। आज मेरे ही नाम का सिक्का बाजार में चलता है। अगर वह किसी कारखाने या मिल का मालिक है तो मूँछों पर ताव देकर लोगों के सामने अपनी शेखी बघारेगा—"अजी! है कोई मेरे बराबर कारखाने में उत्पादन करने वाला? मेरे हाथ में जब से यह मिल आई है तब से इसमें तरक्की होती गई है। मेरे ही पुरुषार्थ की बदौलत यह मिल चल रही है।"

बहनों और बच्चों में भी अपने लाभ और अपने द्वारा प्राप्त वस्तु की बड़ाई करने की आदत है। बहनें जब कोई भी घर में अच्छा काम हो जाएगा तो अपने मुँह मियां मिट्ठू बनते देर नहीं लगाएंगी। बच्चे भी अपने हमजोली बालकों के साथ खेल में जीत जाने पर, परीक्षा में पास होने पर, या कोई भी छोटा-बड़ा कार्य करने पर अपने मुँह से अपनी प्रशंसा करेंगे। बचपन से लेकर बुढ़ापे तक मनुष्य में अपने लाभ का अहंकार चलता रहता है। कई लोग तो इतने बातूनी होते हैं कि जरा-सा उन्हें छेड़ दो, बस रिकार्ड चालू हो जायगा, फिर फ्रंटियर मेल की तरह बीच में कहीं रुकेगा नहीं। जब तक घंटा-आध-घंटा वे अपनी डींग नहीं हाँक देंगे तब तक उन्हें चैन नहीं पड़ेगा। और तो और—साधु-साध्वियों में भी लाभमद की बीमारी भयंकर रूप से प्रविष्ट है। लाभमद का यह साँप उन्हें भी बार-बार डसता है और वे लाभमद

से अपने लाभ—अपनी उपलब्धियों अथवा अपनी क्षमताओं और शक्तियों को विषाक्त बना लेते हैं। कभी तो वे अपनी भिक्षा में प्राप्त हुई बढ़िया चीज का बखान करके अपने लाभमद को व्यक्त करते हैं, कभी अपने पास संगृहीत शास्त्र, ग्रन्थ, वस्त्र-पात्र आदि का अहंकार प्रगट करते हैं। इसका वे प्रदर्शन भी करते रहते हैं। अपनी उपलब्धियों के प्रदर्शन करने का अर्थ ही है अपने अहंकार का प्रदर्शन करना।

लाभमद स्व-पर दोनों के लिए लाभदायी नहीं

इस प्रकार यह लाभमद भी विभिन्न रूपों में आकर मानव जीवन को विकृत और अशान्त कर देता है। अपने लाभमद के जरिये वह दूसरों का अपमान भी कर बैठता है, दूसरों को हिकारतभरी दृष्टि से देखता है। अपने पास प्राप्त शक्तियों का लाभ वह दूसरों को न देकर या दूसरों के हित के लिए उसका उपयोग न करके सिर्फ दूसरों को दिखाया करता है। कभी-कभी तो ऐसा व्यक्ति स्वयं भी उन प्राप्त वस्तुओं का उपभोग नहीं करता और न ही दूसरों को उसका उपयोग या उपभोग करने देता है। केवल सांप की तरह उस प्राप्त वस्तु पर अहंकार का फन फैलाए बैठा रहता है। इस प्रकार लाभमद से ग्रस्त व्यक्ति न तो दूसरों को अपने लाभ में हिस्सेदार बनाना चाहता है और न ही दूसरों को उसका लाभ लेने देता है, बल्कि अपने लाभ का प्रदर्शन करके वह दूसरे के मन में ईर्ष्या पैदा करता है, दूसरों को केवल टुकुर-टुकुर देखने देकर तरसाता रहता है।

अलवर के पास एक बहुत बड़ा पुराना राजमहल है। वहाँ अब कोई राजा नहीं रहता। केवल संग्रहालय का रूप दे रखा है। वहाँ एक बार सर्वोदय नेता दादा धर्माधिकारी पहुँच गए। उन्होंने वहाँ पर रहने वाले कर्मचारियों से पूछा—"यह महल किसका है ?"

उन्होंने कहा—"यह यहाँ के राजासाहब का है ?"

"राजसाहब यहाँ रहते हैं या आते-जाते हैं ?"

उन्होंने कहा—"यहाँ कोई नहीं रहता। हम भी इस महल के अन्दर न तो रह सकते हैं और न ही इसकी किसी चीज का उपयोग कर सकते हैं।"

"तो इन चीजों का उपयोग कौन करता है ?"

"इन चीजों का कोई भी उपयोग नहीं कर सकता। इन्हें छूने का भी सख्त निषेध है। बाहर से आने वाले दर्शक इन्हें सिर्फ देख सकते हैं, इन्हें छू नहीं सकते।" दादा धर्माधिकारी ने पूछा—"तब इन चीजों को प्राप्त करने का मतलब क्या हुआ ?"

उन्होंने कहा—"आप कुछ भी समझें। हमारे राजा साहब न तो खुद ही इन चीजों का उपयोग करते हैं, न किसी को करने देते हैं।"

यह है लाभमद का ज्वलन्त उदाहरण ! कुछ लोग इस संसार में ऐसे हैं, जो अपने पास प्राप्त वस्तुएँ दूसरों को दिखा-दिखाकर तरसाना और उनके दिल में डाह पैदा करना चाहते हैं।

वासवदत्ता वहाँ पड़ी-पड़ी कराह रही थी। न कोई उसे रोटी-पानी देने वाला था, न उसकी कोई सेवा-शुश्रूषा करने वाला था। उसका रूप का घमंड आज चूर-चूर हो गया था। वह बिलख-बिलख कर रो रही थी।

इसी समय पता लगने पर उपगुप्त भिक्षु वहाँ आ पहुँचा। भिक्षु ने वासवदत्ता को मधुर शब्दों में सम्बोधित करते हुए कहा—"बहन ! घबराओ मत ! मैं अपने वायदे के अनुसार तुम्हारी सेवा-शुश्रूषा में आ पहुँचा हूँ।" उपगुप्त भिक्षु ने उसके घाव धोए मरहमपट्टी की, उसे खिलाया-पिलाया। कुछ ही दिनों की परिचर्या के बाद वासवदत्ता स्वस्थ हो गई। अब उसे अपने रूपमद पर पश्चात्ताप हो रहा था। उसे शरीर, संसार और भोग-विलासों से विरक्ति हो चुकी थी। उपगुप्त भिक्षु के उपदेश से वह अपना वेश्याकर्म छोड़कर बौद्धभिक्षुणी बन गई।

कहने का तात्पर्य यह है कि रूप का मद भी कितना निःसार एवं थोथा है।

लाभमद के कड़वे लाभ

अब अष्टफने मद रूपी सर्प का अन्तिम फन रह जाता है, जिसका नाम है—लाभमद। दिखने में यह मद मामूली-सा लगता है। हर व्यक्ति को अपने पुरुषार्थ या तदबीर से अथवा भाग्य या तकदीर से होने वाले लाभ पर गर्व होता है और वह अगर ईश्वरवादी है तो भी ईश्वर को कुछ देर के लिए ताक में रख कर कहता है—यह मैंने कमाया है, मेरे पुरुषार्थ से यह सब प्राप्त हुआ है। मैं ही कमाने वाला हूँ और कमाता ही कौन है ? मैंने ही अपने हाथों से व्यापार बढ़ाया और लाखों रुपये कमाये हैं। मेरी ही बदौलत सब गुलछर्रे उड़ा रहे हैं। मैं न कमाता तो ये भूखों मर जाते। आज मेरे ही नाम का सिक्का बाजार में चलता है। अगर वह किसी कारखाने या मिल का मालिक है तो मूँछों पर ताव देकर लोगों के सामने अपनी शेखी बघारेगा—"अजी ! है कोई मेरे बराबर कारखाने में उत्पादन करने वाला ? मेरे हाथ में जब से यह मिल आई है तब से इसमें तरक्की होती गई है। मेरे ही पुरुषार्थ की बदौलत यह मिल चल रही है।"

बहनों और बच्चों में भी अपने लाभ और अपने द्वारा प्राप्त वस्तु की बड़ाई करने की आदत है। बहनें जब कोई भी घर में अच्छा काम हो जाएगा तो अपने मुँह मियां मिट्ठू बनते देर नहीं लगाएंगी। बच्चे भी अपने हमजोली बालकों के साथ खेल में जीत जाने पर, परीक्षा में पास होने पर, या कोई भी छोटा-बड़ा कार्य करने पर अपने मुँह से अपनी प्रशंसा करेंगे। बचपन से लेकर बुढ़ापे तक मनुष्य में अपने लाभ का अहंकार चलता रहता है। कई लोग तो इतने बातूनी होते हैं कि जरा-सा उन्हें छेड़ दो, बस रिकार्ड चालू हो जायगा, फिर फ्रंटियर मेल की तरह बीच में कहीं रुकेगा नहीं। जब तक घंटा-आध-घंटा वे अपनी डींग नहीं हाँक देंगे तब तक उन्हें चैन नहीं पड़ेगा। और तो और—साधु-साध्वियों में भी लाभमद की बीमारी भयंकर रूप से प्रविष्ट है। लाभमद का यह सांप उन्हें भी बार-बार डसता है और वे लाभमद

से अपने लाभ—अपनी उपलब्धियों अथवा अपनी क्षमताओं और शक्तियों को विषाक्त बना लेते हैं। कभी तो वे अपनी भिक्षा में प्राप्त हुई बढ़िया चीज का बखान करके अपने लाभमद को व्यक्त करते हैं, कभी अपने पास संगृहीत शास्त्र, ग्रन्थ, वस्त्र-पात्र आदि का अहंकार प्रगट करते हैं। इसका वे प्रदर्शन भी करते रहते हैं। अपनी उपलब्धियों के प्रदर्शन करने का अर्थ ही है अपने अहंकार का प्रदर्शन करना।

लाभमद स्व-पर दोनों के लिए लाभदायी नहीं

इस प्रकार यह लाभमद भी विभिन्न रूपों में आकर मानव जीवन को विकृत और अशान्त कर देता है। अपने लाभमद के जरिये वह दूसरों का अपमान भी कर बैठता है, दूसरों को हिकारतभरी दृष्टि से देखता है। अपने पास प्राप्त शक्तियों का लाभ वह दूसरों को न देकर या दूसरों के हित के लिए उसका उपयोग न करके सिर्फ दूसरों को दिखाया करता है। कभी-कभी तो ऐसा व्यक्ति स्वयं भी उन प्राप्त वस्तुओं का उपभोग नहीं करता और न ही दूसरों को उसका उपयोग या उपभोग करने देता है। केवल सांप की तरह उस प्राप्त वस्तु पर अहंकार का फन फैलाए बैठा रहता है। इस प्रकार लाभमद से ग्रस्त व्यक्ति न तो दूसरों को अपने लाभ में हिस्सेदार बनाना चाहता है और न ही दूसरों को उसका लाभ लेने देता है, बल्कि अपने लाभ का प्रदर्शन करके वह दूसरे के मन में ईर्ष्या पैदा करता है, दूसरों को केवल टुकुर-टुकुर देखने देकर तरसाता रहता है।

अलवर के पास एक बहुत बड़ा पुराना राजमहल है। वहाँ अब कोई राजा नहीं रहता। केवल संग्रहालय का रूप दे रखा है। वहाँ एक बार सर्वोदय नेता दादा धर्माधिकारी पहुँच गए। उन्होंने वहाँ पर रहने वाले कर्मचारियों से पूछा—"यह महल किसका है?"

उन्होंने कहा—"यह यहाँ के राजासाहब का है?"

"राजसाहब यहाँ रहते हैं या आते-जाते हैं?"

उन्होंने कहा—"यहाँ कोई नहीं रहता। हम भी इस महल के अन्दर न तो रह सकते हैं और न ही इसकी किसी चीज का उपयोग कर सकते हैं।"

"तो इन चीजों का उपयोग कौन करता है?"

"इन चीजों का कोई भी उपयोग नहीं कर सकता। इन्हें छूने का भी सख्त निषेध है। बाहर से आने वाले दर्शक इन्हें सिर्फ देख सकते हैं, इन्हें छू नहीं सकते।"

दादा धर्माधिकारी ने पूछा—"तब इन चीजों को प्राप्त करने का मतलब क्या हुआ?"

उन्होंने कहा—"आप कुछ भी समझें। हमारे राजा साहब न तो खुद ही इन चीजों का उपयोग करते हैं, न किसी को करने देते हैं।"

यह है लाभमद का ज्वलन्त उदाहरण! कुछ लोग इस संसार में ऐसे हैं, जो अपने पास प्राप्त वस्तुएँ दूसरों को दिखा-दिखाकर तरसाना और उनके दिल में डाह पैदा करना चाहते हैं।

इस प्रकार के अनेक राजा, बादशाह या सम्राट् संसार में हुए हैं, जो प्राप्त वस्तुओं की प्रदर्शनी लगाकर रखेंगे, या उनका दिखावा करेंगे, प्राप्त धन, शक्ति या उपलब्धि को केवल संचित करके रखेंगे, उन पर साँप की तरह बैठकर वे अपने अहंकार का फन फैलाते रहेंगे; पर उन प्राप्त वस्तुओं, शक्तियों, उपलब्धियों या धनसम्पत्ति आदि का उपयोग न तो दूसरों के कल्याण के लिए करेंगे, और न ही दूसरों को करने देंगे। दिखने में छोटा-सा लाभमद कितना भयंकर शत्रु है—आत्मा का!

आठफने मदरूपी सांप से बचने से ही विश्वव्यापी विकास

इस प्रकार मैंने बताया कि यह आठफना भयंकर मदसर्प मानव के अन्तस्तल में बैठा रहता है और पूर्वोक्त आठ रूपों में गर्व करके मानव अपने जीवन के विकास को, आत्मा की अतुल शक्ति के प्रकटीकरण को रोकता रहता है। वह आत्मा को विश्वव्यापी बनने से रोक कर एक संकुचित स्वार्थ के दायरे में कैद कर देता है। जैसे क्षुद्र तलैया में रहा हुआ पानी सड़ने और बदबू मारने लगता है उसमें अनेक कीड़े कुलबुलाने लगते हैं, वैसे ही इस मद के कारण क्षुद्र घेरे में बन्द होकर मानव सड़ कर और दुर्गुणों की दुर्गन्ध फैलाकर संसार के वातावरण को दूषित बना देता है। उसकी क्षुद्र जिन्दगी रूपी तलैया में क्रोध, मान, माया, लोभ, स्वार्थ, द्वेष, वैर-विरोध, घृणा, मोह, काम और मत्सर आदि के कीड़े कुलबुलाने लगते हैं। अतः अगर आप विश्वव्यापी विकास करके जीवन में सच्चा आनन्द पाना चाहते हैं तो इस आठफने मदसर्प को छोड़ दीजिए और जीवन को नम्रता और सौजन्यता के पथ पर ले जाइए। □

7

नाविक बनाम प्ररूपक

उपस्थित आत्मबन्धुओ !

हमारे आगमों में स्वाध्याय के पांच भेदों में एक भेद 'प्ररूपणा' भी दिया गया है। केवली प्रभु के द्वारा प्ररूपित धर्म के विषय में लोगों को बताना तथा समझाना 'प्ररूपणा' कहलाता है और ऐसा करने वाला 'प्ररूपक'।

प्ररूपक का महत्त्व

स्पष्ट है कि जिन-वचनों को श्रोताओं के समक्ष सही रूप में रखना तथा बारीकी से उनका यथार्थ विवेचन करना अत्यन्त दुष्कर व बड़ी सावधानी का कार्य है। प्रत्येक व्यक्ति इस जिम्मेदारी को नहीं निभा सकता। यह कार्य वही कर सकता है, जिसने जैन-दर्शन का गम्भीर अध्ययन किया हो तथा आगमों के अगाध सागर में असंख्य गोते लगाए हों। इस संसार में वक्ता या उपदेशक तो अनेक मिल सकते हैं किन्तु सच्चे मायने में जिसे प्ररूपक कहा जा सकता है ऐसे भव्य प्राणी इने-गिने ही पाये जाते हैं। वस्तुतः जिन-वचनों का सही रूप अज्ञानी प्राणियों के समक्ष रखना बड़ी टेढ़ी खीर है या कि महान् गुरुतर भार है जिसे सशक्त साधक ही उठा सकता है।

तनिक सी असावधानी का परिणाम

प्ररूपक या धर्मोपदेशक व्यक्ति अगर तनिक भी चूक जाय या कहीं भूल कर जाय तो उसका परिणाम अत्यन्त भयंकर हो सकता है। उदाहरणस्वरूप एक नाविक अपनी नाव में हजार व्यक्तियों को बैठाकर नदी के इस पार से उस पार ले जाने के लिए रवाना होता है किन्तु पतवार चलाने में वह कहीं गलती कर दे और नाव मझधार में उलट जाय तो सारे यात्री जीवन से हाथ धो सकते हैं, दूसरे शब्दों में उन सभी का जीवन खतरे में पड़ जाता है।

इसी प्रकार धर्मोपदेशक अथवा प्ररूपक के समक्ष भी हजारों व्यक्ति होते हैं और उनका मार्गदर्शन करना उसके हाथ में होता है। किन्तु आत्म-शुद्धि अथवा आत्मानुभूति का मार्ग बताने की बजाय अगर वह उन सभी को गलत मार्ग सुझाकर मिथ्यात्व या पाप-प्रवृत्ति की ओर बढ़ा देता है तो उन हजारों व्यक्तियों को गुमराह करके उनका भविष्य बिगाड़ने का जिम्मेदार होता है। कहने का अभिप्राय यही है कि एक

प्ररूपक अगर असावधानी करे तो हजारों प्राणियों को आत्म-मुक्ति के मार्ग की बजाय कर्म-बन्धन के मार्ग पर बढ़ाने का भयंकर व निकृष्ट कार्य कर बैठता है। ऐसे व्यक्ति उपदेशक या आराधक कहलाकर भी विराधक साबित होते हैं तथा धर्म, समाज एवं देश के लिए खतरा बने रहते हैं। विराधक व्यक्ति मिथ्यात्व का विष अज्ञानी और भोले प्राणियों के मानस में इस प्रकार उतार देते हैं कि वह एक जन्म तो क्या अनेक जन्मों तक भी उतरने का नाम नहीं लेता। इसलिए जिन-वचनों की प्ररूपणा करने का गुरुतर भार लेने वाले उपदेशक को बड़ी सावधानी से धर्म का मर्म समझना चाहिए और तत्पश्चात् लोगों को धर्म-देशना करने का कार्य हाथ में लेकर उसे भली-भाँति सम्पन्न करना चाहिए। अगर वह अपने कार्य को सम्यक् प्रकार से पूरा नहीं करता तो समाज के एक साधारण सदस्य की अपेक्षा असंख्य गुना अधिक हानिकर बनता है।

बन्धुओ ! आप शायद मेरी बात समझे नहीं होंगे और यह विचार कर रहे होंगे कि आखिर समाज का व्यक्ति भी एक ही होता है तथा उपदेशक भी एक। फिर साधारण व्यक्ति की अपेक्षा उपदेशक या प्ररूपक अधिक हानिकर कैसे बन सकता है? इस बात को एक उदाहरण से समझा जा सकता है।

बुरा कौन ?

कल्पना कीजिये कि एक नाव में दो व्यक्ति चल रहे हैं और दोनों का मस्तिष्क ठीक नहीं है। कुछ ही समय पश्चात् उनमें से एक व्यक्ति तो नाव से छलांग लगाकर नदी में डूब मरने की तैयारी करता है और दूसरा हाथ में रहे हुए किसी नुकीले अस्त्र से नाव में छेद करने का प्रयत्न करने लगता है। अब बताइये कि दोनों ही व्यक्ति एक-एक हैं, किन्तु उनकी क्रियाओं में कितना अन्तर है और उनमें से किसकी क्रिया अधिक हानिकर है ?

स्पष्ट है कि नाव से छलांग लगाकर कूद जाने वाला व्यक्ति अपनी हत्या कर लेगा और अपने जीवन का घात करना बुरा है किन्तु वह व्यक्ति नाव से कूदकर केवल अपने प्राणों की ही हानि करेगा। जबकि दूसरा व्यक्ति नाव में छेद करके कुछ समय पश्चात् ही सैकड़ों व्यक्तियों की मृत्यु का कारण बन जाएगा।

इस उदाहरण से आप सहज ही समझ गये होंगे कि समाज का एक साधारण सदस्य अगर मिथ्यात्वी बन जाएगा तो वह केवल अपना ही अहित करेगा। किन्तु एक प्ररूपक या धर्मोपदेशक अगर मिथ्यात्वी या विराधक हो गया तो असंख्य व्यक्तियों को निम्न गति में पहुँचाने वाला तथा उनके भव-भ्रमण को बढ़ाने वाला साबित होगा। स्पष्ट है कि एक धर्मोपदेशक अगर आगमों का गम्भीर ज्ञान नहीं कर लेता है तथा सर्वज्ञ प्रभु के द्वारा किये गये आदेशों को सही अर्थों में नहीं समझता है तो वह समाज का गलत मार्ग-दर्शन कर उसे अवनति की ओर ले जाता है। इसलिए उच्चासन पर आरूढ़ होकर जनता को उपदेश देने से पूर्व उसे स्वयं अपनी गुरुतर जिम्मेदारी के महत्त्व को समझ लेना चाहिए तथा अपने आप पर पूर्ण सन्तुलन रखते हुए लोगों को

धर्म का सही मार्ग और उस पर चलने के सही तरीके बताने चाहिए। साथ ही आत्म-गुणों की पहचान करने के लिए उनके सम्यक्ज्ञान एवं विवेक रूपी नेत्र खोलने चाहिए।

धर्मोपदेशक अपना सन्तुलन कैसे रख सकते हैं?

बन्धुओ! अभी मैंने आपको बताया है कि वक्ता के कंधे पर सम्पूर्ण समाज का मार्ग-दर्शन करने की महान् जिम्मेदारी होती है। अतः केवल उसी विद्वान पुरुष या साधक को यह कार्य अपने हाथों में लेना चाहिए जो अपने गहन आध्यात्मिक ज्ञान, शुद्ध क्रिया एवं दृढ़ आत्म-विश्वास के द्वारा असंख्य श्रोताओं के मानस पर प्रभाव डाल सके। उपदेशक बनने से पहले उसे जिनवाणी का सही रूप समझ लेना चाहिए तथा औरों को समझाने की क्षमता व योग्यता हासिल करनी चाहिए। उपदेश देना बड़ा दुष्कर कार्य है। आज के युग में तो थोड़ा-सा पढ़-लिखकर ही व्यक्ति अपने आप को वक्ता या उपदेशक समझने लग जाता है किन्तु 'व्यासस्मृति' में कहा गया है—

"वक्ता दशसहस्रेषु।"

—प्रति दस सहस्र में से एक व्यक्ति ही वक्ता बन पाता है।

हमारे आगम इसीलिए वक्ता, साधक अथवा व्याख्यानी मुनि को बड़ा भारी महत्त्व प्रदान करते हैं। आगम कहते हैं—'एक व्याख्यानी यानी प्रवचन देने वाले मुनि की सेवा में अनेक मुनि रहने चाहिए।' यह इसीलिए कि प्रवचनकर्ता समस्त चिन्ताओं से व कार्य-भार से मुक्त होकर अध्ययन कर सके तथा धर्म के जिस मर्म को वह सुझाना चाहता है उसे स्वयं पूर्व में यथार्थ रूप से हृदयंगम कर सके। अगर वह आहार की गवेषणा में उलझा रहा, अन्य मुनियों की सार-सम्हाल में लगा रहा तथा इसी प्रकार की अन्यान्य समस्याओं को सुलझाने की चिन्ता में पड़ा रहा तो अपने मन व मस्तिष्क का सन्तुलन नहीं रख पाएगा तथा इसके परिणामस्वरूप लोगों को सही बोध नहीं दे पायेगा। इसलिए आगम का विधान है कि प्ररूपक को प्रत्येक ओर से निराकुल होकर मन का सन्तुलन ठीक रखते हुए अपना आसन ग्रहण करना चाहिए और उसके बाद निर्विकार भाव से जनता के समक्ष भगवान के वचनों का सत्य, सरल एवं प्रभावपूर्ण विवेचन करना चाहिए।

सफलता कब चरण चूमेगी?

उसी वक्ता या उपदेशक को सफलता हासिल होगी, जिसकी आत्मा में सद्गुणों का भण्डार होगा तथा बाह्य आचरण निर्दोष होगा। संस्कृत के एक श्लोक में वक्ता के चौदह दुर्लभ गुण बताये गये हैं। वे इस प्रकार हैं—

वाग्मी व्याससमः सवित् प्रियकथः प्रस्ताववित् सत्यवाक्,
सन्देहच्छिदनेकशास्त्रकुशलो नाऽहयाति विक्षेपकम्।
अव्यंगो जनरञ्जनो जितसभो नाहंकृतिर्धार्मिकः,
संतोषी च चतुर्दशोत्तमगुणा वक्तुः प्रणीता इमे॥

कहा गया है—वक्ता को वेदव्यास के समान उपदेशक, ज्ञानी, प्रियकथा करने वाला, अवसरज्ञ, स्वल्पभाषी, सन्देह को छेदने वाला यानी शंकाओं का समाधान करने वाला, अनेक शास्त्रों का ज्ञाता, विक्षेपकारी बात न कहने वाला, व्यंग न कसने वाला, जनता को प्रसन्न करने वाला, सभा को जीतने वाला, निरभिमानी, धार्मिक एवं सन्तोषी होना चाहिए।

वस्तुतः इतने गुणों का अधिकारी वक्ता ही श्रोताओं को प्रभावित करता हुआ सत्य के दर्शन करा सकता है। केवल अपनी विद्वत्ता का सिक्का जमाने वाला या मनोरंजन के द्वारा लोगों को वश में करने वाला व्यक्ति प्ररूपक नहीं कहला सकता। उपदेशक को कितना क्षमावान और सहनशील भी होना चाहिए यह दार्शनिक सुकरात के एक उदाहरण से भली-भाँति समझा जा सकता है।

आश्चर्यजनक सन्तुलन

कहा जाता है कि यूनान के सुप्रसिद्ध दार्शनिक महात्मा सुकरात एक बार किसी सभा में लोगों को उपदेश दे रहे थे। श्रोता मंत्रमुग्ध होकर उनके विचारों को ग्रहण कर रहे थे तथा सभा में पूर्ण शान्ति थी। किन्तु कुछ समय बाद अचानक ही एक व्यक्ति पंडाल में से उठा और उसने बिजली की सी तेजी से आकर महात्मा जी की पीठ में लात मार दी।

यह देखते ही सभा में बैठे हुए श्रोता कुपित हो गये और चीखने-चिल्लाने लगे—"पकड़ो! मारो, भागने मत दो।" पूरी सभा में भगदड़ मच गई और कुछ व्यक्ति उस युवक को घेर-घारकर सुकरात के सामने ले आये। लोग उत्तेजित थे अतः भरी सभा में लात मारने वाले युवक की हड्डी-पसली एक कर देने के उपक्रम में लग गये। किन्तु उसी समय महात्मा सुकरात ने धीर-गम्भीर वाणी में लोगों को सम्बोधित करते हुए कहा—

"भाइयो! अगर मेरी बात आप लोगों को आगे सुननी है तो इस व्यक्ति को छोड़ दो तथा सकुशल लौट जाने दो।"

लोग महात्माजी की यह बात सुनकर चकित रह गये और बोले—"भगवन्! दुष्ट को बिना दण्ड दिये छोड़ देने से अन्याय को प्रश्रय मिलेगा। हम लोग आपका अपमान सहन नहीं कर सकते।"

सुकरात ने बड़ी शान्ति से कहा—"बन्धुओ! गधे के लात मारने से क्या किसी व्यक्ति का अपमान होता है? नहीं, इसीलिए मैं नहीं चाहता कि एक गधे के लात मारने पर मैं या आप उसे बदले में लात मारें।"

सुकरात की बात सुनकर लोग उनकी सहनशीलता पर दंग रह गये एवं अत्यधिक शर्मिन्दा होते हुए शीघ्रता से अपना-अपना स्थान ग्रहण करके प्रवचन सुनने लगे। महात्माजी की धैर्यता एवं सहनशीलता ने हजारों व्यक्तियों का दिल उसी समय जीत लिया।

इस उदाहरण से स्पष्ट जाहिर होता है कि धर्मोपदेशक या प्ररूपक को अपने मन का संतुलन किस प्रकार बनाये रखना चाहिये। अगर वह बात-बात में झुंझला उठता है या कुपित हो जाता है तो अन्य व्यक्तियों को अपने उपदेश से प्रभावित नहीं कर सकता तथा उन्हें क्रोधादि कषायों से परे रखने में समर्थ नहीं बन सकता। इसीलिए मैंने अभी बताया है कि उपदेशक को सर्वप्रथम आगमज्ञ होना चाहिए, उसका चिंतन गम्भीर होना चाहिए तथा जिन गुणों को वह औरों में प्रतिष्ठित करना चाहता है उन गुणों को आत्मसात कर लेने का स्वयं उसे अभ्यास होना चाहिए।

श्रोताओं के लिए आवश्यक

बन्धुओ, अभी मैंने आपको उपदेशक का महत्त्व बताते हुए कहा है कि अगर वह सम्यक्ज्ञान का अधिकारी है एवं जिन-वाणी को यथार्थ रूप से समझने वाला है तो हजारों व्यक्तियों को नदी के इस पार से उस पार पहुँचा देने वाले नाविक के समान है। अर्थात् सच्चा धर्मोपदेशक अपने सद्उपदेशों के द्वारा अनेकानेक अज्ञानी प्राणियों को बोध देकर धर्म का मर्म समझाते हुए सही मार्ग बताता है तथा उन्हें भव-सागर से पार करने में सहायक बनता है।

किन्तु ध्यान देने की बात एक यह भी है कि वक्ता के योग्य होने के साथ ही श्रोताओं में भी कुछ योग्यताएँ होनी चाहिए। अगर श्रोता ऐसे इकट्ठे हो जायँ जो उपदेश को इस कान से सुनकर उस कान से निकाल दें या कि सुने हुए का गलत अर्थ लगाकर अपने जीवन को निर्दोष बनाने की बजाय और भी दोषपूर्ण बनालें तो भी वक्ता का उपदेश निरर्थक चला जायेगा।

जाट परिवार ने महाभारत की कथा सुनी

कहा जाता है कि किसी गाँव में एक पण्डितजी ने महाभारत की कथा लोगों को सुनाई। कथा समाप्त होने पर पंडितजी ने सहजभाव से पूछा—"क्यों भाई! कथा समझ में आई?"

पंडितजी की बात सुनकर एक जाट बोला—"महाराज! आपने कथा तो बहुत अच्छी सुनाई पर क्या बताऊँ आप बहुत देर से इस गाँव में पधारे। अगर मैं पहले ही यह कथा सुन लेता तो दुर्योधन की तरह अपने भाइयों को बाप की संपत्ति में से एक पाई भी नहीं देता और सबको वन में भेज देता।"

पति की बात सुनकर जाट की पत्नी भी बोल उठी—

"महाराज! सचमुच ही आप यहाँ देर से आए हैं नहीं तो इस जाट से ब्याह करने के पहले मैं भी जीवन का आनन्द उठाते हुए दो-चार बेटे-बेटी पैदा कर लेती और तब भी कुन्ती के समान सती शिरोमणि कहलाने लग जाती। पर अब क्या हो सकता है?"

सास-ससुर की बात सुनकर उनकी वधू पीछे कैसे रहती ? वह बोली—"अफसोस है कि आपकी कथा मैं पहले नहीं सुन पाई और अब तक यही समझती रही कि जिससे विवाह हो जाय, वही पुरुष पत्नी के लिए परमेश्वर के समान है। पर अब भी क्या बिगड़ा है ? मेरा पति तो वैसे ही सदा का रोगी है अतः अब मैं और ब्याह करके सुख से रहूँगी चाहे दुनिया कुछ भी कहे। आखिर द्रौपदी के भी तो पाँच पति थे और वह सती कहलाती थी।"

जाट परिवार की ऐसी बातें सुनकर बेचारे पण्डितजी अपना माथा ठोककर बैठ गये और सोचने लगे—'ऐसे श्रोताओं को कथा सुनाने के बदले तो मौन धारण करना ज्यादा अच्छा है।'

वस्तुतः ऐसे श्रोता वक्ता के श्रम को मिट्टी में मिला देते हैं। हम देखते हैं कि स्थानक में अनेक व्यक्ति प्रवचन सुनने के लिए आते हैं पर अधिकांश नींद लेते हैं, कुछ बार-बार खिड़की-दरवाजे की ओर देखते हैं, कुछ घड़ी के काँटों पर निगाह दौड़ाते हैं और कुछ अनमने से बैठे रहकर इधर-उधर की बातें सोचते हुए वक्त पूरा करते हैं। ऐसे श्रोताओं के पल्ले कुछ भी नहीं पड़ता। प्रवचन का लाभ वे ही उठाते हैं जो पूर्णतया सजग रहकर जिन-वाणी के एक-एक शब्द को आत्मसात् करते हैं और उन्हें दृढ़तापूर्वक जीवन में उतारते हैं।

सच्चे श्रोताओं के चौदह गुण एक श्लोक के द्वारा इस प्रकार बताये गये हैं—

> भक्तो वक्तुरगर्वितः श्रुतरुचिश्चाञ्चल्यहीनः पटुः।
> प्रश्नज्ञश्च बहुश्रुतोऽप्यनलसोऽनिद्रो जितांक्षः सुधी।
> दाता त्यक्तकथान्तरः कृतगुणप्रीतिर्न निन्दापरः,
> श्रोतुः पुंस इमे चतुर्दशगुणा विद्वज्जनैर्भाषिता।

विद्वानों ने श्रोता के चौदह गुण इस प्रकार बताये हैं कि वह—भक्त हो, वक्ता से गर्व न करने वाला हो, सुनने की रुचि रखता हो, चंचलता से रहित हो, होशियार हो, प्रश्न को समझता हो, बहुश्रुत हो, अप्रमादी, निद्रा न लेने वाला, इन्द्रियजित एवं विद्वान हो, दाता, व्यर्थ बात न करने वाला, गुणों का प्रेमी एवं किसी की निन्दा करने वाला भी न हो।

इन गुणों से अलंकृत व्यक्ति ही श्रोता कहलाने का अधिकारी होता है तथा उपदेशों का लाभ उठाकर दृढ़ विश्वास सहित आत्म-मुक्ति के पथ पर बढ़ जाता है। वह अपनी साधना के मार्ग में आने वाले किसी विघ्न या किसी भी बाधा से भयभीत नहीं होता। वह भली-भाँति जानता है कि भय का भूत अगर उसे जकड़ लेगा तो आत्मा के सम्पूर्ण गुण मंद हो जायेंगे और अवगुण उन पर हावी होकर साधना को नष्ट कर देंगे। वास्तव में ही भय का परिणाम बड़ा भयंकर होता है।

भय का भूत

किसी पुराण में एक कथा आती है कि एक बार यमराज ने अपने दूतों से कहा—

"मुझे चार सौ मृत व्यक्तियों की जरूरत है अतः पृथ्वी पर जाकर शीघ्र उन्हें ले आओ।"

यम के दूत अपने रोगादि शस्त्रों से लैस होकर मर्त्यलोक में पहुँचे तथा उनके प्रयोग से कुछ काल पश्चात् ही मृत व्यक्ति लेकर लौट आए। किन्तु चारसौ मृत प्राणियों के स्थान पर वे आठ सौ मृत जीव ले आये थे। यह देखकर यमराज अत्यन्त क्रुद्ध हुए और दूतों से बोले—मूर्खो! चार सौ के स्थान पर आठसौ प्राणियों को क्यों मार लाये?"

काँपते हुए दूतों ने हाथ जोड़कर उत्तर दिया—"प्रभो! हमारा कोई दोष नहीं है। आपकी आज्ञानुसार हमने केवल चारसौ व्यक्तियों को ही मारा था और मारकर उन्हें ला रहे थे। किन्तु रवाना होते-होते पता चला कि इन चारसौ के अलावा और भी चार सौ अत्यन्त भय के कारण मर गये हैं। फिर हम क्या करते उन्हें भी लाना पड़ा।"

इस कथा से सहज ही मालूम हो जाता है कि भय का भूत बड़ा जबर्दस्त होता है। उसके कारण न होने वाली दुखद घटनाएँ भी हो जाया करती हैं। इसलिए आत्मोत्थान के इच्छुक श्रोताओं को जिनवाणी श्रवण करने के पश्चात् निर्भय होकर पूर्ण आत्म-विश्वास से प्रगति के पथ पर बढ़ना चाहिए।

ऐसा करने पर ही उनका उपदेश-श्रवण सार्थक होगा तथा उपदेशक का उपदेश देना लाभ-प्रद बनेगा। श्रोता को प्रतिपल यह ध्यान रखना चाहिए कि जीवन अल्प है किन्तु ज्ञान असीम; अतः हंस के समान उपयोगी एवं सारभूत तत्त्व मुझे ग्रहण कर लेना है। आचार्य चाणक्य ने कहा भी है—

अनन्तशास्त्रं बहुलाश्च विद्या,
अल्पश्च कालो बहुविघ्नता च।
यत्सारभूतं तदुपासनीयं,
हंसो यथा क्षीरमिवाम्भमध्यात्।

अर्थात्—शास्त्र असंख्य हैं, विद्याएँ भी बहुसंख्यक हैं, समय कम है और बाधाएँ अनेक, अतएव हंस जिस प्रकार पानी में मिले हुए दूध को अलग करके ग्रहण करता है उसी प्रकार जो साररूप हो उसे ग्रहण करना चाहिए।

बन्धुओ, आप समझ गए होंगे कि उपदेशक का महत्त्व अनिर्वचनीय है क्योंकि उस पर असंख्य व्यक्तियों को मार्ग-दर्शन कराने की जिम्मेदारी होती है। तनिक-सी असावधानी एवं भाषा के गलत प्रयोग से वह अनेक व्यक्तियों को गुमराह कर सकता है तथा सावधानी एवं सतर्कता रखने पर गुमराह लोगों को भी सही मार्ग पर ला सकता है। किन्तु इतने पर भी उपदेश ग्रहण करने वाले श्रोताओं का कर्तव्य है कि वे अपने हृदय को सरल, गुणग्राही और जिज्ञासु बनाकर उपदेशक या प्ररूपक के समक्ष जाएँ तथा जिन-वचनों को सही रूप में ग्रहण करें। इसके बाद प्राप्त किये

ज्ञान को आत्म-विश्वास और निर्भयतापूर्वक जीवन में उतारें। ऐसा करने पर कोई भी विघ्न या बाधा उनके मंजिल की ओर बढ़ने वाले कदमों को नहीं रोक सकेगी और मुक्ति रूपी मंजिल के मतवाले व्यक्ति भगवान के वचनों को अमूल्य मानकर उनके आधार पर साध्य के समीप होते जायेंगे।

एक उर्दू के शेर में कहा है—

> दर्द औ तकलीफ से, मिलती है जो दुनिया में चीज।
> उसको रखता है वो अपनी जान से बढ़कर अजीज॥

वस्तुतः सच्चा जिज्ञासु जिनवाणी के एक-एक शब्द को कंजूस के समान अपनी आत्मा में सहेजता है तथा उन्हें आत्मसात् करता हुआ शुद्ध, बुद्ध बनकर भव-भ्रमण को रोक लेता है। जो भव्य प्राणी ऐसा करेंगे वे निश्चय ही जीवन के सर्वोत्तम लक्ष्य मुक्ति को हासिल करने में समर्थ बनेंगे।

उपस्थित आत्म बन्धुओ!

इस संसार में प्रत्येक मानव अपनी आत्मा को कर्मों से मुक्त करने की अभिलाषा रखता है। कोई भी यह नहीं चाहता कि वह अनन्त काल तक संसार-सागर में डुबकियाँ लगाता रहे। किन्तु अभिलाषा मात्र से ही उसकी आत्मा कर्मों से मुक्त नहीं हो सकती और संसार-सागर से पार नहीं हुआ जा सकता। इस महान उद्देश्य की सिद्धि के लिये भारी पुरुषार्थ करना पड़ता है या कि महान साधना करनी होती है।

आपके मन में साधना का नाम सुनकर सहज ही जिज्ञासा हुई होगी कि आत्म मुक्ति के लिए की जाने वाली साधना का क्या रूप होता है और किस प्रकार उसे सम्पन्न किया जा सकता है। वैसे तो साधना की कोई सीमा नहीं है और उसके कितने प्रकार हैं यह सहज ही बताया नहीं जा सकता केवल शब्दों में इसके चमत्कारिक महत्त्व को इस प्रकार कहा जा सकता है—

> साधना वह है जो अभिशाप को वरदान दे,
> और बर्बर हैवान को दयालु इन्सान बना दे।
> मैं तो उसी को असल में साधना मानता हूँ,
> जो आदमी को अपने बल से भगवान बना दे॥

वस्तुतः कवि ने सत्य कहा है कि साधना इन्सान को भगवान बना सकती है अगर उसमें सचाई है तो। हमें अब यही देखना है कि साधना में सचाई कैसे आती है और किन बातों की नींव पर वह आधारित रहती है?

साधना की नींव

मोक्ष को प्राप्त कराने वाली साधना की नींव व्रतों के द्वारा भरी जाती है। आप जानते हैं कि प्रत्येक साधक साधना करने से पूर्व व्रतों को ग्रहण करता है। अगर उसमें सामर्थ्य होती है तो वह पाँच महाव्रतों को धारण करके मुनि बन जाता है और

शक्ति में कमी होने पर अणुव्रतधारी श्रावक रहकर भी साधना करता है। साधना दोनों की होती है अन्तर यही होता है कि श्रावक साधना के पथ पर धीरे-धीरे अग्रसर होता है और साधु महाव्रतों की घोर कठिनाइयों, परीषहों और उपसर्गों से गुजरता हुआ तीव्रगति से अपने लक्ष्य मुक्ति की ओर बढ़ जाता है। कहने का अभिप्राय यही है कि साधना के मार्ग पर चलने वाले को व्रत ग्रहण करने अनिवार्य हैं और इसलिए अपनी शक्ति के अनुसार उसे व्रत अपनाने चाहिए।

व्रत ग्रहण करने से पूर्व

बन्धुओ, अभी मैंने आपको बताया है कि साधना से पूर्व व्रतों को ग्रहण करना आवश्यक है। पर व्रतों को ग्रहण करने से पूर्व उन्हें भली-भाँति समझना भी आवश्यक है। जब तक साधक व्रतों के स्वरूप को न समझ ले, उन्हें अपनाकर उनका पालन नहीं कर सकता। उदाहरणस्वरूप आप में से अनेक व्यक्ति अगर कपड़े के व्यापारी हैं तो आपके लिए आवश्यक है कि अपनी दुकान में रहे हुए कपड़े की आप कीमत मालूम करें, प्रत्येक प्रकार के कपड़े की किस्म जानें और एक-दूसरे के अन्तर को समझें। ऐसा न करने पर आप कपड़ा बेचेंगे कैसे और दुकानदारी किस प्रकार चलायेंगे ?

व्रतों के विषय में भी ठीक यही बात है। जब तक साधक उनके स्वरूप को न समझ ले तथा उनकी सही पहचान न करले, तब तक उन्हें पालन करने में सक्षम कैसे बन सकता है ? व्रतों की पहचान के अभाव में उनका पालन करना मात्र अभिनय बनकर ही रह जाता है क्योंकि उनसे आत्मा का सान्निध्य प्राप्त नहीं हो सकता। भले ही हम पाँच महाव्रत ग्रहण करके साधु बन बैठें और आप बारहव्रतधारी श्रावक बन जायँ किन्तु दोनों का कार्य रामलीला में अभिनय करने वाले राम-लक्ष्मण जैसा रहेगा। रामलीला के मैदान में हजारों व्यक्ति एकत्र होते हैं और कोई भी दो अभिनेता राम एवं लक्ष्मण का अभिनय करते हैं। उनके अभिनय से गद्गद होकर लोग तालियाँ बजाते हैं, मौका मिलने पर अभिनेता राम के चरण छू आते हैं। इतना ही नहीं दिल्ली जैसे स्थानों पर तो प्रधानमन्त्री या मन्त्री राम-लक्ष्मण को मालाएँ भी पहिना देते हैं, किन्तु क्या वे अभिनय करने वाले राम-लक्ष्मण के जैसा देवत्व प्राप्त कर लेते हैं ? नहीं, लीला समाप्त होते ही वे जैसे के तैसे साधारण व्यक्ति दिखाई देते हैं। इसका कारण यही है कि राम और लक्ष्मण की विशेषताओं को या उनके दैवी गुणों को वे आत्मसात् नहीं करते तथा उनके स्वरूप को सच्चे अर्थों में हृदयंगम नहीं कर पाते। यही कारण है कि राम का अभिनय करके भी व्यक्ति राम जैसा नहीं बनता और लक्ष्मण का अभिनय करके लक्ष्मण जैसा नहीं हो सकता। ठीक इसी प्रकार अगर साधक व्रतों को आत्मसात नहीं करता तो वह साधु का अभिनय करके भी सच्चा साधु नहीं बन पाता और श्रावक का अभिनय करके श्रावक नहीं बन जाता। दोनों ही साधारण व्यक्ति रह जाते हैं। इसलिए व्रतों के स्वरूप की पहचान और आत्मा के द्वारा उनका ग्रहण दोनों ही साधक के लिए अनिवार्य हैं।

व्रतों की भूमिकाएँ

श्रमण संस्कृति के अग्रदूत भगवान महावीर ने व्रती के लिए व्रत की तीन भूमिकाओं का निर्देश किया है, जिन्हें समझना प्रत्येक आत्मार्थी के लिए अनिवार्य है। जिस प्रकार सुन्दर भवन का निर्माण करने से पूर्व भूमि को देखा जाता है कि वह सम है या विषम। भवन समभूमि पर ही निर्मित होता है विषम पर नहीं। इसी प्रकार व्रतों को ग्रहण करने से पूर्व भी मानस रूपी भूमि को देखा-परखा जाता है और विषम होने पर उसे सम बनाया जाता है। आप विचार करेंगे कि मानस रूपी भूमि को कैसे विषम समझा जाता है और विषम होने पर उसे सम कैसे बनाया जाता है ?

इस बात का समाधान करने के लिए यही कहा जा सकता है कि जिस प्रकार बीज डालने से पूर्व किसान खेत की भूमि को कंकर-पत्थर, घास-फूस आदि से रहित बनाकर शुद्ध करता है, इसी प्रकार व्रत-साधना से पूर्व साधक के लिए भी मन रूपी भूमि को राग-द्वेषादि कषायों से रहित करके शुद्ध एवं निर्मल बनाना चाहिए। कषाय रूपी कचरे से रहित एवं समाधि भाव से युक्त मन में ही व्रतों के सुन्दर बीज जमते हैं तथा ध्येय-सिद्धि रूपी फसल की प्राप्ति होती है।

श्री उत्तराध्ययनसूत्र के उन्तीसवें अध्ययन में बताया गया है कि गौतम स्वामी भगवान महावीर से प्रश्न करते हैं—

"मण समाहारणयाए णं भंते ! जीवे किं जणयइ ?"

अर्थात्—"हे भगवान ! मन समाधारणा से जीव को क्या लाभ होता है ?

भगवान ने इसके उत्तर में फरमाया—

"मण समाहारणयाए णं एगग्गं जणयइ, एगग्गं जणइत्ता नाणपज्जवे जणयइ, नाणपज्जवे जणइत्ता, सम्मत्तं विसोहेइ मिच्छत्तं च निज्जरेइ।"

यानी—मन समाधारणा से एकाग्रता और एकाग्रता से ज्ञान की पर्यायें प्रकट होती हैं। इससे सम्यक्त्व की शुद्धि और मिथ्यात्व की निर्जरा होती है।

अभिप्राय यही है कि साधना करने और व्रतों को अपनाने से पूर्व साधक को मन की पूर्ण रूप से शुद्धि करनी चाहिए। मन के शुद्ध होने पर ही व्रतों का पालन सम्यक् रूप से हो सकता है। भगवान ने इन्हीं सब बातों को ध्यान में रखते हुए व्रतों की तीन भूमिकाएँ निर्देश की हैं—(१) श्रद्धा का जागरण (२) स्थिरीकरण और (३) आत्मरमण। □

8

मोह और मोक्ष

भारतवर्ष के महापुरुषों और दार्शनिकों ने संसार के अकल्याण और विश्व को अधोगति में ले जाने का कारण बताया है—मोह को। इसी प्रकार आत्मकल्याण एवं जीवन की पवित्रता का हेतु बताया है—मोक्ष को। जीवन में आत्म-शुद्धि और आत्म-हित के लिए इन दोनों बातों पर ध्यान देना आवश्यक है। मोह और मोक्ष इन दोनों बातों का यथार्थ विवेक जब तक नहीं होगा, तब तक व्यक्ति आत्महित को नहीं पहिचान सकेगा और न ही आत्मा पर लग जाने वाली या लगी हुई अशुद्धियों को जान कर उन्हें मिटाने के लिए प्रयत्न करके आत्मशुद्धि ही कर सकेगा।

सर्वत्र मोह का अन्धकार

संसार के प्राणिमात्र को मोह ने घेर रखा है। चारों ओर मोह का जाल बिछा हुआ है। क्या परिवार, क्या सम्प्रदाय, क्या जाति एवं क्या अन्य इकाई, सर्वत्र मोह का अंधेरा व्याप्त है। कहीं धन का मोह है तो कहीं पुत्र का मोह है, कहीं स्त्री का मोह है तो कहीं गहने-कपड़ों का मोह है। कहीं मकान, दूकान, घर के फर्नीचर एवं बर्तनों का मोह लगा हुआ है, कहीं जमीन-जायदाद का मोह है। इन सब मोहों से छूटकर मनुष्य जरा आगे बढ़ता है, उच्च साधना के द्वार पर पहुँचता है तो वहाँ भी सम्प्रदाय, परम्परा, आचार-विचार, शिष्य-शिष्या, अनुयायी, गुरु परम्परा, शास्त्र-परम्परा और भगवानों के नाम पर मोह का जाल बिछा हुआ प्रतीत होता है। जिस मोह के जाल से बचने के लिए साधक घर-बार, कुटुम्ब-कबीला, जमीन-जायदाद आदि सब कुछ छोड़ता है, उसी का रूपान्तर होकर नये रूप में मोह सामने आ जाता है।

मोहजाल में फँस जाने पर

जब मोह के जाल में मनुष्य फँस जाता है तो वह उसे अंधा बना देता है, उसके ज्ञाननेत्रों पर अविवेक का पर्दा डाल देता है। ज्ञान नेत्रों के बंद हो जाने से मनुष्य इन स्थूल आँखों से देखता हुआ भी जगह-जगह ठोकरें खाता है। उसके ज्ञान-नेत्र धुंधले हो जाते हैं। वह अपने सामने हिंसा का नजारा देखता जाता है, अन्याय और अत्याचार का ताण्डव नृत्य देखता जाता है, व्यभिचार के दृश्य उसे दृष्टिगोचर होते रहते हैं, लोभ का अन्धकूप उसकी दृष्टि में आ जाता है, अभिमान के अजगर को भी वह देख लेता है, मायापिशाचिनी को भी वह जान-पहिचान जाता है, फिर भी

वह इन सबके चंगुल में फंसता जाता है। उसमें इस प्रकार का विवेक नहीं होता कि मैं इनसे कैसे छुटकारा पाऊँ ? उसमें इतनी हिम्मत नहीं होती कि वह कैसे कषायों और विषयों से आवृत मोहजाल को तोड़ें? उसमें इतना साहस नहीं होता कि वह मोह के भंवर जाल से मुक्ति पा सके। उसमें इतना आत्म-विश्वास नहीं होता कि वह मोह के उस संकीर्ण किन्तु कठोर घेरे को तोड़ दे ? उसमें इतनी तीव्र श्रद्धा नहीं होती कि वह मोह से अनुप्राणित अन्धश्रद्धा के कारागार से मुक्त हो सके, न उसमें इतना आत्मबल होता है कि वह मोह के तमाम अड्डों को समाप्त कर दे, मोह के समस्त स्रोतों को बंद कर दे।

मोह एकाएक नहीं आ जाता

मोह जब मनुष्य के जीवन में आता है तो एकाएक नहीं आ जाता। बचपन से ही मोह की परतें उत्तरोत्तर घनी से घनी होती जाती हैं। बचपन में बालक को माता का मोह, खिलौनों का मोह आदि होते हैं। फिर धीरे-धीरे पुस्तकों, दोस्तों, सुन्दर वस्तुओं एवं सुन्दर वस्त्राभूषणों आदि का मोह जागता है। युवा होने पर धन, भवन, वस्त्र, आभूषण, स्त्री और बच्चों का मोह प्रबल हो जाता है, जो उत्तरोत्तर प्रबलतम होता जाता है। फिर पांचों इन्द्रियों के विषयों में तथा कषायों में मोहराज जीव को बुरी तरह फंसाता है। मोह से मोह बढ़ता जाता है। यहाँ तक कि बुढ़ापा आने पर भी, इन्द्रियाँ शिथिल हो जाने और जीवन में नीरसता आ जाने पर भी मोह का रंग छूटता नहीं है। मतलब यह है कि बचपन से लेकर बुढ़ापे तक, जन्म से लेकर मृत्यु तक मोह से मनुष्य का पिंड छूटता नहीं है।

मोह की उत्पत्ति का कारण

सवाल यह होता है कि यह मोह कैसे पैदा होता है ?

तीर्थंकरों ने इस पर सबसे पहली चोट की। मोह को ही सबसे पहले समाप्त किया। जब तक मोह-सेनापति को खदेड़ा नहीं जाता, तब तक ज्ञान, दर्शन और चारित्र सम्यक् नहीं होते, और अन्य कर्म भी क्षीण नहीं होते, उज्ज्वल ज्ञान का प्रकाश नहीं होता। इसीलिए मोह को सर्वप्रथम क्षय करने की बात महापुरुष सोचते हैं। उन्होंने अपने स्पष्ट अनुभव के आधार पर केवलज्ञान के आलोक में देखकर कहा कि मोह की उत्पत्ति का मूल कारण ममत्व है। जब मनुष्य के मन में मेरेपन की, ममकार की अहंकार की भावना जागती है, तब मोह पैदा होता है और मोहान्ध होकर मनुष्य उस अपने कहे या माने गये ममत्वयुक्त पदार्थ के लिए जान लड़ा देता है, लड़ने-मरने को तैयार हो जाता है, उसकी गलती उसे गलती नहीं लगती, उसकी कुरूपता, उसका बेडौलपन, उसका तीखा झगड़ालु स्वभाव, उसकी बुरी आदतें, उसके द्वारा किये हुए पापकर्मों, अन्याय, अत्याचार या उससे होने वाली हानियों को वह बिल्कुल नजरअन्दाज कर देता है।

मोहमोहित धृतराष्ट्र

दुर्योधन इतना मक्कार था कि पाण्डवों के साथ कदम-कदम पर अन्याय-

अत्याचार करता था। जुआ खेलने का प्लान उसने ही रखा, पाण्डवों के वनवास और अज्ञातवास की योजना उसी ने तैयार की थी। दुर्योधन के सब कुकर्मों को जानते-सुनते हुए भी धृतराष्ट्र (दुर्योधन के पिता) से जब किसी ने कहा कि आप दुर्योधन की ये मक्कारियाँ तथा इन दुष्कर्मों को जानते-बूझते हैं, फिर भी इसे कुछ कहते क्यों नहीं ? इससे अपना सम्बन्ध क्यों नहीं तोड़ देते ? इससे अपना सम्पर्क क्यों नहीं बन्द कर देते ? तो धृतराष्ट्र ने जो उक्ति कही, वह महाभारत के पृष्ठ पर अंकित है—

कुर्वन्नपि व्यलीकानि यः प्रियः प्रिय एव सः।

—बुराइयाँ या बुरे कर्म करते हुए भी जो प्रिय है, वह प्रिय है ही। उसे कैसे छोड़ा जा सकता है ? आखिर तो वह मेरा पुत्र है ! वह मेरा ही तो अंग है !

ममत्व एक तरह से मोह का छोटा भाई है। संसार के जो भी दुःख-द्वन्द्व हैं, वे सब इसी ममत्व से पैदा होते हैं। जब तक ममत्व का—मेरेपन का जाल नहीं टूटेगा, तब तक यह आत्मा अपनी स्वतन्त्रता के रहस्य को प्राप्त नहीं कर सकता।

मोह की गाँठ बहुत मजबूत है

कई दफा साधक मोहजाल को तोड़ने के लिए साधना करता है। साधना करते-करते किनारे आ जाता है। किन्तु किनारे आकर भी डूब जाता है। ममत्व की गाँठ तोड़ने के लिए साधक चलता है, किन्तु जहाँ पर चोट लगानी चाहिए, वहाँ नहीं लगाता और गाँठ को सुलझाने के बदले अधिक उलझा देता है। कारण यह है कि धर्मशास्त्र कहते हैं—यह मत करो, ममत्व मत करो, परिग्रह का त्याग करो, मोह को छोड़ो, मोह न करो आदि। परन्तु इतनी बात से यानी छोटे-से सूत्र से साधारण साधक चक्कर में पड़ जाता है, वह सोचने लगता है कि 'मोह मत करो' 'ममत्व मत करो' कहा है, किन्तु ममत्व और मोह हैं क्या ? इनका स्वरूप क्या है ? इन्हें कैसे पहचाना जाए ? ममत्व को न करने की बात क्यों कही ? इनको छोड़ने या न करने की बात क्यों कही ? इनको छोड़ने या न करने का क्या अर्थ है ? ममत्व और मोह क्यों नहीं करना चाहिए ? इनके करने से क्या हानि है ? न करने से क्या लाभ है ? ममत्व और मोह न किया जाय तो कौन-सा तत्त्व पकड़ा जाय, जिससे समत्व और मोक्ष प्राप्त हो ? ये और इस प्रकार के प्रश्न उठते हैं, और इनका समाधान धर्मशास्त्र प्रायः नहीं कर पाते। धर्मशास्त्र के बाद दर्शनशास्त्र अपना ढिंढोरा पीटते हैं कि वस्तु के स्वरूप का यथार्थ ज्ञान करो, तत्त्वभूत वस्तु पर श्रद्धा करो। जब तक सम्यक्दर्शन नहीं है, तब तक सत्य स्वरूप को परखने की शक्ति प्राप्त नहीं हो सकती। जब तक इस प्रकार की जागृति नहीं आती, तब तक ममत्व या मोह छोड़ने की बात कहाँ से और कैसे शुरू की जाय ? कहाँ से शुरू करने से भटक जाएँगे ? इत्यादि ज्ञान न होने के कारण साधक सफलता प्राप्त नहीं कर पाता। धर्म तो चला, दर्शन की मशाल भी जली, किन्तु चिन्तन का तेल नहीं मिला, विचारों का तेल उस मशाल में नहीं डाला गया तो घास की आग की तरह कुछ देर तक जलकर वह मशाल समाप्त हो गई।

परिणाम यह आया कि साधक अंधेरे में भटकता रहा। निष्कर्ष यह है कि धर्मशास्त्र सिद्धान्त की बात कहकर झटपट समाप्त कर देता है। परन्तु आगे और क्या, कैसे, क्यों और किसलिए? आदि प्रश्न साधक के मन में उठ खड़े होते हैं, उनका समाधान उसके पास नहीं है। हजारों बातें ऐसी हैं, जो आगे अड़कर खड़ी हो जाती हैं, समाधान के लिए। साधक के मन में जब तक यह जँच न जाय कि यह क्यों, कैसे और किसलिए है तब तक वह आगे बढ़ नहीं सकेगा। दर्शन में जब तक समाधान की यह शक्ति रहती है, तब तक वह कहीं नहीं भटकेगा, गड़बड़ाएगा नहीं। इसीलिए भगवद्गीता में कहा है—

किं कर्म, किमकर्मेति कवयोऽप्यत्र मोहिताः।

क्या कर्तव्य है, क्या अकर्तव्य है, इस विषय में बड़े-बड़े कवि, मनीषी एवं विचारक भी मोहित हो जाते हैं। जिन्हें दर्शन की आँखें नहीं प्राप्त हैं, वे ही इस चक्कर में आते हैं, जिन्हें ये आँखें प्राप्त हैं, वे चक्कर में नहीं पड़ते।

मोह-ममत्व को कहाँ से छोड़ें?

प्रश्न यह होता है कि इन मोह और ममत्व को छोड़ें जरूर, पर छोड़ें कहाँ से? किस सिरे से इन्हें पकड़ें? मोह तो बहुत बड़ा और विशाल है। केवल लोक में ही नहीं, अलोक तक में मोह व्याप्त है। मोह के घेरे में सम्पूर्ण लोक (विश्व) और अलोक तक भी आ सकता है। और ममत्व का घेरा कितना बड़ा है? यह विराट् विश्व और अलोक भी इस सीमा में आ सकता है। प्रश्न है, यह सारा विराट् विश्व मोह-ममत्व के घेरे में कैसे आ सकता है? आप जब सो जाते हैं और सोते में कोई सपना देखते हैं तो विशाल भूमण्डल आपके सपने में होता है या नहीं? विशाल आकाशयात्रा का सपना आया कि विशाल आकाश है—गगन-मण्डल है और हजारों ही नहीं, लाखों-करोड़ों तारे चमक रहे हैं, चाँदनी छिटकी हुई है। सपने का घेरा कितना छोटा घेरा है? परन्तु उसमें समस्त विश्व—लोक-अलोक का सपना आ सकता है या नहीं?

विकल्पों की महिमा बहुत बड़ी है। सपने में विकल्प ही तो होते हैं। सपना देखने वाले तो आप स्वयं ही होते हैं, लेकिन लड़ाई होती है तो वहाँ कई योद्धा होते हैं। दोनों तरफ के योद्धा गोलियाँ बरसा रहे हैं। खून बरस रहा है। हाथी, घोड़े, रथ और पैदल सैनिक होते हैं, हजारों की संख्या में। ये सब आपके ही विकल्पों के रूप हैं—जो दो भागों में विभक्त होते हैं। मारने वाले भी आप और जो मारे जा रहे हैं, वे भी आप हैं। आपके ही ये विकल्प मन से प्रादुर्भूत हैं। मान लीजिए, सपने में पिता-पुत्र घूम रहे हैं। वहाँ आप ही पिता होते हैं और आप ही पुत्र। दोनों विकल्प आपके ही मन के होते हैं वहाँ। बड़ी विचित्र बात है। इस दृष्टि से विकल्पात्मक जगत् कुछ ऐसा होता है कि उसमें विराट् विश्व समा जाता है।

इसी प्रकार मोह-ममत्व भी मन के ही विकल्प हैं। और कोई अलग चीज

मोह-ममत्व नहीं हैं। किसी पदार्थ पर मोह या ममत्व का लेबल लगा हुआ नहीं होता। अगर पदार्थ पर मोह या ममत्व का लेवल लगा होता तो जिस पदार्थ को आप उठाते या रखते हैं, उसी पदार्थ को अपरिग्रही संत उठाएगा तो उसके मन में मोह या ममत्व नहीं होगा। अथवा जिस पदार्थ पर आपका ममत्व है, उसी पत्नी नामक सजीव पदार्थ पर दूसरे का ममत्व नहीं होगा, इसलिए एक ही वस्तु पर एक का ममत्व या मोह होता है और दूसरे का ममत्व या मोह नहीं होता। ये दोनों विरोधी विकल्प न उठते। इसीलिए मोह-ममत्व अपने-अपने मन के विकल्प हैं। किसी भी पदार्थ पर ममत्व या मोह लिखा हुआ नहीं होता और न ही कोई पदार्थ अपने आप में मोह या ममत्व पैदा करने या न करने वाले होते हैं। पदार्थ तो अपने आप में पदार्थ हैं। उनको देखकर आपको मोह-ममत्व भी आ सकता है, विरक्ति या अनासक्ति भी आ सकती है। इसलिए दार्शनिक क्षेत्र में मोह-ममत्व की व्याख्या यही की गई कि मन से प्रादुर्भूत हुए विकल्प ही मोह-ममत्व हैं। जो कुछ भी अन्दर द्वन्द्व हो रहे हैं, ये आखिरकार क्या हैं ? ये कोई बाहर से भागकर आपके अन्दर छिपे हुए शत्रु नहीं हैं। ये आपके ही मन से उठाए हुए विकल्प हैं। आपके विकल्पों में 'मैं और मेरा' मोह-ममत्व का रूप लेते हैं। मतलब यह है कि आपका मन जब किसी वस्तु पर मेरेपन की, आसक्ति की, अहंत्व की छाप लगा देता है, तब वह वस्तु आपके मन में ममत्व और मोहरूप में परिणत हो जाती है। मन की लेबोरेटरी में आप विविध पदार्थों पर जब अहंत्व, ममत्व या मैं या मेरे की छाप लगा देते हैं, तब जाकर वे पदार्थ ममत्व और मोह का रूप ले लेते हैं।

मन से प्रादुर्भूत इन विकल्पों की कोई सीमाएँ नहीं हैं, वे असीम होते हैं। इसलिए मोह, ममत्व की भी कोई सीमाएँ नहीं होतीं, वे भी असीम, अनन्त होते हैं। आप अनन्त की बात सुनते ही गड़बड़ा जाते हैं, लेकिन मोह-ममत्व अनन्त-अनन्त काल से चला आ रहा है, वह मरा तो नहीं है। तो वह काल से भी अनन्त हुआ या नहीं ? मोह दस-बीस हजार वर्षों से नहीं, अनन्त-अनन्त जन्मों से है। अनन्त-अनन्त काल की यात्रा करता हुआ आपका ममत्व चला आ रहा है। यानी जब से आप हैं, तभी से आपका ममत्व चला आ रहा है।

मोह की पहिचान बड़ी कठिन

दूसरी बात यह है कि ममत्व या मोह बाहर में दिखाई देने वाली कोई चीज नहीं है कि जिसे हाथ में लेकर बताया जा सके। ये तो एक प्रकार के भाव हैं। जब बंध होता है—मोह-ममत्व का पुद्गलों के साथ, तो अनन्त-अनन्त कर्मवर्गणाओं का होता है, जो कि उनकी पर्यायें हैं, न्यूनाधिक अवस्थाएँ हैं। वे न्यूनाधिक होते जाते हैं, माया की छलनी की तरह। मोह बहुरूपिया है। वह अनेक रूपों में आता है। इन्द्रजाल भी उसके सामने तुच्छ है। उसके सामने रावण की बहुरूपिणी या बहुसारिणी विद्या भी नगण्य है। कभी-कभी मोह ऐसा रूप बनाता है कि आप उसे पहिचान

परिणाम यह आया कि साधक अंधेरे में भटकता रहा। निष्कर्ष यह है कि धर्मशास्त्र सिद्धान्त की बात कहकर झटपट समाप्त कर देता है। परन्तु आगे और क्या, कैसे, क्यों और किसलिए ? आदि प्रश्न साधक के मन में उठ खड़े होते हैं, उनका समाधान उसके पास नहीं है। हजारों बातें ऐसी हैं, जो आगे अड़कर खड़ी हो जाती हैं, समाधान के लिए। साधक के मन में जब तक यह जँच न जाय कि यह क्यों, कैसे और किसलिए है तब तक वह आगे बढ़ नहीं सकेगा। दर्शन में जब तक समाधान की यह शक्ति रहती है, तब तक वह कहीं नहीं भटकेगा, गड़बड़ाएगा नहीं। इसीलिए भगवद्-गीता में कहा है—

किं कर्म, किमकर्मेति कवयोऽप्यत्र मोहिताः।

क्या कर्तव्य है, क्या अकर्तव्य है, इस विषय में बड़े-बड़े कवि, मनीषी एवं विचारक भी मोहित हो जाते हैं। जिन्हें दर्शन की आँखें नहीं प्राप्त हैं, वे ही इस चक्कर में आते हैं, जिन्हें ये आँखें प्राप्त हैं, वे चक्कर में नहीं पड़ते।

मोह-ममत्व को कहाँ से छोड़ें ?

प्रश्न यह होता है कि इन मोह और ममत्व को छोड़ें जरूर, पर छोड़ें कहाँ से ? किस सिरे से इन्हें पकड़ें ? मोह तो बहुत बड़ा और विशाल है। केवल लोक में ही नहीं, अलोक तक में मोह व्याप्त है। मोह के घेरे में सम्पूर्ण लोक (विश्व) और अलोक तक भी आ सकता है। और ममत्व का घेरा कितना बड़ा है ? यह विराट् विश्व और अलोक भी इस सीमा में आ सकता है। प्रश्न है, यह सारा विराट् विश्व मोह-ममत्व के घेरे में कैसे आ सकता है ? आप जब सो जाते हैं और सोते में कोई सपना देखते हैं तो विशाल भूमण्डल आपके सपने में होता है या नहीं ? विशाल आकाशयात्रा का सपना आया कि विशाल आकाश है—गगन-मण्डल है और हजारों ही नहीं, लाखों-करोड़ों तारे चमक रहे हैं, चांदनी छिटकी हुई है। सपने का घेरा कितना छोटा घेरा है ? परन्तु उसमें समस्त विश्व—लोक-अलोक का सपना आ सकता है या नहीं ?

विकल्पों की महिमा बहुत बड़ी है। सपने में विकल्प ही तो होते हैं। सपना देखने वाले तो आप स्वयं ही होते हैं, लेकिन लड़ाई होती है तो वहाँ कई योद्धा होते हैं। दोनों तरफ के योद्धा गोलियाँ बरसा रहे हैं। खून बरस रहा है। हाथी, घोड़े, रथ और पैदल सैनिक होते हैं, हजारों की संख्या में। ये सब आपके ही विकल्पों के रूप हैं—जो दो भागों में विभक्त होते हैं। मारने वाले भी आप और जो मारे जा रहे हैं, वे भी आप हैं। आपके ही ये विकल्प मन से प्रादुर्भूत हैं। मान लीजिए, सपने में पिता-पुत्र घूम रहे हैं। वहाँ आप ही पिता होते हैं और आप ही पुत्र। दोनों विकल्प आपके ही मन के होते हैं वहाँ। बड़ी विचित्र बात है। इस दृष्टि से विकल्पात्मक जगत् कुछ ऐसा होता है कि उसमें विराट् विश्व समा जाता है।

इसी प्रकार मोह-ममत्व भी मन के ही विकल्प हैं। और कोई अलग चीज

मोह-ममत्व नहीं हैं। किसी पदार्थ पर मोह या ममत्व का लेबल लगा हुआ नहीं होता। अगर पदार्थ पर मोह या ममत्व का लेबल लगा होता तो जिस पदार्थ को आप उठाते या रखते हैं, उसी पदार्थ को अपरिग्रही संत उठाएगा तो उसके मन में मोह या ममत्व नहीं होगा। अथवा जिस पदार्थ पर आपका ममत्व है, उसी पत्नी नामक सजीव पदार्थ पर दूसरे का ममत्व नहीं होगा, इसलिए एक ही वस्तु पर एक का ममत्व या मोह होता है और दूसरे का ममत्व या मोह नहीं होता। ये दोनों विरोधी विकल्प न उठते। इसीलिए मोह-ममत्व अपने-अपने मन के विकल्प हैं। किसी भी पदार्थ पर ममत्व या मोह लिखा हुआ नहीं होता और न ही कोई पदार्थ अपने आप में मोह या ममत्व पैदा करने या न करने वाले होते हैं। पदार्थ तो अपने आप में पदार्थ हैं। उनको देखकर आपको मोह-ममत्व भी आ सकता है, विरक्ति या अनासक्ति भी आ सकती है। इसलिए दार्शनिक क्षेत्र में मोह-ममत्व की व्याख्या यही की गई कि मन से प्रादुर्भूत हुए विकल्प ही मोह-ममत्व हैं। जो कुछ भी अन्दर द्वन्द्व हो रहे हैं, ये आखिरकार क्या हैं? ये कोई बाहर से भागकर आपके अन्दर छिपे हुए शत्रु नहीं हैं। ये आपके ही मन से उठाए हुए विकल्प हैं। आपके विकल्पों में 'मैं और मेरा' मोह-ममत्व का रूप लेते हैं। मतलब यह है कि आपका मन जब किसी वस्तु पर मेरेपन की, आसक्ति की, अहंत्व की छाप लगा देता है, तब वह वस्तु आपके मन में ममत्व और मोहरूप में परिणत हो जाती है। मन की लेबोरेटरी में आप विविध पदार्थों पर जब अहंत्व, ममत्व या मैं या मेरे की छाप लगा देते हैं, तब जाकर वे पदार्थ ममत्व और मोह का रूप ले लेते हैं।

मन से प्रादुर्भूत इन विकल्पों की कोई सीमाएँ नहीं हैं, वे असीम होते हैं। इसलिए मोह, ममत्व की भी कोई सीमाएँ नहीं होतीं, वे भी असीम, अनन्त होते हैं। आप अनन्त की बात सुनते ही गड़बड़ा जाते हैं, लेकिन मोह-ममत्व अनन्त-अनन्त काल से चला आ रहा है, वह मरा तो नहीं है। तो वह काल से भी अनन्त हुआ या नहीं? मोह दस-बीस हजार वर्षों से नहीं, अनन्त-अनन्त जन्मों से है। अनन्त-अनन्त काल की यात्रा करता हुआ आपका ममत्व चला आ रहा है। यानी जब से आप हैं, तभी से आपका ममत्व चला आ रहा है।

मोह की पहिचान बड़ी कठिन

दूसरी बात यह है कि ममत्व या मोह बाहर में दिखाई देने वाली कोई चीज नहीं है कि जिसे हाथ में लेकर बताया जा सके। ये तो एक प्रकार के भाव हैं। जब बंध होता है—मोह-ममत्व का पुद्गलों के साथ, तो अनन्त-अनन्त कर्मवर्गणाओं का होता है, जो कि उनकी पर्यायें हैं, न्यूनाधिक अवस्थाएँ हैं। वे न्यूनाधिक होते जाते हैं, माया की छलनी की तरह। मोह बहुरूपिया है। वह अनेक रूपों में आता है। इन्द्रजाल भी उसके सामने तुच्छ है। उसके सामने रावण की बहुरूपिणी या बहुसारिणी विद्या भी नगण्य है। कभी-कभी मोह ऐसा रूप बनाता है कि आप उसे पहिचान

चान भी नहीं सकते कि यह मोह है। परन्तु वह वहाँ बैठा होता है। वहाँ भी वह अपना आसन जमाए बैठा रहता है। बहुत ही बारीकी से विश्लेषण एवं अवलोकन करने पर शायद आप उसे पहचान सकें, अन्यथा मोह को पहचानना बड़ा कठिन है।

मोह के त्याग में विवेक होना आवश्यक

आपके पास दर्शन की शक्ति है, आपकी दृष्टि स्पष्ट है, तो आप मालूम कर लेंगे कि मोह अनन्त-असीम है, उसी से मुझे संघर्ष करना है, उस पर ही विजय प्राप्त करनी है। किन्तु आप अगस्त्य ऋषि नहीं बन सके हैं कि मोह रूपी समुद्र को एक ही चुल्लू में पी लेंगे। आप यह तो सोचेंगे कि इस मोह रूपी समुद्र को पीकर सुखाना जरूर है, पर आप सोचेंगे कि किस सिरे से, किस किनारे से पीएँ ? मोह को कैसे हजम किया जाए, कैसे समाप्त किया जाए ? इसके लिए आप उत्तर पाना चाहेंगे। किन्तु इसका उत्तर दर्शनशास्त्र ही दे सकता है कि कहाँ से मोह-दमन या मोह-शमन की शुरूआत की जाए। कभी-कभी शुरूआत करने में क्रम के सिलसिले का ज्ञान नहीं होता है तो उलटा क्रम पकड़ लेने से आप गड़बड़ा भी सकते हैं। सम्भव है, निशाना ठीक लक्ष्य पर न लगे तो आप गड़बड़ा भी जाएँ। अतः साधना मोहक्षय की हो या और कोई हो, उसमें भी क्रम रहता है। विधिरूप या निषेध रूप, दोनों तरह की साधना में क्रम होता है। जैसे शास्त्रकार हिंसा का त्याग करने की बात कहते हैं तो किधर से, कहाँ से हिंसा का त्याग करें ? यह सवाल सामने आएगा। शास्त्रकार तो यह कह कर अपनी बात समाप्त कर देते हैं कि सभी जीवों की हिंसा का त्याग करो। अगर आप एकेन्द्रिय जीवों—मिट्टी-पानी-हवा-वनस्पति-अग्नि के जीवों—की हिंसा के त्याग से शुरू करते हैं तो उन जीवों की हिंसा बंद कर देंगे या नहीं, इसमें भी सन्देह है। क्योंकि अपको हवा, वनस्पति, अग्नि और मिट्टी-पानी की प्रतिदिन जरूरत पड़ेगी। आप गृहत्यागी साधु-साध्वी तो नहीं बन गए कि आहार-पानी सीधा ही ले आएँ या किसी गृहस्थ के बने बनाए मकान में ही निवास कर लें, या जीवन की आवश्यकताएँ भी किसी अन्य की चीजों से पूर्ण कर लें, अतः एकेन्द्रिय की हिंसा तो छूट नहीं सकेगी, आप द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय और पंचेन्द्रिय—पशु-पक्षी-मनुष्य आदि की हिंसा (खुली होने से) करते रहेंगे। अथवा चींटी, मकोड़ों की हिंसा के त्याग से शुरू करेंगे तो मनुष्य और पशु की हिंसा जारी रहेगी। प्रश्न यह है कि हिंसा का त्याग तो करें, पर किधर से करें, कहाँ से करें ? यह सवाल जब तक हल नहीं होता, तब तक अहिंसा की साधना भलीभाँति नहीं हो सकती। इस क्रम को अच्छी तरह न समझने के कारण ही संसार में बहुत-से मत-मतान्तर, पंथ और सम्प्रदाय गड़बड़ में पड़ गए और कई लोग तो जैनों की अहिंसा पर आक्षेप भी लगाने लगे कि यह तो मनुष्य को कायर बना देती है, देश को भीरु बनाती है आदि। वे सम्प्रदाय और मत अहिंसा का तो नारा लगाते रहे, पर उनके आचरण का दिवाला निकल गया। अहिंसा की साधना के नाम पर शून्य रहे। इसीलिए जैनदर्शन ने बताया कि अहिंसा की साधना

मानव से प्रारम्भ करो। सबसे ज्यादा विकासशील, चेतनाशील, इन्द्रियों और मन के विकास में जो अग्रणी है, वह मानव है। उसकी हिंसा का त्याग सर्वप्रथम करो, तत्पश्चात् धीरे-धीरे अपनी शक्ति बढ़ाते हुए, अपनी आध्यात्मिक भूमिका को उच्च बनाते हुए उसे नीचे के पञ्चेन्द्रिय प्राणियों, फिर त्रस जीवों—द्वीन्द्रिय से लेकर पंचेन्द्रिय तक के अन्य जीवों तक की हिंसा का त्याग करते हुए आगे बढ़ो। यानी मनुष्य से क्रमशः नीचे के प्राणियों की हिंसा के त्याग पर आओ। और फिर एकेन्द्रिय प्राणियों तक की हिंसा बंद करके समस्त विश्व के प्राणियों पर अपनी करुणा-धारा बहा दो। इस क्रम को अच्छी तरह समझ लो। यही क्रम निषेधात्मक अहिंसा के सम्बन्ध में है और यही क्रम विधेयात्मक अहिंसा के सम्बन्ध में है।

आपके सामने दान देने का सवाल आता है कि दान कहाँ से शुरू करें। घर में बच्चा भूखा मर रहा है, स्त्री भी बीमार है। और आप न बच्चे की भूख मिटाने का प्रबन्ध कर सकते हैं, और न ही स्त्री के लिए एक-दो दिन की दवा का भी प्रबन्ध कर सकते हैं। ऐसी हालत में यदि आप चींटी-मकोड़ों को दान देने चलें या याचकों को भी दान देने लगें तो आपको अविवेकी का प्रमाण-पत्र मिल जाएगा। यद्यपि चींटी-मकोड़ों को दान देने का भी महत्त्व है, याचकों को भी, पर कब ? जब घर में चूहे डंड न पेल रहे हों, घर की व्यवस्था ठीक हो। जो छटपटा रहा है, उसके लिए तो कुछ नहीं किया और विश्व में चींटी-मकोड़ों को तलाश करने जा रहे हैं। ऐसी दान की उलटी प्रक्रिया कई जगह चलती है। मैं आप लोगों का दिल दुखाने की दृष्टि से कोई बात नहीं कह रही हूँ। मैं तो क्रम के विवेक के लिए कह रही हूँ कि आप प्रत्येक साधना के क्रम को विश्लेषणपूर्वक भलीभांति हृदयंगम कर सकें।

कोई आदमी ब्रह्मचर्य का पालन करना चाहता है। वह आकर यह कहे कि मैं पत्नी के पास भी जाना चाहता हूँ और वेश्या के पास भी। किन्तु आप मुझे पत्नी के पास जाने का त्याग करा दीजिए, वेश्या के पास जाने की छूट रखा दीजिए। तो उस समय क्या कराना चाहिए ? आपका मस्तिष्क जो हजारों-लाखों का व्यापार करता है, वहाँ क्या निर्णय देगा ? जो लाखों का गणित करने में माहिर आपका दिमाग है, इस विषय में क्या गणित करेगा ? शायद यह तर्क करें कि 'पत्नी और वेश्या दोनों ही वासना के आगार हैं। यदि पत्नी नहीं तो वेश्या की छूट रहने दो।' अगर कोई धर्मगुरु ऐसा कहता है तो उसकी बुद्धि का दिवाला निकल गया है, ऐसा समझना चाहिए। अगर वासना और मोह का त्याग भी किया जा रहा है और इस प्रकार उलटा क्रम पकड़ लिया जाएगा तो आत्मा के उत्थान के बदले पतन ही अधिक होगा। उत्तराध्ययन सूत्र में बताया गया है कि धर्म को भी उलटे रूप में ग्रहण करने और पालने पर उसका परिणाम कितना भयंकर होता है। देखिए वह पाठ—

विसं तु पीयं जह कालकूडं
हणाइ सत्थं जह कुग्गहीयं।

एसो व धम्मो विसओववन्नो,
हणाइ वेयाल इवाविवन्नो ॥[1]

—कालकूट विष अगर शोधन न करके वैसे ही पी लिया जाय या शस्त्र भी उलटे रूप में पकड़ लिया जाय तो स्वयं को मारने वाला बन जाता है वैसे ही शुद्ध धर्म को उलटे क्रम से या विषम रूप से पालन करने पर वह भी आत्मा के लिए घातक हो जाता है, जैसे वैताल को अविधि से बुलाने पर वह घातक सिद्ध होता है।

इसी प्रकार मोह और वासना के त्याग के सम्बन्ध में आपने यदि अविवेक किया, क्रम से अच्छी तरह नहीं पकड़ा गया तो परिणाम उलटा आ सकता है। पत्नी की अपेक्षा वेश्या अधिक वासना की उत्पत्ति का कारण है, नीतिविरुद्ध और धर्म-विरुद्ध भी है। यह तो वैसा ही हुआ कि एक आदमी चोरों के लिए तो दरवाजे खोल दे और घरवालों के प्रवेश के लिए, जो दरवाजा है, उसे बंद कर दे। जिसमें आत्मा का उत्थान हो, जो बात नीति और धर्म से संगत हो, उसी को अपनाना चाहिए। मोह और ममत्व का त्याग करने या छोड़ने से मेरा इन्कार नहीं है। वैदिक और बौद्ध परम्परा ने भी यही बात कही है। तीनों धर्मों की धाराओं में एक ही नारा है, एक ही प्रकार का भाव है। मोह-ममत्व को छोड़ने में कहीं भी विवाद नहीं है। विवादास्पद प्रश्न तो यह है कि मोह-ममत्व को छोड़ने की शुरूआत कहाँ से करें? पहल कहाँ से की जाए?

पहले चैतन्य मोह छोड़ें या जड़-मोह?

मैं अपनी बात पर आती हूँ। हमारे सामने दो प्रकार के जगत हैं—जड़ (पुद्गल) जगत् और चैतन्य (सजीव) जगत्। आपके मन का सम्बन्ध दोनों से है। (निर्जीव) वस्तुओं से भी आपका सम्बन्ध है और पुत्र, परिवार, समाज, धर्म, सम्प्रदाय आदि सजीव (चैतन्य) वस्तुओं से भी आपका वास्ता है। आपका अपने व्यापार-धन्धे, धन-सम्पत्ति, जमीन-जायदाद, ऐश्वर्य आदि से भी सम्पर्क होने से इनके प्रति भी मोह है। जो अतीत से चला आ रहा है, वर्तमान में है और जो भविष्य में प्राप्त होगा, उसके प्रति भी मोह है। एक तरफ तो आपका पुदगलों के प्रति जड़ चीजों के प्रति मोह-ममत्व है, इन चीजों पर मोह की छाप लगी हुई है, तो दूसरी तरफ चैतन्यजगत् माता-पिता, पति-पत्नी, बाल-बच्चे, रिश्ते-नातेदार व पड़ोसी हैं, उन सबके प्रति आपका मोह-ममत्व है। तो बताइए, इस सम्बन्ध में आपका दर्शन क्या कहता है? पहले किस पर से मोह-ममत्व का त्याग करना चाहिए? चैतन्य और जड़ दोनों जगत् में से किसके प्रति मोह का त्याग करना चाहिए? आपका दृष्टिकोण क्या कहता है? आपकी स्थिति आपको क्या विवेक करने का कहती है? क्या धन, लक्ष्मी, जमीन-जायदाद या ऐश्वर्य, जो प्राप्त है, उसके लिए चैतन्यजगत् को ठुकरा दिया जाय या

---

1 उत्तराध्ययन सूत्र, अ. २० सु. ४४

जड़जगत् के मोह का त्याग पहले किया जाय ? अगर आपके सामने बिलकुल स्पष्ट रेखा नहीं होगी तो आप वस्तुस्थिति का सामना नहीं कर सकेंगे ।

जब यह प्रश्न दार्शनिकों के सामने आया तो उन्होंने कहा—पहले चैतन्यजगत् को छोड़ने की बात मत करना । जैसी तेरी आत्मा है, वैसी ही दूसरी आत्माएँ हैं । और तेरा सम्बन्ध कहीं न कहीं, किसी न किसी के साथ अवश्य रहेगा । गृहस्थ में रहेगा, तब भी रहेगा और गृहत्यागी बन जाएगा, तब भी रहेगा । घर-बार, कुटुम्ब-कबीला छोड़ देने पर भी साधु-साध्वियों का अपने सम्प्रदाय, मत, पंथ, शिष्य-शिष्या, भक्त-भक्ता अनुयायी या शास्त्र, गुरु-गुरुणी आदि के साथ सम्बन्ध रहता है । सम्बन्ध रहने से उसमें तेरे-मेरे का ममत्वभाव—रागभाव या अहंत्वममत्वभाव भी आने की सम्भावना है । यह रागभाव और मोह क्रमशः छूटने पर ही मोह क्षय होगा और क्रमशः परमात्म पद या मोक्ष की उपलब्धि होगी ।

मोक्ष और भगवान के प्रति राग भी त्याज्य

किन्तु एक बात ध्यान में रखने जैसी है, जिसकी ओर जैनदर्शनकारों ने खास इंगित किया है । वह यह है कि जैसे संसार की वस्तुओं के प्रति राग और मोह का छूटना आवश्यक है, वैसे ही परमात्मतत्व की उपलब्धि के लिए भगवानों या परमात्माओं के प्रति या मोक्ष के प्रति भी राग या मोह का छोड़ना अत्यावश्यक है । आप अपने को अलग और परमात्मा को अलग समझते हैं, यह द्वैत बुद्धि है, वहाँ तक मोह बना रहेगा । द्वैत-उपासना पास पहुँचने के लिए आवश्यक है, परन्तु वहाँ पहुँच कर भी अगर आप दोनों अलग-अलग खड़े रहें, परमात्मा को आंशिकरूप से स्वीकारें तो आपको परमात्मदशा की प्राप्ति होनी कठिन है । परन्तु जब यह स्थिति आ जाएगी कि भगवान या परमात्मा कौन हैं 'मैं' कौन हूँ ? तब आपके जीवन में परमात्मस्वरूप की उपलब्धि हो सकती है । इस सम्बन्ध में भगवान महावीर के पट्टशिष्य गणधर इन्द्रभूति गौतम की कथा देकर स्पष्ट किया गया है । गणधर गौतम भगवान महावीर के पट्टशिष्य थे । चार ज्ञान के धारक थे । संघ के अग्रगण्य थे । बहुत बड़े साधक माने जाते थे । साधना की दृष्टि से तो ऐसा मालूम होता था, मानो सूर्य हजार हजार किरणों से जाज्वल्यमान हो रहा है । किन्तु भगवान महावीर के प्रति उनका रागभाव या मोहभाव अभी तक छूटा नहीं था । भले ही वह राग प्रशस्त ही था । यही कारण है कि गौतम गणधर के शिष्य उनसे पहले ही केवलज्ञानी हो चुके थे, लेकिन वे अभी केवलज्ञान प्राप्त न कर सके । तीर्थंकर महावीर इस अवसर की ताक में थे कि गौतम का मेरे प्रति मोह छूटे । जब उनके निर्वाण की वेला निकट आई तो उन्होंने गौतम गणधर को देवशर्मा ब्राह्मण को प्रतिबोध देने के लिए दूसरी जगह भेज दिया । निर्वाण के बाद वे वहाँ से लौटकर आए तो भगवान महावीर के वियोग से व्यथित हो गए, विलाप-सा करने लगे । किन्तु जब उन्होंने वस्तुस्थिति का विश्लेषण किया और भगवान के प्रति राग (मोह) को छोड़कर उनके द्वारा उपदिष्ट तत्वों पर विचार किया तो उन्हें केवलज्ञान प्राप्त हो गया ।

हालाँकि गौतम गणधर ज्ञानी थे। वे अपनी आत्मा के निरीक्षण-परीक्षण में सदा रत रहते थे। इसलिए उन्होंने भगवान महावीर से एक वार प्रश्न भी किया था—"प्रभो ! इतनी लम्बी साधना करने पर भी मुझे केवलज्ञान क्यों नहीं प्राप्त हुआ ? मेरे द्वारा उपदिष्ट और अल्पकालिक साधना वाले साधकों को केवलज्ञान हो चुका, इसका क्या कारण है ? मेरे बन्धन क्यों नहीं टूटते हैं ?" इस पर भगवान महावीर ने कहा—"गौतम ! तुमने बहुत-सा समुद्र तो पार कर लिया, अब तो किनारे पर आ गए हो। थोड़ा-सा किनारे का जल और पार कर लो तो तुम्हारा वेड़ा भी पार हो जाएगा। तुमने संसारभर के राग, स्नेह और मोह ममत्व को तोड़ दिया, फिर भी तुम्हारी स्थिति आज ऐसी बनी हुई है, जैसे कोई गजराज लोहे की सांकलों को तोड़-कर आजाद हो गया है, लेकिन कमल की नाल से बँधा हुआ हो। तुम अपने परिवार, धन-सम्पत्ति, शिष्य-परिवार आदि के राग को तोड़कर आए। तुम्हारी प्रतिष्ठा सारे भारतवर्ष में बढ़ी हुई थी, तुम दिग्गज विद्वान माने जाते थे, उस प्रतिष्ठा-मोह को भी तोड़कर तुम साधना के क्षेत्र में आये, लेकिन यहाँ भी तुम मूल से बंध गये हो।[1] तुम्हारा राग (प्रशस्त मोह) मेरे पर है। यह जब तक नहीं छूटेगा, तब तक तुम्हें केवलज्ञान नहीं हो सकता।"

गौतम ने कहा—"प्रभो ! क्या आपके प्रति राग भी मुझे संसार में बांधे हुए है ?"

प्रभु ने कहा—"निःसन्देह गौतम ! राग तो राग ही है, वह तो बांधेगा, चाहे वह प्रशस्त हो, चाहे अप्रशस्त।"

भगवद्गीता में भी राग को तोड़ने की बात कही गई है।

जहि शत्रु महाबाहो ! रागद्वेष दुरासदम्।

—हे महाबाहु अर्जुन ! दुष्ट राग-द्वेषरूपी शत्रुओं को नष्ट कर।

जिस देश का दर्शनशास्त्र इतनी बात कहने पर तुल गया हैं कि मोक्ष या भगवान के प्रति राग या मोह को भी नष्ट न करने पर केवलज्ञान या मोक्ष नहीं होगा, तब माता-पिता, कुटुम्ब-कबीला, भाईबन्धु, पत्नी-पुत्र आदि चैतन्य पदार्थों के प्रति राग या मोह पर चोट करने की बात न कहे यह कैसे हो सकता है ? इसलिए कहा कि न तो तुम्हारा कोई पिता अपना है, न माता अपनी है, न भाई-बन्धु या पत्नी-पुत्र आदि तुम्हारे अपने हैं, ये सब पर हैं। तुम्हारा शरीर भी तो तुम्हारा नहीं है। ये सब विकल्पजाल तुम्हारे अपने बुने हुए हैं। मकड़ी की तरह तुम अपने ही द्वारा गूंथे हुए जाल में फँसे हो। तुम्हारा इष्ट और साध्य न परिवार है, न समाज है, न संघ है, न भगवान है, और न जीवन्मुक्त ही है। देर सबेर इन सबके प्रति राग को तुम्हें तोड़ना ही होगा। तभी तुम अपने साध्य—मोक्ष को प्राप्त कर सकोगे।

---

१ मोहक्षयाज्ज्ञानदर्शनावरणान्तरायक्षयाच्च केवलम्—तत्त्वार्थसूत्र।

जड़ के प्रति मोह को तोड़े विना चैतन्य मोहत्याग भ्रम है

परन्तु साथ ही सवाल यह होता है कि माना कि चैतन्य का राग (मोह) भी तोड़ना है, लेकिन जड़ के प्रति मोह (राग) को तोड़े बिना पहले ही चैतन्य के प्रति मोह को तोड़ दें क्या ? धन, सम्पत्ति, मकान, वस्त्र, अलंकार आदि ऐश्वर्य के प्रति तो आसक्त हो जायँ, चिपक जाएँ। अपनी तिजोरी में लाख-दो लाख रुपये भर लें। घर को फर्नीचर से सजा लें। किन्तु घर में बच्चा बीमार है, उसकी सेवा के लिए पैसे की जरूरत है और तिजोरी तो इतनी भर चुकी है कि उसमें साँस ही नहीं आ रही है, मगर दवा का प्रश्न आये तो कह दें कि "यह तो योंही ठीक हो जाएगा। बेकार दवा की क्या जरूरत है ? कर्मों के अनुसार ही जीव फल भोगता है। इसके जैसे कर्म होंगे, वैसा ही होगा। हम क्या कर सकते हैं ? अब तो भगवान के भरोसे पर छोड़ दो इसे।" परन्तु उन जड़-मोही महाशय से कहा जाय कि अपनी तिजोरी को भी भगवान के भरोसे क्यों नहीं छोड़ देते ? जब अपने बच्चे को भगवान के भरोसे छोड़ने को तैयार हो, तो इस जड़ पैसे को भी भगवान के भरोसे क्यों नहीं छोड़ देते ? चैतन्य का मोह तो छोड़ने को तैयार हैं, किन्तु जड़ (पुद्गल) का मोह छोड़ने को तैयार नहीं, यह कैसी अटपटी बात है।

एक गांव में हम साध्वियाँ पहुँची। वहाँ एक धनाढ्य घर की बहू को कैंसर हो गया। कैंसर से वह कराहती रहती थी। काफी इलाज कराया। बम्बई में टाटा हॉस्पिटल में किरणोपचार भी कराया। जब सब ओर से निराश हो गये तो उसे घर ले आए। परन्तु अब उसकी सेवासुश्रूषा और चिकित्सा के प्रति सबकी उपेक्षा हो गई। घरवालों से कोई पूछता—"बहू कैसे है ? इलाज क्या चल रहा है ?" तो उपेक्षा-भाव से कहते—'ठीक नहीं है। इलाज क्या करायें ? कोई इलाज लग ही नहीं रहा है ?" जब बाहर का कोई व्यक्ति आता तो दिखाने के लिए घरवाले उसकी शैय्या के चारों ओर खड़े हो जाते। उसके वस्त्र वगैरह ठीक करने में कोई बहन लग जाती।" आखिरकार वह बेचारी पीड़ा भुगत कर चल बसी। किन्तु मरते समय उसे कोई स्तोत्र, मंत्र या मंगलपाठ सुनाने को कोई पास नहीं बैठता था। न उसे भगवान् का नाम सुनाते और न कोई प्रेम से उसे आश्वासन देकर परलोक की खर्ची बँधाता। और जब मर गई तो उसकी निन्दा करने लगे—परिवार के लोग। उसे मरना तो था ही, हमें भी इतने अधिक खर्च में उतार गई। इतना सब कुछ खर्च कराकर मरी, इससे तो अच्छा था पहले ही मर जाती। हमारा इतना धन स्वाहा न होता।

इस घटना का जब हम विश्लेषण करते हैं तो एक बात स्पष्ट समझ में आ जाती है कि अपनी पुत्रवधू के प्रति इस प्रकार के उद्गार निकालने वाले सास-ससुर का चैतन्य के प्रति तो मोह नहीं, किन्तु जड़ धन के प्रति मोह बदस्तूर बना रहा है। यह जो बोल रहे हैं, परिवार वाले; उन्हें धन का मोह बुला रहा है। अगर धन के प्रति मोह न होता तो ऐसी भाषा कौन बोलता ? कर्तव्य के नाते या मोह के नाते, जो कुछ भी परिवार वालों ने किया, उस सब पर पानी फेर दिया। पुद्गल के प्रति

जिसका मोह अधिक होता है, वही बाद में बैठा-बैठा हिसाब लगाता रहता है कि इसमें इतना खर्च हुआ। बच्चे की बीमारी में इतना खर्च हुआ। बच्चे के जन्म पर इतना, बहू की बीमारी पर इतना और पिता-माता के लिए इतना खर्च हुआ। ऐसा व्यक्ति अपने मौज-शौक या सिनेमा के लिए, अपने ऐश आराम के लिए तो हजारों का धुँआ उड़ा सकता है, किन्तु दूसरे के लिए कुछ करने का मौका आ जाय तो मोह और राग के त्याग की बात आड़े आ जाती है। यह सब अवसरवादिता है। इसलिए दार्शनिक क्षेत्र में मोह का विश्लेषण करने की बात पर जोर दिया गया है।

राम का जड़मोह त्याग : चैतन्य के लिए

रामायण को आपने कई बार पढ़ा भी होगा, सुना भी होगा, और सिनेमा के पर्दे पर भी रामायण के चल-चित्र देखे होंगे, रामलीला भी देखी होगी। मर्यादा पुरुषोत्तम राम के जीवन में क्या विशेषता थी ? वे भी राजा के पुत्र थे। अयोध्या की राजगद्दी के हकदार थे। दशरथ राजा के ज्येष्ठ पुत्र और प्रजा के लाड़ले कुशल राज-पुरुष थे। उनके भी भाई, पत्नी, माता, सौतेली माताएँ और परिवार था। लेकिन राग और मोह के किले में रहते हुए भी वे राग और मोह से परे थे। दशरथ राजा द्वारा राम के राज्यतिलक की घोषणा हो चुकी थी। अयोध्या की राजगद्दी राम को देने का मुहूर्त भी निकल चुका था। सारी अयोध्या सजाई गई थी। सारी प्रजा अपने प्रिय राम को सिंहासन पर बैठे देखने के लिए उत्सुक थी। मित्रों ने राम को बधाइयाँ दे दी थीं। माता कौशल्या भी प्रसन्नमुद्रा में थी। लेकिन मोह के इतने घटाटोपों के बीच में भी राम अपने लक्ष्य से भटके नहीं और जब वनवास जाने का प्रस्ताव सामने आया, भरत को राजगद्दी देने की बात आई तो एक क्षण के लिए भी उनके चेहरे पर मोह का विषाद नहीं आया। गोस्वामी तुलसीदास जी ने राम की स्तुति करते हुए कहा—

> **"प्रसन्नतायां न गताभिषेकतस्,**
> **तथा न मम्लौ वनवासदुःखतः।**
> **मुखाम्बुजश्रीरघुनन्दनस्य सा,**
> **सदाऽस्तु मे मंजुलमंगलप्रदा॥"**

—राज्याभिषेक की बात समाप्त होने पर जिनके चेहरे पर वही मधुर मुस्कान थी, और वनवास के दुःखों से भी जिनका मुखमण्डल मुर्झाया नहीं था। उन रघुकुलनन्दन भगवान् राम के मुखकमल की वह छटा मेरे लिए सदा सुन्दर-मंगल-प्रदायिनी बने।

यह है चैतन्य के लिए जड़ (राज्य) के मोह का त्याग ! जिस राज्य के लिए मोह-ममत्ववश हजारों लड़ाइयाँ हुईं, जिस शासकीय मंत्रीपद के लिए आज भी रस्सा-कस्सी होती है, भाई-भाइयों में जमीन एवं राज्य के टुकड़े के लिए रक्तपात और संघर्ष हुए, उसी राज्य को राम ने साँप की केंचुली की तरह छोड़ दिया और वनवास के दुःखों को भी हँसते-हंसते सहन किया। एक राजकुमार होकर भी जिसे राजकुमारत्व

का मोह नहीं रहा, वन में वनचारी भीलों और निषादों की तरह जीवन गुजारा। वहाँ उन्हें अपनी सुख-सुविधाओं और अपने शरीर के प्रति भी मोह नहीं था। 'यथा-लाभसन्तोष' का जीवन गुजारा।

परन्तु जब सीता का अपहरण हुआ तो राम उसकी पीड़ा को अपनी पीड़ा समझकर विह्वल हो गये। रामायणकार कहते हैं—'राम सीता के वियोग से व्यथित हो गये। वे रास्ते में पड़ने वाले हर पेड़, पौधे, पशु-पक्षी से पूछने लगे। वल्कल वस्त्र पहने, नंगे सिर, नंगे पैर, पास में एक कौड़ी भी नहीं थी और एक समय का भोजन था। वे सीधे प्रकृतिमाता की गोद में चले जा रहे थे। उन वनवास के दुःखों से जो राम घबराये नहीं थे, वे ही राम सीता के दुःख का स्मरण करके घबरा उठे।'

जहाँ स्वार्थी व्यक्ति अपनी पत्नी और पिता-माता को संकट में देखकर ऊपर से भले ही आँसू बहा ले, रोने का स्वांग कर ले, लोक दिखावे के लिए भले ही अफ-सोस प्रगट कर दे, उसके अन्तर में अफसोस, दुःख या सहानुभूति की बूंद भी नहीं होती है, वहाँ राम दूसरे के दुःख को देखकर विह्वल हो उठते थे। ऋष्यमूक पर्वत पर जब वे ठहरे थे, तो उनसे हनुमान जी मिले, उन्होंने सुग्रीव का परिचय राम से कराया और सुग्रीव का दुःख मिटाने की प्रार्थना की। राम ने सुग्रीव का दुःख मिटाने के लिए वाली को ललकारा और उसके चंगुल से सुग्रीव की पत्नी तारा को मुक्त कराकर सुग्रीव को सौंपा। सीता के प्रति मोहभाव कहने वाले भले ही प्रशस्त मोह कह दें किन्तु मुख्यतया कर्तव्यभाव था। और कर्तव्यभाव की दृष्टि से ही सीता को रावण के पंजे से छुड़ाकर मुक्त करने के लिए उन्हें रावण से युद्ध करना पड़ा। अगर सीता के प्रति केवल स्वार्थ मिश्रित मोह होता या वासनामय मोह होता तो उन्हें अनेक सीताएँ मिल सकती थीं, वे इस सीता की जरा भी परवाह न करते। वे उसे रावण के हवाले कर देते। परन्तु उनके सामने कर्तव्य का प्रश्न था। उन्हें लंका के राज्य का भी मोह नहीं था। अगर राज्यमोह होता तो लंका जीत लेने पर वे स्वयं उसके राजा बनते; किन्तु उन्होंने लंका का राज्य स्वयं न रखकर विभीषण को सौंप दिया।

चेतन धन का तिरस्कार : जड़ धन का सत्कार

हाँ तो, मैं कह रही थी कि यह रामायण की कथा, चाहे हजारों वर्ष पुरानी हो गई, लेकिन आज भी उन लक्ष्मी के गुलामों और सोने के सिंहासन के दासों को प्रेरणा देती है, जो ऐश्वर्य के लिए, राज्य और धन-सम्पत्ति के लिए पिता को, पुत्र को, भाई को, पत्नी को मारने के लिए, उन्हें जहर देने, दीवार में चुनवा देने और उनका गला घोंटने को तैयार हो जाते हैं। धन के लिए पत्नी को मारने और व्यभिचार के अड्डे पर भेजने को तैयार हो जाते हैं।

सिद्धान्त यह निकला कि एक तरफ धन-सम्पत्ति, राज्यलक्ष्मी या ऐश्वर्य को छोड़ने का प्रश्न और दूसरी ओर चैतन्य-सजीव प्राणी को छोड़ने का प्रश्न आए तो सर्वप्रथम धन-सम्पत्ति, राज्यलक्ष्मी, ऐश्वर्य या पद के मोह को छोड़ने को तैयार रहो।

परन्तु आज कुलीन और जैन, वैष्णव कहलाने वाले घरों में प्रायः यह हाल

देखा जाता है कि घर में कोई पराये घर की लड़की पुत्रवधू बनकर आई है और दहेज अधिक नहीं लाई है या उसके पिता ने नकद नारायण अधिक नहीं दिये हैं तो सास-ससुर की भौंहें तन जाएँगी। सास प्रतिदिन उसे जली-कटी सुनाती रहेगी, उसके मन को व्यथित करती रहेगी, पति भी उसे तंग करेगा, ससुर भी उसे परेशान करेगा; और कई-कई अहिंसक कहलाने वाले सास-ससुर तो उसे शीघ्र ही परलोक पहुँचाने की तैयारी कर लेते हैं। या तो उसे आत्महत्या करने के लिए विवश कर देते हैं, या स्वयं उसके शरीर पर तेल छिड़क कर अग्निस्नान करा देंगे। इसी प्रकार सास-ससुर के धनमोह की ज्वाला में हजारों नवयुवतियाँ भस्म हो गई होंगी। लानत है, हिन्दू जाति पर, धिक्कार है ऐसे धनमोसी व्यक्ति को। चैतन्य धन तो सिसक रहा है और जड़धन की पूजा की जा रही है। वे उस समय अपने भगवान्, शास्त्र, धर्म-सम्प्रदाय, गुरु आदि सबको ताक में रख देंगे। मन्दिर और धर्मस्थान में जाएँगे तो आपका रूप और वेष धर्मात्मा का-सा होगा, वहाँ बड़ी शराफत से पेश आएँगे, गुरुओं की बड़ी भक्ति करेंगे, भगवानों की खूब स्तुतियाँ करेंगे, परन्तु वहाँ से छूटते ही दुकान पर उसका रूप कुछ और ही होगा, वहाँ पैसे के मोह में पड़कर वह ग्राहक के साथ धोखेबाजी भी कर लेगा, बेईमानी भी करने में नहीं चूकेगा और अच्छा माल दिखाकर घटिया देने को तैयार हो जाएगा। वहाँ से निवृत्त होकर घर में उसका रूप तीसरा होगा, यहाँ बात-बात में झगड़ा, गाली-गलौज और घरवालों की अनिवार्य जरूरतों में दकियानूसी-पन, छींटाकशी की जाएगी। अगर भाई का माल हजम हो सकता होगा तो प्रेम को आग लगाकर भी माल हड़पने की कोशिश करेगा, और कुछ नहीं तो धन के लिए पुत्रवधू को हैरान करेगा, लड़के को भला-बुरा कहेगा और इस प्रकार की आपाधापी करके भी चैन नहीं पड़ेगा। हाय! धन का मोह मरते दम तक भी तो नहीं छूट पाता। यह बहुरूपियापन नहीं तो क्या है ?

इस पर से यह दावे के साथ कहा जा सकता है कि धन का मोह तो उस व्यक्ति ने छोड़ा ही नहीं, परन्तु चैतन्य का मोह भी नहीं छूटा है। वह सुषुप्त रूप में स्वार्थ और वासना को लेकर और जड़-धन का मोह प्रकटरूप में है। यह मोह का ही नाटक है कि वह भगवान् को भी पैसे से तौलता है। अगर कहीं किसी ने भगवान् पर दस-बीस लाख रुपये लगा दिये तो भक्तों की सारी भीड़ वहीं पहुँच जाएगी। गाँव के निर्धन भगवान् को कोई पूछेगा भी नहीं। यह धनमोह की मनोवृत्ति का परिचायक है। सर्वत्र पुद्गल का राग है, माया की रट है और धन का बोलबाला है।

चैतन्य मोह त्याग का क्रम

नीतिकारों से जब पूछा गया कि एक ओर किसी व्यक्ति के मोह को छोड़ने का प्रश्न हो, दूसरी ओर कुल के मोह-त्याग का प्रश्न हो, तथा एक ओर कुल के मोह-त्याग का प्रश्न हो, दूसरी ओर ग्राम के मोह को छोड़ने का सवाल हो, इसी प्रकार एक ओर ग्राम-त्याग का प्रश्न हो, दूसरी ओर जनपद को छोड़ने का सवाल खड़ा हो, इसी तरह एक तरफ जनपद त्याग का सवाल खड़ा हो, दूसरी तरफ अपनी आत्मा के

कल्याण के लिए सारी पृथ्वी का मोह छोड़ना पड़े तो क्या करना चाहिए ? कौन-से मोह को पहले छोड़ना चाहिए और किसको पीछे ? तो उन्होंने उत्तर इस प्रकार दिया—

"त्यजेदेकं कुलस्यार्थे, ग्रामस्यार्थे कुलं त्यजेत् ।
ग्रामं जनपदस्यार्थे आत्मार्थे पृथिवीं त्यजेत् ।।

अर्थात्—कुल के हित के लिए किसी एक व्यक्ति के मोह को छोड़ देना चाहिए, और सारे गांव का हित होता हो तो कुल का मोह छोड़ देना चाहिए, और अगर जनपद का हित होता हो तो ग्राम का मोह-त्याग कर देना चाहिए तथा अगर आत्मा का (अथवा अनेक आत्माओं का) हित होता हो तो सारी पृथ्वी का मोह छोड़ देना चाहिए ।

यह क्रम है—चैतन्य-मोह त्याग का । परन्तु जड़ और चैतन्य दोनों में से किसी एक के मोह को त्यागने का अवसर आए तो पहले जड़ का मोह-त्याग करना चाहिए ।

सीता के सामने जब राम के वनवास का प्रश्न आया तो अपनी व्यक्तिगत सुख-सुविधाओं, सास-ससुर के वात्सल्य को, तथा अन्य ठाट-बाट को छोड़ने के लिए सीता ने तुरन्त निर्णय कर लिया । जब सब लोगों ने कहा कि "तुम वन में क्यों जा रही हो ? वनवास तो राम को मिला है, तुम्हें तो नहीं । और फिर वन में तुम-सी सुकुमार नारी कष्टों को कैसे सह सकेगी ? वन में भयंकर हिंसक जन्तुओं, राक्षसों एवं जंगली लोगों का भय है, तुम कैसे इनसे छुटकारा पा सकोगी ? अतः यहीं रहकर सास-ससुर की सेवा करो ।"

लेकिन सीता को अपनी सुख-सुविधाओं का, ऐश्वर्य का त्याग करने में एक क्षण भी नहीं लगा । उसने तुरंत निर्णय कर लिया कि मुझे किसी भी मूल्य पर अपने पतिदेव के साथ जाना है । इनके सुख में मेरा सुख है, इनके दुःख में दुःख । उसने वनवास से इन्कार करने वाले स्नेही परिजनों से कहा—"चन्द्रमा चला जाए और चांदनी पीछे रह जाए, ऐसा कभी हो नहीं सकता । वे जब वनवास के दुःखों को हंसते-हंसते सह लेंगे तो मैं भी सह लूंगी । मैं भी तो उनकी ही छाया हूं ।" सीता के सामने वनवास के कष्टों का चित्र था । सीता राम के साथ प्रसन्नता और आनन्द की लहर में गई, लेकिन आंखों में एक भी आंसू नहीं था कि सुकोमल शय्या छूट गई, रत्नों और हीरे-मोतियों के आभूषण छूट गए, हजारों दासियां छूट गईं, अब वनफल हाथों से तोड़ने होंगे, पानी भी अपने हाथों से भर कर लाना होगा, ऊंची-नीची एवं पथरीली जमीन पर सोना होगा । किन्तु जब सीता को रावण अपहरण करके ले गया तो सीता कितनी रोई थी । कथाकार कहते हैं कि जहां यह बैठी थी, वहां आंसुओं से जमीन गीली हो गई थी । कहने का मतलब यह है कि सीता और राम दोनों ने जड़(पुद्गल) का मोह (राग) तो एक झटके में तोड़ दिया, लेकिन चैतन्य का राग (मोह)—कर्तव्य का नाता, स्नेह-प्रेम का नाता तो तब तक चलता रहा, जब तक उन्हें भगवद्दशा

प्राप्त नहीं हुई। बीच की कड़ियाँ—नौका से नदी पार करने की तरह—तोड़ी या छोड़ी नहीं जा सकतीं। पुद्गल की कड़ी तोड़ी जा सकती है।

पुराने शुद्ध मूल्य शिरोमणि भाइयों ने दोहराए

भारतवर्ष के महामनस्वी विचारकों ने समय-समय पर उन्हीं पुराने श्रेष्ठ मूल्यों को दोहराया है, उसका नवीनीकरण करके सोई हुई भारतीय जनता को पुनः-पुनः जाग्रत किया है।

बंगाल में नवद्वीप (नदिया) नव्यन्याय का उद्गम स्थान है। वहाँ नव्यन्याय-शास्त्र के बड़े-बड़े उद्भट विद्वान् हो चुके हैं। प्राचीन न्याय, जो चला आ रहा था, उसे नया मोड़ और परिष्कृत करके नव्यन्याय यहीं प्रचलित किया गया। उस नवद्वीप में तार्किकशिरोमणि श्री रामशिरोमणि थे, छोटे भाई थे रघुनाथ शिरोमणि। दोनों भाइयों में बड़ा ही प्रेम था। दोनों विद्वान् थे, तत्त्वज्ञानी थे। जिधर निकल जाते वहाँ लक्ष्मी ही लक्ष्मी हो जाती थी। ऐश्वर्य भी एकत्रित हो गया, सरस्वती तो उनके पास थी ही। जिंदगी के काफी वर्ष व्यतीत हो गए, लेकिन दोनों में कभी बंटवारा नहीं हुआ। आखिर दोनों की सन्तानें बड़ी हो गईं। एक दिन बड़े भाई रामशिरोमणि ने कहा—"भाई! अब परिवार बढ़ गया है तो सम्पत्ति बाँट लें।" रघुनाथ शिरोमणि यह सुनते ही बोले—"भाई साहब! यह क्या कह रहे हैं? इस जीवन के ६०-७० वर्ष तो यों ही मुख उज्ज्वल करते-करते बीत गए। अब दोनों तत्त्वज्ञ होकर हम बँटवारा करेंगे? यह तो अच्छा नहीं। मैं तो यही कहूँगा कि संसार की कोई ताकत हम सहोदर भाइयों को अलग नहीं कर सकती।"

रामशिरोमणि ने कहा—"तुम्हारी बात ठीक है। हम कहाँ बँटवारा कर रहे हैं और कब अलग हो रहे हैं। ये तो लड़के हैं। लड़के तो लड़के हैं। प्रेम हमारा-तुम्हारा चलता है। लड़कों का क्या? कोई विवाद आगे चलकर पैदा हो जाय और अधिक कटुता बढ़े, इसकी अपेक्षा हम ही अपने हाथ से बँटवारा कर दें तो कितना अच्छा हो?" इस पर रघुनाथ शिरोमणि सहमत हो गए। कहने लगे—"अच्छा! बाँटना चाहते हैं तो लड़कों में बाँट दीजिए।" जब रामशिरोमणि बाँटने बैठे तो उन्होंने सारी सम्पत्ति के दो भाग किए। रामशिरोमणि के तीन लड़के थे और रघुनाथ शिरोमणि के एक ही पुत्र था। दो भागों में से एक भाग रामशिरोमणि ने अपने तीनों लड़कों को दे दिया और एक भाग दे दिया रघुनाथ शिरोमणि के केवल एक पुत्र को।" यह बँटवारा देखकर रघुनाथ शिरोमणि ने कहा—"भाई साहब! यह क्या कर रहे हैं आप? यह कैसा बँटवारा किया आपने? आपने गलत बँटवारा किया है।"

राम शिरोमणि—"मैंने ठीक बँटवारा किया है।"

रघुनाथ शिरोमणि—"नहीं, आपने ज्ञानी होकर भी बँटवारा गलत किया है। ऐसा बँटवारा न्यायपूर्ण नहीं है।"

रामशिरोमणि—"भाई! अभी तो तुम कह रहे थे कि बँटवारा होना चाहिए। अब कह रहे हो कि बँटवारा ठीक नहीं है।" रघुनाथ शिरोमणि ने अपने बड़े भैया

रामशिरोमणि की कलम पकड़ ली और कहा—"ठीक बंटवारा कीजिए। एक तरफ तीन लड़के और एक तरफ एक ही लड़का। आप इन चारों में बरावर का हिस्सा बांट दीजिए। बंटवारा लड़के कर रहे हैं, हम नहीं। यदि मैं और आप बंटवारा करते तो दो भाग करते, लेकिन बंटवारा लड़कों का होने से हर एक को एक-एक हिस्सा मिलना चाहिए।" आखिर रामशिरोमणि को अपने छोटे भाई की वात माननी पड़ी।

हां तो, वंगाल के नवद्वीप की ख्याति उसके पांच सौ वर्ष बाद भी प्रेरणा दे रही है। उसका तत्त्वज्ञान शायद धुंधला पड़ गया हो, मगर उसके जीवन की फिलोसॉफी अभी तक प्रकाशमान है, कि जड़ के प्रति उनका कोई मोह नहीं था।

वर्तमान युग में पं० जवाहरलाल नेहरू के जीवन को हम प्रस्तुत कर सकते हैं। वे पं० मोतीलाल नेहरू के एकमात्र सुपुत्र थे। वे बड़े ही रईसी में ठाठ पले-पुसे थे। घर में किसी चीज का अभाव नहीं था। विदेश में उनकी शिक्षा-दीक्षा हुई थी। किन्तु वे भारतीय संस्कृति के पक्के अध्ययनशील रहे। वे वैरिस्टरी पास करके आए, तव देश में स्वतन्त्रता का आन्दोलन जोर-शोर से चल रहा था। पं० नेहरू राजनीति का अध्ययन विदेश से करके लौटे थे। उनके मनमस्तिष्क में राष्ट्र की स्वतन्त्रता के लिए त्याग करने की ललक उठी। भारतमाता की परतन्त्रता की जंजीरों को तोड़ने के लिए पं० जवाहरलाल नेहरू चिन्तन करने लगे। इस सिलसिले में वे महात्मा गांधी से मिले। उनसे मार्ग-दर्शन पाकर वे एकदम स्वतन्त्रता संग्राम में कूद पड़े। करोड़ों की सम्पत्ति, रईसी ठाट-बाट और विदेशी शान-शौकत को एक झटके में छोड़कर पं० जवाहरलाल नेहरू एकदम खादी की राष्ट्रीय पोशाक में सुसज्ज हो गए। कई वार जेलयातनाएँ भी सहीं। पत्नी कमलादेवी नेहरू बहुत ही सुकुमार होती हुई भी इनके स्वातन्त्र्य आन्दोलन में पूरा भाग लेने लगीं। किन्तु स्वास्थ्य ने साथ नहीं दिया। रुग्ण रहीं। पण्डित नेहरू उस समय जेल में थे। वे रुग्ण थीं, फिर भी पं० नेहरू की वे रात दिन चिन्ता करती रहती थीं। पण्डितजी भी अपना कर्तव्य समझ कर अन्तिम समय में कमला नेहरू से मिलने आये। पण्डितजी अपनी सहयोगिनी को विदा होते देख मन में एक संकल्प करके लौटे कि अब दूसरा विवाह नहीं करूंगा और अपनी सुख-सुविधाओं को छोड़कर देशसेवा में जुट गये। भारत को स्वतन्त्रता दिलाने के बाद भी आपने कई वर्षों तक सेवा की।

कहने का मतलव यह है कि भारत की संस्कृति में ऐसे उज्ज्वल नररत्न तो अनेकों हुए हैं जिन्होंने देश, समाज, धर्म और विश्व के लिए जड़ पदार्थों का मोह छोड़ दिया। चैतन्य मोह भी ऐसे व्यक्तियों में सहजभाव से था।

अतः जिस व्यक्ति में जड़ पदार्थों के मोह को इस प्रकार एक झटके में छोड़ने का अभ्यास हो जाता है उसमें चैतन्यजगत् के मोह-ममत्व को छोड़ने का अभ्यास भी एक दिन सहजभाव से हो जाएगा। और जिस दिन चैतन्यजगत् के प्रति मोह का सर्वथा क्षय हो जाएगा, उस दिन कैवल्य और मोक्ष दोनों उसके निकटवर्ती हो जायेंगे। □

9

सुमिरै ज्यांरा है सांई ।

उपस्थित आत्मबन्धुओ !

आज एक बड़ा सुन्दर भजन याद आया है, जिसमें किसी संत ने बड़ी सरलता-पूर्वक गद्‌गद हृदय से संत-पुरुषों के समक्ष अपने उदगार रखे हैं कि—"परम पिता परमात्मा प्रत्येक उस भक्त का है जो उनका स्मरण करता है, उनका जाप करता है यानि सच्चे मन से उनकी पूजा-अर्चना करता है। भगवान यह कभी नहीं देखता कि उन्हें स्मरण करने वाला उच्च कुल या उच्च जाति का है अथवा निम्न कुल और निम्न जाति का। वह हिन्दू है या मुसलमान और ब्राह्मण है या चाण्डाल। मानव मात्र को भगवान का स्मरण करने का अधिकार है और वह उनकी भक्ति कर सकता है।"

वस्तुतः भक्त रैदास चमार थे, कबीर मुसलमान और हमारे जैनदर्शन के अनुसार मुनि हरिकेशी तथा मेतार्य मुनि चाण्डाल कुल में उत्पन्न हुए थे। किन्तु इन सभी ने अपनी-अपनी शक्ति के अनुसार भक्ति व साधना की तथा जीवन का लाभ उठाया। निम्न कुलोत्पन्न होने पर भी उनकी भक्ति या साधना में कहीं भी बाधा नहीं आई और न ही किसी कारण से विराम हुआ। कबीर का कथन भी है—

जाति पाँति पूछै नहीं कोई।
हरि को भजै सो हरि का होई।

ठाकुरजी और करमा जाटनी

राजस्थान में करमाबाई नामक एक जाटनी की कथा घर-घर में गाई जाती है तथा लोग उसकी भक्ति का स्मरण करके दाँतों तले अंगुलि दबाते हैं। करमा ने जाट कुल में जन्म लिया था और जाट कुल में ही ब्याही गई थी पर उसका पति मन्दिर का पुजारी था तथा ठाकुरजी की प्रतिदिन पूजा किया करता था।

कहते हैं कि एक बार जाट कुछ दिन के लिए किसी तीर्थस्थान को गया और अपनी पत्नी करमा को ठाकुरजी की पूजा करने और भोग लगाने की जिम्मेदारी सौंप गया। बेचारी करमा जाटनी थी, उसने न कभी भोग लगाया था और न लगाते देखा था, किन्तु पति की आज्ञा शिरोधार्य करना अपना कर्तव्य मानकर पति के जाने के पश्चात् अगले दिन ही जैसा कि घर में बना करता था, बड़े प्रेम से बाजरे का खीचड़ा

बनाया, उसमें ताजा घी डाल लिया तथा एक कटोरे में दही लेकर ठाकुरजी के मन्दिर में आई।

करमा मन्दिर तक आ तो गई पर उसकी समझ में नहीं आ रहा था कि वह किस प्रकार भगवान की पूजा करे तथा किस प्रकार भोग के लिए बनाया हुआ खीचड़ा उन्हें खिलाये ? मूर्ति के रूप में बैठे हुए भगवान से आखिर वह बात कैसे करे ?

पर कुछ हिम्मत करके वह मन्दिर के अन्दर गई और खाने की वस्तुएँ ठाकुर जी की मूर्ति के सामने रखकर हाथ जोड़ती हुई कहने लगी—

थोड़ो आरोगो जी मदनगोपाल ।
करमाबाई रो खीचड़लो ।
प्रभुजी थांरो प्रेम पुजारी गयो तीरथां न्हाण ।
जातो-जातो दे गयो म्हने, सेवा री भोलाण ।
जदआई थारे मन्दिरिया में चाल....करमाबाई....
मैं हूँ दीन अनाथिनी जी नहिं जानूं पूजा फंद ।
नयो नवादो झेलियो यो धन्धो गोकुल चन्द ।।
तू ही राखिनियो भक्तां री बाजी माल....करमाबाई

जिस प्रकार एक व्यक्ति दूसरे से बात करता है, ठीक उसी प्रकार करमा ने भगवान से कहा—"ठाकुरजी, इस करमा का लाया हुआ थोड़ा-सा खीचड़ा तो खा लो। मैं क्या करूँ, तुम्हारा पुजारी भगत तो तीर्थ-स्नान के लिए चला गया और मुझे तुम्हारी सेवा का काम सौंप गया। इसीलिए में मन्दिर में आई हूं। पर तुम्हीं बताओ भला कि मैं पूजा के दंद-फंद कैसे जान सकती हूं ? मेरे लिए तो ये एक नया ही धंधा है इसलिए गोकुलचन्द भगवान ! मुझे दीन और अनाथिनी समझ कर मेहरबानी करो और यह भोग आरोग लो। मैं सुनती तो हूं कभी-कभी कि तुम भक्तों की बात जरूर मानते हो तो मेरी बात भी झट मान जाओ क्योंकि मेरे घर पर भी सारे काम मुझे करने पड़ेंगे।

पर बन्धुओ ! ठाकुरजी की मूर्ति ने कभी खाना खाया है जो करमा का खीचड़ा खा लेते ? वे ज्यों के त्यों बैठे रहे। करमा बड़ी व्यग्रता से मनुहार करती रही, बार-बार आग्रह करती रही। एक तरफ तो वह सोच रही थी कि जब तक ठाकुरजी नहीं खा लेते हैं, तब तक घर कैसे जाऊँ, वहाँ भी बाल-बच्चे भूखे हैं, गाय-भैंसों का भी काम सारा पड़ा है, दूसरे ठाकुरजी नहीं खायेंगे तो पति भी आकर उपालंभ देंगे कि मेरे ठाकुर को खिलाया नहीं, भूखा रखा। इस प्रकार विचारती हुई बेचारी घंटों वहीं बैठी रही और पुनः-पुनः खाने के लिए ठाकुरजी से कहती रही। उसे सबसे बड़ी चिन्ता तो यह थी कि वे खायेंगे नहीं तो भूखे रहेंगे कैसे ? आखिर एक दिन का काम तो है नहीं, न जाने इनका पुजारी कब लौटे और कब वह अपने हाथ से इन्हें खिलाये। बड़ी दया और प्रेम से वह फिर बोली—

रूस्या क्यों बैठा जी राधा रुकमणजी रा श्याम ?
भूखा मरतां बने न सौदो मास दिवस रो काम।
थांरा भूखा रा चिपजासी बाला गाल....करमाबाई रो....

करमा जब आग्रह कर-करके थक गई तो सोचने लगी—लगता है किसी कारण से ठाकुरजी नाराज हो गये है। यह सोचकर उन्हें समझाने की दृष्टि से बोली—"अजी राधा के श्याम ! भला किसलिए रूठे हुए बैठे हो ? देखो भूखे मरने से तो काम चलेगा नहीं; क्योंकि तुम्हारे भगत को आने में तो करीब एक महीना लग जाएगा। क्या तब तक तुम भूखे ही रहोगे ? पर याद रखो। इतने दिन बिना खाये रहोगे तो ये फूले हुए गाल पिचक जाएँगे। इसके अलावा याद रखो अगर तुम नहीं खाओगे तो मैं भी न तो यहाँ से उठूंगी और न ही एक दाना भी अपने मुंह में डालूंगी।

कहते हैं कि न तो उस समय लाख आग्रह करने पर भी ठाकुरजी ने खाया और न करमा जाटनी ही वहाँ से उठी। वह भी भूखी-प्यासी बैठी रही। पर फिर एकदम ही उसे ध्यान आया—"अरे ठाकुर जी भला एक अपरिचित के सामने कैसे खा सकते हैं ?" यह ध्यान आते ही वह चटपट प्रसन्न होकर उठी और हँसते हुए कहने लगी—

समझ गई सरमा गये ठाकुर, लख मोहि नई नवाल
धावलिया रो पड़दो दीनों, प्रकट लियो प्रसाद....करमाबाई....

करमा जाटनी कहती है—"अब बात समझ में आई। जब से भूखे बैठे रहे, पहले ही कह देते कि मैं अनजान के सामने नहीं खा सकता।" यह कहते हुए उसने अपने घेरदार लहँगे का परदा अपने और ठाकुर जी के बीच कर दिया। बोली—"अब शर्माना मत और आराम से खा लेना मैं मुँह फेरे खड़ी हूं, जब तक तुम खा नहीं लेते।"

भला ऐसे स्वच्छ, सरल और स्नेहशील हृदय की भगवान उपेक्षा कर सकते थे ? नहीं; कहते हैं उसी समय भगवान को भक्त करमा के लाए हुए खीचड़े को खाना ही पड़ा।

इधर जब पुजारी लौटा तो उसने सबसे पहला प्रश्न यही किया कि—"तूने भगवान को भोग लगाया या नहीं ?"

करमा ने हाथ नचाते हुए उत्तर दिया—"बाबा ! अब अपने ठाकुर को सम्हालो। तुमने उन्हें अच्छा-अच्छा खिलाकर ऐसा चटोरा बना दिया था कि एक दिन तो उन्होंने बड़े नखरे किये पर मैं कौनसी कम थी ? उन्हें खीचड़ा खिलाकर ही छोड़ा। बस उसके बाद तो सीधे हो गये और मैं जो कुछ भी ले जाती झट से खाकर थाली खाली कर देते थे।

पत्नी की बात सुनकर पुजारी की आँखें फटी की फटी रह गई। वह सोचने

लगा—"मेरी सात पीढ़ियाँ भोग लगा-लगाकर समाप्त हो गई पर भगवान ने थाली कभी खाली नहीं की और न ही दर्शन दिये पर यह धन्य है, जिसने एक बार में ही भगवान को पा लिया।"

बन्धुओ ! यह है उच्च कुल अथवा उच्च जाति के न होने पर भी हृदय की प्रगाढ़ भक्ति और सरलता का उत्कृष्ट उदाहरण। करमा न ऊँचे कुल की थी और न ही उसे पूजा-पाठ की विधि आती थी; फिर भी उसने मन की स्वच्छता एवं निर्मलता के द्वारा प्रभु को प्राप्त कर लिया। इसीलिए भजन में आगे कहा गया है—

सहस अठ्यासी मुनि तप तपे, एकज वन के माँहीं।
तां विच तपे इक भीलनी, तासूं अन्तर नाहीं।
कुलरो कारण संता है नहीं,
सुमिरैं ज्यांरा है सांईं।

कवि ने भी अपने पद्य में यही बताया है कि भगवान को प्राप्त करने में निम्न कुल कभी बाधक नहीं बनता। उदाहरणस्वरूप राम के वनवास के समय एक वन में करीब अठासी हजार मुनि भगवत् प्राप्ति के लिए घोर तपस्या कर रहे थे, किन्तु उसी वन में एक भीलनी भी थी, जिसे भगवान राम ने आत्मवत् माना।

भीलनी का नाम शबरी था, जिसके विषय में आप लोग बहुत कुछ जानते होंगे। रामायण में बताया जाता है कि जब उस प्रदेश में जहाँ हजारों उच्च कुलीन संत महात्मा तप-साधना में लगे हुए थे, राम के आगमन का समाचार फैला तो समस्त ऋषि-मुनि अत्यन्त प्रसन्न हुए तथा भगवान के स्वागत की तैयारियाँ करने लगे।

शबरी ने भी राम के पधारने की बात किसी से सुन ली और उनके स्वागत की चाह में बावली हो उठी। पर उसे क्या तैयारियाँ करनी थीं ? जंगल में जाकर सबसे पहले वह टोकरी भर बेर ले आई, बेर ही वह बेचा करती थी। बेर की टोकरी एक ओर रखकर अपनी झोंपड़ी के आस-पास झाड़ू लगाती हुई और जल से छिड़काव करती हुई आनन्द-मग्न होकर गुनगुनाने लगी—

साडी झोंपड़ी दे भाग आज खुल जानगे राम आनगे।
राम आनगे तो बेड़ा साडा बन्ने लानगे राम आनगे॥
जी मैं बनां विच आई नाम सुनके।
जी मैं खट्टे मिट्ठे बेर रखे चुनके।
बेर खादियाँ ही राम मेरे रज्ज जानगे राम आनगे।

वन में रहने वाले ऋषि जो कि राम के स्वागत की तैयारियों में व्यस्त होकर दौड़-धूप कर रहे थे, उन्होंने भी शबरी को देखा और उसके उद्गारों को सुना। शबरी कह रही थी—"आज तो मेरी झोंपड़ी के भाग्य खुल जाएँगे, क्योंकि राम इसमें आएँगे। राम आएँगे और मेरी जीवन-नैया को किनारे पर लगाएँगे अर्थात संसार समुद्र से मुझे पार करेंगे। वह कह रही थी—मैं राम के आगमन का समाचार

सुनते ही जंगल में जाकर बेर तोड़ लायी हूँ और निश्चय ही बेर खाकर मेरे राम प्रसन्न व सन्तुष्ट हो जाएँगे।

भीलनी के इस प्रलाप को सुनकर अनेक महात्मा इकट्ठे हो गये और ठठाकर हँस पड़े। व्यंगात्मक उपहास सहित वे कहने लगे—"सचमुच ही भगवान राम मूर्ख, अपढ़ और अछूत की टूटी-फूटी झोंपड़ी में नहीं पधारेंगे तो क्या हमारे आश्रमों में चरण रखेंगे? भगवान की सबसे बड़ी भक्त तो इस वन में यह एक ही है।"

पर शबरी ऋषियों की बातों को और तानों को अनसुने करती हुई कहती गई—

मैंनू ज्ञान ध्यान दा कोई बल नहीं।
मेरे बिच गुणवाली कोई गल नहीं।
दीनानाथ मैंनू चरणादे नाल लानगे राम आनगे।

सरल हृदय भीलनी गद्‌गद होकर कह रही थी—"यह सत्य है कि न मुझमें ज्ञान है और न ध्यान-साधना की शक्ति ही है। अधिक क्या कहूँ, मुझमें एक भी गुण नहीं है, पर इतना विश्वास जरूर है कि राम दीनों के नाथ हैं अतः मुझ दीन को भी अपने चरणों में स्थान अवश्य देंगे।

हुआ भी ऐसा ही। राम उस वन में आए और बड़े-बड़े ऋषि-मुनियों के आश्रमों को पीछे छोड़ते हुए सीधे शबरी की कुटी की तरफ बढ़ते गये। शबरी हर्ष-विह्वल होकर भगवान के चरणों पर गिर पड़ी और कुटिया में लाकर आँसुओं से चरण पखारती हुई उनके स्वागत में तत्पर हुई। पर वह स्वागत कैसा था? न वहाँ मोहनभोग या अन्य मिष्टान्न थे, न उत्तम फल और न ही दूध-मलाई। केवल एक टोकरी बेर थे, जिन्हें चख-चखकर वह राम को खिलाने लगी। उसे यह ध्यान न रहा कि मीठे-मीठे बेर छांटने के प्रयत्न में वह उन्हें जूठे करती जा रही है और भगवान को यह ख्याल नहीं आया कि मैं जूठे बेर खाये जा रहा हूँ।

वस्तुतः ऐसी सच्ची भक्ति भगवान को अपने वश में कर लेती है। वे भक्त का कुल, जाति, धन, पूजा-पाठ या अन्य क्रियाओं का अम्बार नहीं देखते। देखते हैं केवल प्रेम और हृदय की निष्कपटता। सरल हृदय ही भगवान का निवास स्थान बन जाता है।

पद्म पुराण में बताया गया है—

नाहं वसामि वैकुण्ठे, योगिना हृदये न च।
मद् भक्ता यत्र गायन्ति, तत्र तिष्ठामि नारद॥

भगवान कृष्ण कहते हैं—"नारद! न तो मैं वैकुण्ठ में रहता हूँ और न योगियों के हृदय में रहता हूँ। मैं तो वहीं रहता हूँ जहाँ मेरे भक्त मुझे गाते हैं।

भक्तों के विषय में 'भक्ति सूत्र' में भी कहा गया है—

नास्ति तेषु जाति-विद्या-रूप-कुल-धन-क्रियादि भेदः।

—भक्तों में जाति, विद्या, रूप, कुल, धन एवं क्रिया आदि का भेद नहीं होता।

हम भी जब धर्मग्रन्थ उठाकर देखते हैं तो अनेक उदाहरणों से इस बात की सचाई मालूम होती है। रैदास चमार थे, सदना कसाई, ध्रुव ज्ञानहीन बालक, सुदामा निर्धन और गोपियाँ क्रियाकाण्डों से अनभिज्ञ। किन्तु इन सभी ने अपनी निष्कपट भक्ति से भगवान को यह कहने के लिए बाध्य कर दिया—

मैं तो हूँ भगतन का दास, भगत मेरे मुकुटमणि।
मोकूँ भजे, भजू मैं उनको, हूँ दासन का दास।
सेवा करे, करूँ मैं सेवा, हो सच्चा विश्वास।
जूठा खाऊँ, गले लगाऊँ, नाहि जाति का ध्यान।
क्रिया-काण्ड कछु भी नहीं देखूँ, देखूँ प्रेम सम्मान।
भगत मेरे मुकुटमणि॥

बन्धुओ! जैनेतर धर्मग्रन्थों में ऐसे उदाहरणों के द्वारा स्थान-स्थान पर बताया गया है कि भगवान जाति, कुल आदि किसी भी बात की अपेक्षा न करते हुए केवल आन्तरिक भक्ति पर रीझते हैं और उसी के कारण भक्तों को संसार-सागर से पार कर देते हैं।

तुलसी की रामायण में रामचन्द्र जी के गंगा नदी को पार करने का एक बड़ा सुन्दर प्रसंग भी है। जब वे अपने अनुज लक्ष्मण और पत्नी सीता सहित नदी के किनारे पर आते हैं तो निषाद नामक केवट जोकि एक नाव का मालिक था, कहता है—

"भगवन्! आपको नाव पर बैठाकर पार उतारने में मुझे कोई एतराज नहीं है पर मैंने सुना है कि आपके चरणों की धूल से एक शिला स्त्री बन गई। इसी प्रकार कहीं इन चरणों की रज से मेरी यह नाव भी स्त्री बन जाएगी तो फिर मैं क्या करूँगा? पहला नुकसान तो यह होगा कि नाव मेरी रोजी-रोटी का साधन है, वह खतम हो जाएगा। दूसरे दो स्त्रियों के मारे मैं चक्की के पाटों में अनाज की तरह पिस जाऊँगा। एक स्त्री के मारे ही तो नाक में दम है, फिर दूसरी स्त्री तो न जाने क्या दशा कर देगी? इसलिए आपके चरणों की सौगन्ध खाकर ही कहता हूँ कि बिना पाँव धोये तो आपको अपनी नाव पर चढ़ाऊँगा नहीं चाहे दुनिया इधर की उधर हो जाए।"

राम तो अन्तर्यामी थे। अतः वे भक्त केवट की चरण धोने की चाह को समझ गये। मुस्कुराते हुए उन्होंने अपने पैर आगे बढ़ाये और केवट ने बड़े गद्‌गद हृदय से उन चरणों को पखारा तथा सपरिवार चरणामृत ग्रहण किया। पर भक्त भी बड़े होशियार होते हैं। निषाद ने राम को पार उतारने से पहले तो चतुराई की ही थी, नदी पार करने के पश्चात् भी बड़ी दूरदर्शिता से काम लिया। जब राम उसे मेहनताने के लिए रत्नजड़ित अंगूठी देने लगे तो वह बोला—

नाथ ! त्वं भवसागरस्य वयया पारप्रवोऽहं तथा,
लोकानां सरितः कुटुम्बभरणव्याजेन संतारकः।
युक्तं नापितधावकाविववतः कैवर्तयोर्नो मिथो,
नाथमिवानमिमं जनं तव पुनर्घट्टागतं तारय।

भक्त निषाद ने कहा—"हे नाथ ! आप दया करके संसार के लोगों को भव सागर से पार करते हैं और मैं परिवार का पालन-पोषण करने के लिये लोगों को नदी से पार करता हूँ अतः हम दोनों ही मल्लाह हैं। आप जानते हैं कि नाई व धोबी आदि जो जाति-भाई होते हैं, वे एक-दूसरे का काम करके वदले में मजदूरी नहीं लेते। इस नियम के अनुसार मुझे आपसे मजदूरी में पैसा लेना उचित नहीं है। नदी की पार उतराई के उपलक्ष में और भव-सागर के मल्लाह होने के नाते जब मैं घाट पर आऊँ तब आप भी मुझे अविलम्ब संसार-सागर से पार उतार देना।"

कितना प्रेम और कैसी अविचलित श्रद्धा थी उस निम्न जाति के केवट में ? उसी के बल पर वह भगवान को झुका सका और भवसागर को पार कर गया। न उसके पास धन था और न ही ऊँचे कुल का झूठा गौरव, फिर भी उसने यह साबित कर दिया—'सुमरै ज्यांरा है सांई।'

बन्धुओ ! ये अनूठे उदाहरण साबित करते हैं कि भक्त चाहे जिस कुल का हो, अगर उसकी भक्ति सच्ची होती है तो भगवान को उनके लिए बैकुण्ठ छोड़कर भी भागना पड़ता है। कृष्ण ने इन्हीं भक्तों के मारे परेशान होकर कहा है—

नाना भाँति नचायो भक्तों ने मोहे····।
लोक लाज तज इन्हीं काज मैंने बैकुण्ठ विसरायो। भक्तों ने मोहे···
गज ने पुकार्‌यो तब गरुड़ विसार्‌यो जाय—
ग्राह को संहार्‌यो सुनि प्रेम की पुकार।
जब द्रोपदी बिचारी बोली आओ गिरधारी,
मोहे आस है तुम्हारी, और जाऊँ काके द्वार ?
सुनी टेर तब करी न देरी सुनत ही चीर बढ़ायो। भक्तों ने मोहे····
नरसी भक्त काज सांवरिया सेठ बण्यो,
मात पहिरायो लाज राखी जन की।
प्रह्लाद ने बुलायो नरसिंह रूप धार्‌यो,
हिरणकस्यप विदार्‌यो, सुधि भूल्यो तन की।
छोड़ मिठाई दुर्योधन की, साग विदुर घर खायो। भक्तों ने मोहे····

कृष्ण की परेशानी और झुंझलाहट भक्तों के प्रति अथाह प्रेम का परिचय कराती है। वैष्णव धर्मग्रन्थ बताते हैं कि अपने भक्तों के लिए भगवान सम्पूर्ण कार्य-भार त्याग कर नंगे पैर दौड़े आते हैं। पर वे कहते क्या हैं ?

निरपेक्षं मुनिं शांतं, निर्वैरं समदर्शिनम् ।
अनुव्रजाम्यहं नित्यं पूयेयेत्यङ्घ्रिरेणुभिः ।।

—भागवत ११-१४-१६

भगवान् कहते हैं—"जो किसी की अपेक्षा नहीं रखता, सदा शान्त रहता है, जिसका किसी से भी वैर नहीं है और जो समदर्शी है, उस महात्मा के पीछे मैं नित्य यह सोचकर घूमता रहता हूँ कि अगर उसके चरणों की धूल उड़कर मुझ पर पड़ जाय तो मैं पवित्र हो जाऊँ।"

जैनधर्म के अनुसार

अभी मैंने आपको अपने विषयानुसार वैष्णव धर्म-ग्रन्थों के कई उदाहरण देते हुए बताया है कि भगवान न कुल को देखते हैं, न जाति को और न ही धन को। वे केवल भक्ति पर रीझते हैं तथा उन्हीं पर कृपा करते हैं जो उनका सच्चे हृदय से स्मरण करते हैं।

हमारा जैनदर्शन भी जाति और कुल को महत्त्व न देते हुए समझाता है कि व्यक्ति भले ही चमार हो या चाण्डाल, अगर वह आत्मिक गुणों को जगा लेता है तो अपनी आत्मा को पूर्णतया विशुद्ध बनाकर उसे परमात्मा के रूप में ले आता है। जैन-दर्शन का स्पष्ट कथन है कि प्रत्येक वह आत्मा परमात्मपद को प्राप्त कर लेता है जो ज्ञान, दर्शन, चारित्र एवं तप की सम्यक् आराधना करते हुए सम्पूर्ण शुभाशुभ कर्मों को नष्ट कर देता है। कहा भी है—

अप्पो वि य परमप्पो, कम्मविम्मुक्को य होइ फुडं ।

—भावपाहुड १५१

—आत्मा जब कर्म-मल से मुक्त हो जाता है तो वह परमात्मा बन जाता है।
योगसार में भी बताया गया है—

जो परमप्पा सो जिउहं जो हउं सो परमप्पु ।

अर्थात्—जो परमात्मा है, वही मैं (आत्मा) हूं, जो आत्मा है, वही परमात्मा बन सकता है।

तो हमारा जैनधर्म जो कि आत्मा के शुद्ध रूप को परमात्मा मानता है वह व्यक्ति के अन्दर ही बन्धन और अन्दर ही मोक्ष है यह बताता है—

"बन्धप्पमोक्खो अज्झत्थेव ।"

'श्री उत्तराध्ययनसूत्र' में यही कहा गया है—

अप्पा नई वेयरणी, अप्पा मे कूडसामली ।
अप्पा कामदुहा धेणू, अप्पा मे नन्दणं वणं ।।

—अध्ययन २०।३६

यानी—मेरी पाप में प्रवृत्त आत्मा ही वैतरणी नदी और कूटशाल्मली वृक्ष के समान कष्टदायी है; और मेरी आत्मा ही सत्कर्म में प्रवृत्त होने पर कामधेनु और नन्दनवन के समान सुखदायी भी है।

तो बंधुओ ! हमारा विषय यह चल रहा है कि भगवान को प्राप्त करने में अथवा आत्मा को परमात्मा के रूप में लाने में न उच्चकुल सहायक बनता है और न ही निम्नकुल बाधक बन सकता है। हमारा जैनदर्शन यही कहता है कि प्रत्येक वह आत्मा परमात्मा बन जाती है जो अपने आत्म-गुणों को उनके उज्ज्वल एवं शुद्ध रूप में ले आती है। आवश्यकता केवल सच्ची साधना की है।

भगवान महावीर ने आत्मा की अनन्त शक्ति पर बड़ा जोर दिया है। उन्होंने कहा है कि प्रत्येक मनुष्य की आत्मा में ईश्वरीय ताकत है और ईश्वर बनने के गुण हैं। आवश्यकता केवल अन्तर्मानस में रही हुई अनन्त शक्ति को प्रगट करने की है। ध्यान में रखने की बात यह है कि आत्म-शक्ति तभी प्रगट हो सकती है जबकि आत्मा पर जमे हुए राग-द्वेषादि कषायों के मल को हटा दिया जाय। आत्मा में परमात्मा बनने की शक्ति किस प्रकार छिपी है इस विषय में किसी कवि ने बहुत सुन्दर ढंग से बताया है—

बीज-बीज ही नहीं बीज तरुवर भी है।
मनुज-मनुज ही नहीं मनुज में ईश्वर भी है।।

कितनी यथार्थ और चिन्तन-पूर्ण बात है। वस्तुतः एक छोटे से बीज में फल-फूल, पत्ते और मोटी-मोटी डालों को अस्तित्व में ला देने की शक्ति है, इसे कोई सहज ही जान सकता है क्या ? नहीं, इसी प्रकार आत्मा में सम्पूर्ण कर्मों को नष्ट करके अनन्त संसार-सागर को पार करने की तथा कर्मों का भार लादे हुए चारों गतियों में नाना कष्ट सहन करते हुए भटकने का क्रम समाप्त करके परमात्मा बनने की कैसी दिव्य शक्ति छिपी है इसे भी सहज ही जाना जा सकता है क्या ? नहीं, उस शक्ति की पहचान करना और उसे आविर्भाव में लाना केवल उसी साधक के वश का कार्य है जो जाति, कुल, धन-दौलत एवं समस्त भौतिक आकर्षणों से उपराम होकर अपने मानस को आत्म-शुद्धि के प्रयत्न में लगा देता है।

पर आत्म-शुद्धि हो कैसे ? हमारे सामने यही एक बड़ी समस्या है। इस विषय में भगवान के कथनानुसार आगमों में पढ़ा जा सकता है तथा संत-महापुरुषों के द्वारा समझा जा सकता है कि अगर व्यक्ति इन्द्रियों का तथा मन का दास न बनकर उनका स्वामी बने तो आत्मा को नवीन कर्म-बन्धनों से बचा सकता है तथा बद्ध कर्मों को नष्ट कर सकता है। कर्म-बन्धन या पाप इन्द्रियों के द्वारा ही होते हैं अतः किये हुए पापों के लिए आन्तरिक पश्चात्ताप करते हुए पुनः कभी भी उन भूलों को न करने से आत्म-शुद्धि होती है। इस प्रकार की दृढ़ता और असीम मनोबल विरले व्यक्तियों में

ही मिलता है, पर जिनमें होता है उनकी आत्मा निश्चय ही विशुद्धता को प्राप्त होती है।

अगले जन्म में भूल सुधार लूंगा

कहा जाता है कि किसी अपराध के कारण मुल्ला नसरुद्दीन को फांसी की सजा दे दी गई थी। किन्तु फांसी की सजा पाने के बाद भी न तो उसके चेहरे पर रंचमात्र भी क्षोभ दिखाई देता था, न ही उसके जीवन-व्यवहार में तनिक भी शिथिलता आई थी। पूर्ण आनन्द और उत्साह से वह अपने कार्य हँसते-गाते करता जाता था। सजा देने वाले अधिकारियों को मुल्ला का यह व्यवहार देखकर बड़ा आश्चर्य होता था; क्योंकि वे मौत की सजा सुन लेने वाले अपराधियों को सदा रोते-झींकते, आर्त-ध्यान करते और अत्यन्त गमगीन रहते हुए देखते आये थे। पर उन लोगों का आश्चर्य उस समय तो सीमा पार कर गया, जबकि नसरुद्दीन को फांसी के तख्ते के पास ले गये और सीढ़ियाँ चढ़कर उस तक पहुँचने के लिए कहा गया।

नसरुद्दीन निर्भीकतापूर्वक फांसी की टिकटी तक पहुँचाने वाली प्रथम सीढ़ी के समीप पहुँचा, पर एकदम उठाया हुआ पैर पुनः खींचकर बोला—"यह सीढ़ियाँ बहुत कमजोर हैं, मैं इस पर नहीं चढ़ूंगा, दूसरी मँगाई जायँ।"

जेलर नसरुद्दीन की बात सुनकर हैरान रह गया पर कुछ दयार्द्र होकर बोला—"भाई! तुम्हें कुछ क्षणों बाद ही इस जीवन का त्याग करना है, फिर सीढ़ियों के विषय में तुम्हारी दिलचस्पी क्यों?"

"अरे वाह! जीवन के विषय में कोई क्या कह सकता है? सम्भव है मैं अभी नहीं मरूं। और अगर न मरूं तो इन सीढ़ियों पर से गिरकर लँगड़ा होकर कैसे जिऊंगा?"

जेलर नसरुद्दीन की बात सुनकर कुछ नहीं बोला। उसने चुपचाप सिपाहियों को भेजकर दूसरी सीढ़ी मँगवा दी। उसके आ जाने पर नसरुद्दीन खटाखट सीढ़ियाँ चढ़ गया और टिकटी के समीप जा खड़ा हुआ। उसी समय न्यायाधीश ने पूछा—"नसरुद्दीन तुम्हें कुछ अन्तिम बात के रूप में कहना है?"

"हां, हां, क्यों नहीं? मुझे आपको यही बताना है कि मुझे लगने वाली फांसी मेरे लिए बड़ी भारी शिक्षा साबित होगी।"

न्यायाधीश मुल्ला नसरुद्दीन की बात सुनकर अवाक् रह गया। उसी स्थिति में पूछ बैठा—"अभी-अभी तो तुम्हें मर जाना है फिर यह शिक्षा तुम्हारे कब काम आएगी?"

"क्यों? अगर दुबारा जन्म और जीवन मिला तो मैं आज की शिक्षा यह लाभ उठाऊंगा कि इस जीवन में जिस गलती के कारण फांसी की सजा स

गलती को हरगिज न दोहराऊं। अब आप ही बताइये, क्या यह शिक्षा कम महत्त्वपूर्ण है ?"

नसरुद्दीन की यह बात सुनकर वहाँ उपस्थित समस्त व्यक्तियों ने दंग होकर उस दृढ़विश्वासी के सम्मुख मन ही मन अपने मस्तक झुका लिये।

वस्तुतः मौत के प्रति बेपरवाह तथा अपनी भूल को अगले जन्म तक भी निश्चित रूप से सुधार लेने का दृढ़ विश्वास रखने वाले व्यक्ति कभी भी असफलता का मुँह नहीं देखते, चाहे वे उच्चकुलोत्पन्न हों या निम्न कुल में उत्पन्न हुए हों। भजन में यही बात अन्योक्ति अलंकार के साथ बड़े रहस्यात्मक ढंग से आगे बताई गई है। कहा है—

कस्तूरी मँहगा मोल री संता रेही होई।
लखपतियाँ रे लाधे नहीं वे तो कदरे मोलाई॥
कुलरो कारण संतां है नहीं, सुमिरै ज्यारां.......।

इन पंक्तियों में कहा गया है "सच्ची और मँहगे मोल की कस्तूरी केवल संतों के पास ही मिलती है। लखपति व्यक्तियों के पास वह उपलब्ध नहीं हो सकती क्योंकि वे उसकी पहचान ही नहीं कर पाते।

यहाँ कस्तूरी से अभिप्राय सच्ची साधना, आत्म-चिन्तन, आत्म-रमण एवं आत्म-शक्तियों के जागरण से है। यह सब दुर्लभ अवस्थाएँ क्या सुसाधु या संतों के अलावा किसी और के जीवन में आ सकती हैं ? नहीं, लखपति, करोड़पति या ऐश्वर्य के ढेर में लोटने वाले व्यक्ति केवल बाह्य पदार्थों से प्राप्त होने वाले आनन्द का अनुभव करते हैं। वे स्वप्न में भी नहीं जान सकते कि आत्मानन्द क्या होता है और वह पर-पदार्थों से प्राप्त होने वाले आनन्द की तुलना में कितना अधिक और कैसा अनूठा होता है। दूसरे शब्दों में जिस प्रकार हीरे की तुलना में कांच रखना मूर्खता है उसी प्रकार आत्मानन्द की तुलना में सांसारिक पदार्थों से प्राप्त होने वाले आनन्द को रखना भी मूर्खतापूर्ण एवं निरर्थक है। आत्मानन्द वह कस्तूरी है जिसकी कीमत केवल संत ही समझते हैं और इसीलिए वे उसे पा लेते हैं। धनी एवं अहंकारी व्यक्ति सदा बाहर की ओर देखते हैं, अपने अन्दर झाँकने की उन्हें फुरसत ही नहीं मिलती अतः वे आत्म-सुख रूपी कस्तूरी की पहचान कर भी कैसे सकते हैं ? भले ही वे उच्च जाति के हैं और उच्च कुल में उत्पन्न हुए हैं। मेरी समझ में तो ऊँची जाति, ऊँचा कुल और अधिक धन भगवान के स्मरण में बाधक ही बनता है, सहायक नहीं। इसीलिए महात्मा ईसा ने कहा है—

"ऊँट भले ही सुई के छेद में से निकल जाय, पर धनी व्यक्ति स्वर्ग में नहीं जा सकता।"

इस उक्ति से यही अभिप्राय है कि धनी पुरुष साँई अर्थात् भगवान का स्मरण

नहीं कर सकता और भगवान केवल उन्हीं के होते हैं जो उन्हें स्मरण करता है। स्पष्ट है कि संसार के सम्पूर्ण वैभव से मुँह मोड़ लेने वाला फकीर ही प्रभु का स्मरण कर सकता है तथा जैनदर्शन के अनुसार आत्म-स्वरूप को पा सकता है।

यही कारण है कि विश्वविख्यात धन कुवेर 'हैनरी फोर्ड' ने अपने अंतिम समय में ईश्वर से यही प्रार्थना की थी कि उन्हें अगला जन्म किसी श्रमिक परिवार में मिले।

आत्म-शोधन

बंधुओ ! अन्त में मुझे केवल यही कहना है कि मनुष्य को आत्म-निरीक्षण, आत्म-शोधन एवं आत्म-विकास में अपने पुरुषार्थ को लगाना चाहिये, क्योंकि अन्तरंग क्षेत्र उपेक्षित रहेगा तो बहिरंग-क्षेत्र में सच्चे सुख और स्थायी शांति की झलक भी नसीब नहीं होगी। इसलिये आवश्यक है कि आत्मा की शुद्धि के इच्छुक को आत्म-शोधन के प्रयत्न में जुट जाना चाहिये तथा राग-द्वेषादि कषायों को व्यर्थ का कचरा समझकर उसे मानस में से पूर्णतया निकाल देना चाहिये। जो भव्य प्राणी अपने अन्त-र्मानस को शुद्ध बनाने में लग जाता है तथा कषायों को अन्दर न आने देने के लिये सदा सतर्क रहता है वह कैसा भी निम्न कुल का क्यों न हो, आत्म-देव को अथवा परमात्मा को अवश्य प्राप्त करता है। इस संबध में एक उदाहरण मुझे याद आ गया है—

आत्मा की आवाज

संत रबिया बड़ी ही धर्मात्मा एवं ईश्वर-भक्ति में तल्लीन रहने वाली नारी थी। वन में कुटिया बनाकर अधिकतर एकाकी रहती थी ताकि व्यर्थ की विकथाओं में मन न उलझे और खुदा की इबादत में कमी न आए। प्रतिदिन वह कुरानशरीफ का पाठ करती थी तथा नियमपूर्वक नमाज आदि करती हुई अपने मन को विशुद्धतर बनाने का प्रयत्न किया करती थी।

एक दिन प्रसिद्ध संत 'हसन' घूमते-घामते उधर आ निकले और रबिया से मिलने के लिये उसकी कुटी में पहुँच गये। रबिया हसन के आगमन से अत्यन्त प्रसन्न हुई और बड़े आदर से उन्हें बैठने के लिये आसन दिया। हसन की दृष्टि कुटिया में रही हुई वस्तुओं की ओर घूमी तथा समीप ही चौकी पर रखा हुआ कुरान शरीफ उन्होंने उठा लिया।

सहज-भाव से पन्ने पलटते हुए एक स्थान पर उन्होंने देखा कि रबिया ने कुरान में लिखी हुई किसी पंक्ति को स्याही से पूर्णतया मिटा रखा है। हसन को बड़ा आश्चर्य हुआ और रबिया से उन्होंने कहा—

"रबिया यह तुमने क्या किया ? पवित्र धर्मग्रन्थ कुरान में दी हुई पंक्ति को काटकर तूने इसका अपमान और महापाप किया है। ऐसा करने की तुझे किसने प्रेरणा दी ?"

10

शीश में जगदीश देख्या

उपस्थित आत्म-बंधुओ !

आज मैं आपके समक्ष ऐसा विषय रखने जा रही हूँ जिसे समझना श्रावकों, श्रद्धालुओं एवं सत्संग-प्रेमियों के लिये परमावश्यक है। आज के युग में प्रत्येक व्यक्ति अपने आप को प्रगतिशील, बुद्धिमान एवं ज्ञानवान समझता है। किन्तु देखना यह है कि उसकी बुद्धिमानी एवं विद्वत्ता उसे उन्नति की ओर अग्रसर कर रही है या अवनति की ओर तथा उसकी बुद्धि के पीछे 'सु' उपसर्ग लग रहा है या 'कु' उपसर्ग ? अगर व्यक्ति की बुद्धि के पीछे 'कु' उपसर्ग लग गया तो समझना चाहिये कि वह अपनी आत्मा को परभाव में ले जाता हुआ पतन की ओर जा रहा है तथा 'सु' उपसर्ग उसकी बुद्धि के पीछे लग गया तो निश्चय ही मानना चाहिये कि वह अपनी आत्मा को निर्मल, निष्पाप एवं उज्ज्वल बनाता हुआ उसे उन्नति की ओर बढ़ा रहा है।

कहने का अभिप्राय यही है कि जिसकी बुद्धि पवित्र है, दृष्टि परिष्कृत है और मानस निर्मल है वही भव्य प्राणी शास्त्र-श्रवण, स्वाध्याय एवं संतों के उपदेश आदि का लाभ उठाता हुआ आत्म-रमण कर सकता है। कहने की आवश्यकता नहीं है कि आत्म-रमण ही आत्मा को संसार से मुक्त करने का उपाय है।

आत्म-रमण कब संभव है ?

मानव का आत्म-रमण करना तभी संभव है जबकि वह जीवन और जगत के रहस्य को समझे, आत्मा के अशुद्ध व शुद्ध स्वरूप के विषय में जाने तथा उसकी मुक्ति कैसे हो सकती है इसके तरीके को अपनाए। पर यह सब तभी हो सकता है जबकि वह आगमों का ज्ञान हासिल करे और संतों के द्वारा उनमें रहे हुए गूढ़ रहस्यों को भली-भांति जाने। इस कलिकाल में संतों या साधु-पुरुषों के अलावा अन्य कोई भी व्यक्ति आत्म-कल्याण का मार्ग नहीं सुझा सकता।

शिक्षकों की कमी है क्या ?

आप विचार करेंगे कि इस युग में तो कदम-कदम पर महापंडित या विद्वान शिक्षक उपलब्ध होते हैं और प्रत्येक बालक वर्षों तक यानी स्कूल से प्रारम्भ करके कॉलेज-जीवन तक क्रमशः बड़े-बड़े अध्यापकों और प्रोफेसरों से अध्ययन करता है।

रबिया ने हाथ जोड़कर नम्रतापूर्वक उत्तर दिया—"महाराज ! मुझे ऐ
करने का आदेश किसी और ने नहीं, अपितु मेरी आत्मा ने ही दिया है।"

"पर खुदा के उपदेशों में दखल देने जितनी योग्यता तुझ में कहाँ से आई
जरा बता कि तूने कौन सी बात गलत समझकर यहाँ मिटाई है ?"

रबिया ने गम्भीरतापूर्वक उत्तर दिया—"यहाँ लिखा था—'शैतान
नफरत करो'।"

"यह तो बिलकुल यथार्थ शिक्षा है। शैतान से अवश्य नफरत करनी चाहिये
इस बात को क्या तू गलत समझती है ?"–हसन ने तनिक रोषपूर्वक पुनः प्रश्न किया

"फकीर साहब ! मैं नहीं जानती कि आप और सारी दुनियाँ इस शिक्षा
कैसी मानती है। पर मेरी आत्मा कहती है कि शैतान से नफरत करने के लिए उस
मिलने से पहले ही मैं हृदय में नफरत को जमा करके रखूं, यह ठीक नहीं है। इस
अलावा जब खुदा स्वयं संसार के प्रत्येक प्राणी से प्रेम रखता है तो फिर मानव कि
से भी नफरत क्यों करे ? इसलिये मैं नफरत को बिलकुल निरर्थक समझ कर कू
कर्कट की तरह बाहर फैंक देती हूँ। उसे अन्दर रखकर आत्मा को अशुद्ध और दो
बनाना नहीं चाहती। अब आप ही बताइये कि शैतान से बुरा व्यवहार कर
के लिये नफरत या घृणा जैसी दूषित भावना हृदय में संजोकर रखना अच्छा है
बुरा ?"

हसन क्या उत्तर देते ? उनका मस्तक मानों रबिया के चरणों पर झुक गया
वे समझ गये कि कम पढ़ी-लिखी रबिया भी मेरे और अनेक महान फकीरों के मुकाब
में श्रेष्ठ है।

तो बंधुओ ! आप समझ गये होंगे कि आत्म-साक्षात्कार अथवा परमात्मा
प्राप्ति के लिये साध्य की उच्चता, साधनों की पवित्रता तथा साधक की दृढ़निष्
आवश्यक है न कि कुल की उच्चता। जो भव्य प्राणी इस बात को समझ लेते हैं
निश्चय ही अपनी आत्मा को परमात्मा बना लेते हैं और दूसरे शब्दों में साँईं या
स्वामी अथवा भगवान को प्राप्त करने में सक्षम बनते हैं। □

10

शीश में जगदीश देख्या

उपस्थित आत्म-बंधुओ !

आज मैं आपके समक्ष ऐसा विषय रखने जा रही हूँ जिसे समझना श्रावकों, श्रद्धालुओं एवं सत्संग-प्रेमियों के लिये परमावश्यक है। आज के युग में प्रत्येक व्यक्ति अपने आप को प्रगतिशील, बुद्धिमान एवं ज्ञानवान समझता है। किन्तु देखना यह है कि उसकी बुद्धिमानी एवं विद्वत्ता उसे उन्नति की ओर अग्रसर कर रही है या अवनति की ओर तथा उसकी बुद्धि के पीछे 'सु' उपसर्ग लग रहा है या 'कु' उपसर्ग ? अगर व्यक्ति की बुद्धि के पीछे 'कु' उपसर्ग लग गया तो समझना चाहिये कि वह अपनी आत्मा को परभाव में ले जाता हुआ पतन की ओर जा रहा है तथा 'सु' उपसर्ग उसकी बुद्धि के पीछे लग गया तो निश्चय ही मानना चाहिये कि वह अपनी आत्मा को निर्मल, निष्पाप एवं उज्ज्वल बनाता हुआ उसे उन्नति की ओर बढ़ा रहा है।

कहने का अभिप्राय यही है कि जिसकी बुद्धि पवित्र है, दृष्टि परिष्कृत है और मानस निर्मल है वही भव्य प्राणी शास्त्र-श्रवण, स्वाध्याय एवं संतों के उपदेश आदि का लाभ उठाता हुआ आत्म-रमण कर सकता है। कहने की आवश्यकता नहीं है कि आत्म-रमण ही आत्मा को संसार से मुक्त करने का उपाय है।

आत्म-रमण कब संभव है ?

मानव का आत्म-रमण करना तभी संभव है जबकि वह जीवन और जगत के रहस्य को समझे, आत्मा के अशुद्ध व शुद्ध स्वरूप के विषय में जाने तथा उसकी मुक्ति कैसे हो सकती है इसके तरीके को अपनाए। पर यह सब तभी हो सकता है जबकि वह आगमों का ज्ञान हासिल करे और संतों के द्वारा उनमें रहे हुए गूढ़ रहस्यों को भली-भांति जाने। इस कलिकाल में संतों या साधु-पुरुषों के अलावा अन्य कोई भी व्यक्ति आत्म-कल्याण का मार्ग नहीं सुझा सकता।

शिक्षकों की कमी है क्या ?

आप विचार करेंगे कि इस युग में तो कदम-कदम पर महापंडित या विद्वान शिक्षक उपलब्ध होते हैं और प्रत्येक बालक वर्षों तक यानी स्कूल से प्रारम्भ करके कालेज-जीवन तक क्रमशः बड़े-बड़े अध्यापकों और प्रोफेसरों से अध्ययन करता है।

पर क्या वे अध्यापक और लेक्चरार छात्र को आत्म-मुक्ति का तरीका बता सकते हैं ? नहीं, वे छात्र को केवल धन कमाने का तरीका बता सकते हैं तथा जनता को बेवकूफ बनाकर अपनी स्वार्थ-सिद्धि का मार्ग सुझाते हैं। ऐसे अध्यापक और शिक्षक केवल सांसारिक विषयों का ज्ञान प्राप्त कराते हैं या कि भौतिक विद्याएँ सिखाकर अपने कर्तव्य की इतिश्री समझ लेते हैं। पर उस ज्ञान या विद्याओं से क्या मानव को अपने जीवन का अभीष्ट एवं सर्वोत्कृष्ट लाभ हासिल हो सकता है ? क्या उस ज्ञान से वह आत्मा पर लिपटे हुए कर्मों के एक भी घेरे को हटा सकता है ? नहीं, कर्मों का एक भी बन्धन उसके द्वारा नहीं टूटता। कर्मों के सुदृढ़ बंधनों को तोड़ने की सामर्थ्य केवल आध्यात्मिक ज्ञान में है और वह मात्र सच्चे संत से प्राप्त किया जा सकता है। सच्चे संत ही मनुष्य को जीवन और जगत के रहस्यों से अवगत कराते हैं, आत्म-गुणों के विकास की विधि बताते हैं तथा आत्मा में रहे हुए अनन्तज्ञान, अनन्तदर्शन एवं अनन्तचारित्र को प्रकाश में लाते हैं। इसलिये प्रत्येक आत्मार्थी को संत-समागम करना चाहिये तथा उनके सदुपदेशों पर अमल करते हुए आत्मोन्नति की ओर बढ़ना चाहिये।

संतों के समक्ष कैसे जाना चाहिये ?

बंधुओ, आप यह सुनकर हैरान होंगे और सोचेंगे कि संतों के समक्ष जाने के भी विभिन्न तरीके हैं क्या ? मनुष्य जब सोचता है तब अपने दो पैरों से चल कर उनके पास पहुँच जाता है। ऐसी स्थिति में फिर 'कैसे जाना ?' इस पर विचार करने का कौन-सा तुक है ? क्या तैयारी करनी होती है इसके लिये ?

मन में उठने वाले इन प्रश्नों के उत्तर में यह कहा जा सकता है कि निश्चय ही दो पैरों से चलकर संत के समीप पहुँच जाना काफी नहीं है और इसलिये उनके पास पहुँचने से पहले ठीक उसी प्रकार तैयार होना पड़ता है, जिस प्रकार वर्षा आने से पहले किसान के द्वारा घास-फूस एवं कंकर-पत्थरों से रिक्त होकर भूमि को तैयार होना होता है। आप भूमि का उदाहरण सुनकर और भी हैरान हो रहे होंगे कि भला मनुष्य का और भूमि का क्या सम्बन्ध है तथा मनुष्य को भूमि के समान क्यों और किस प्रकार तैयार होना चाहिये ?

अब मैं अपनी इस बात को स्पष्ट करने जा रही हूँ। वह इस प्रकार कि—जब भूमि किसान के द्वारा घास-फूस, कंकर-पत्थर या झाड-झंखाड़ों से रिक्त कर दी जाती है तथा उसमें खाद डाल दी जाती है, तब वह स्वच्छ और खाद युक्त भूमि वर्षा के जल को उदरस्थ करके अत्युत्तम फसल उपजाने में समर्थ बनती है।

ठीक इसी प्रकार मनुष्य संतों के समक्ष पहुँचने से पहले अपने हृदय को राग-द्वेषादि के घास-फूस से, स्वार्थ एवं गर्व आदि के कंकर-पत्थरों से तथा इच्छाओं व कामनाओं के झाड़-झंखाड़ों से रिक्त करके उसे स्वच्छ बनाए और श्रद्धा व विवेक रूपी खाद से युक्त करे। ऐसा विषय-कषायादि से रिक्त और आस्था से युक्त हृदय संतों के

द्वारा दिये गये धर्मोपदेश या जिनवाणी रूपी जल को ग्रहण कर सकता है और उसे ग्रहण करके आत्मा के ज्ञान, दर्शन चारित्र एवं अन्य अनेक सद्‌गुणों को पनपाकर सुफल प्राप्त करने में समर्थ बनता है।

कहने का अभिप्राय यही है कि संतों के समक्ष जाने से पहले व्यक्ति को अपना हृदय पूर्णतया निर्मल बना लेना चाहिये। ऐसा करने पर ही वह अपनी उत्तम भावना एवं सही जिज्ञासा लेकर उनके पास पहुँचेगा और उनके द्वारा प्रदत्त ज्ञान को शुद्ध हृदय में रमा सकेगा। भावनाओं की उत्तमता और गुण-दृष्टि के अभाव में उसकी आस्था जिन-वचनों में और संतों में नहीं टिकेगी तथा अपनी मानसिक अस्थिरता के कारण वह उनके सदुपदेशों को सही तौर से ग्रहण नहीं कर सकेगा।

संतों के समक्ष कैसा हृदय लेकर जाना चाहिये और उन्हें किस रूप में देखना चाहिये? इस विषय में किसी भक्त कवि ने अपने ज्वलंत अनुभव को शब्दों में उतारा है -

शीश में जगदीश देख्या, ऐसा ज्ञान गम्भीर जी।
हंस ज्यांरी करे जुगती, चुगे माणक हीर जी॥

दृढ़ श्रद्धा का कितना सुन्दर और अनुपम उदाहरण है? भक्त संत-समागम करने के बाद कहता है—"मुझे तो गुरु के दिव्य मस्तक में मानों साक्षात् प्रभु के दर्शन हुए हैं। उनका अद्‌भुत और अगाध ज्ञान अनवरत निःसृत हो रहा था तथा जिज्ञासु प्राणी उनके एक-एक कल्याणकारी शब्द को इस प्रकार ग्रहण कर रहे थे, जिस प्रकार हंस मानसरोवर के किनारे एक-एक दुर्लभ मोती बड़ी चतुराई और युक्ति के साथ चुगता है।

कहने का आशय यही है कि संत या गुरु के दर्शन, उनके सदुपदेशों का श्रवण एवं उनकी सेवा जो मानव शुद्ध हृदय से करता है, वह उनसे कुछ न कुछ अवश्यमेव प्राप्त करता है और भले ही वह प्राप्ति अल्प हो किन्तु आगे जाकर महान् फल की उपलब्धि कराती है।

'श्री उत्तराध्ययनसूत्र' के उन्तीसवें अध्ययन में भी भगवान महावीर के द्वारा यही बताया गया है।

श्री गौतम स्वामी भगवान से प्रश्न करते है—

"गुरुसाहम्मियसुस्सूसणयाए णं भंते? जीवे किं जणयइ?"

—हे भगवन्! गुरु एवं साधर्मीजनों की सेवा करने से जीव को क्या लाभ होता है?

इस प्रश्न के उत्तर में भगवान ने फरमाया—

"गुरुसाहम्मियसुस्सूसणयाए णं विणयपडिवत्तिं जणयइ। विणयपडिवन्ने य णं जीवे अणच्चासायणसीले नेरइय-तिरिक्ख-जोणिय-मणुस्स-देव-दोग्गईओ निरुंभइ। वण्ण-

संजलण-भत्ति-बहुमाणयाए मणुस्सदेवसोग्गईओ निबंधई सिद्धि सोग्गइं च विसोहेइ। पसत्थाइं च णं विणयमूलाइं सव्वकज्जाइं साहेइ। अण्णे य बहवे जीवे विणइत्ता भवइ।

अर्थात्—गुरुजनों की एवं साधर्मियों की सेवा करने से विनय की प्राप्ति होती है और विनय को प्राप्त हुआ जीव सम्यक्त्वादि का नाश करने वाली आशातना का त्याग कर देता है, फिर वह जीव नारकी, तिर्यञ्च, मनुष्य और देव सम्बन्धी दुर्गतियों का निरोध कर देता है तथा गुरुजनों का गुण-कीर्तन, भक्ति एवं बहुमान करने से मनुष्य और देवों में उत्तम ऐश्वर्य आदि सम्पन्न शुभ-गति का बन्ध करता है और मोक्ष के कारणभूत ज्ञान-दर्शन-चारित्र रूप मोक्ष मार्ग की विशुद्धि करता है और विनय-मूलक सभी उत्तम कार्यों को सिद्ध कर लेता है। साथ ही [illegible]कर अन्य बहुत से जीव विनय-धर्म में प्रवृत्त होते हैं।

बंधुओ ! भगवान की इस शिक्षा को आपके समक्ष मैंने इसीलिये रखा है जिससे आप यह जान सकें कि सन्त अथवा गुरु के द्वारा प्राप्त विनयरूपी एक छोटा सा गुण भी किस प्रकार आत्मा को निर्मल बनाता हुआ [illegible] चारों गतियों का निरोध करते हुए मोक्षमार्ग पर बढ़ाता है तथा अन्य अनेकानेक लोगों के लिए आदर्श बनकर उन्हें भी विनय धर्म में प्रवृत्त होने की प्रेरणा देता है।

सन्त किस प्रकार मार्गदर्शन करते हैं यह मैं एक और उदाहरण आपके समक्ष रखते हुए बता रही हूँ। उदाहरण इस प्रकार है—

कभी न बुझने वाली ज्योति कौन सी ?

राजा जनक ने एक बार ब्रह्मवेत्ता महर्षि याज्ञवल्क्य से पूछा—"भगवन् ! अगर इस संसार से सूर्य लुप्त हो जाय तो मानव किसकी ज्योति का आश्रय लेकर जीवन बनाए रखेंगे ?

महर्षि ने उत्तर दिया—"सूर्य के अभाव में लोग चन्द्रमा के आधार पर जीवित रह सकते हैं।"

जनक ने पुनः प्रश्न किया—"अगर चन्द्रमा का अस्तित्व भी न रहे तो ?"

"उस स्थिति में मनुष्य अग्नि का आश्रय ले सकते हैं। अग्नि का प्रकाश या उसकी ज्योति से भी संसार का कार्य चल सकता है।" महर्षि ने तीसरा उपाय बताया। किन्तु जनक को यह सुनकर भी सन्तोष नहीं हुआ अतः उन्होंने अग्नि के न होने पर किसका सहारा लिया जा सकता है यह पूछ लिया।

याज्ञवल्क्य ने अग्नि के न होने पर वाक्शक्ति का आधार लेने का सुझाव दिया और कहा कि वाणी भी अग्नि के समान तेजोमय है अतः लोग उसके सहारे से भी जीवनयापन कर सकते हैं।

जनक ने ध्यान से सूर्य के अभाव में लिये जाने वाले विकल्पों को जाना। किन्तु उनके मन को उन सबके विषय में जानकर भी सन्तोष न हुआ। वे ऐसी ज्योति

की खोज करना चाहते थे जो कभी समाप्त न हो और कभी लुप्त भी न हो। ऐसी ही ज्योति के लिए उन्होंने पुनः-पुनः महर्षि से प्रश्न किये।

राजा जनक की तीव्र जिज्ञासा को समझकर महर्षि ने तब बड़ी गम्भीरतापूर्वक कहा—

"राजन्! कभी भी लुप्त न होने वाली तो केवल आत्म-ज्योति है जो न कभी लुप्त होती है, और न ही कभी समाप्त होती है। जो भव्य पुरुष आत्म-ज्योति का आश्रय लेकर उसके सहारे से बढ़ते हैं वे कभी पथभ्रष्ट नहीं होते, वरन् निरन्तर मुक्ति के मार्ग पर अग्रसर होते चले जाते हैं।"

राजा जनक को महर्षि याज्ञवल्क्य के इस उत्तर से परम सन्तोष हुआ और उन्होंने आत्म-ज्योति के रहस्य को समझकर उसे आत्म-कल्याण का एकमात्र साधन मान लिया। यही राजा जनक आगे जाकर बड़े-बड़े दिग्गज विद्वानों को प्रतिबोध देने में सफल हुए।

कभी न कभी आत्मा मुक्त अवश्य होगी

हमारा जैन-दर्शन भी पुकार-पुकार कर यही कहता है कि अगर मनुष्य के लिए सम्भव हो तो वह पंच महाव्रत धारण करके अपने अन्तर्मानस में सर्वोत्कृष्ट केवलज्ञान की अपूर्व ज्योति जलाए पर सांसारिक कर्तव्यों का पालन करते हुए वह यह न कर सके यानी पाँचों महाव्रतों को न अपना सके तो श्रावक के बारह व्रतों को ग्रहण करके भी आत्म-ज्योति को प्रज्वलित रखे और इतना भी न कर पाए तो कम से कम सम्यक्त्वी बना रहकर उस ज्योति को पूर्णतया विलुप्त तो किसी भी हालत में न होने दे। सम्यक्त्व या श्रद्धा मानस को प्रकाशित करने वाली वही आत्म-ज्योति है जिसका उल्लेख अभी-अभी दिये गये उदाहरण में महर्षि याज्ञवल्क्य ने किया है और जिसके जलते रहने पर मुमुक्षु कभी न कभी अथवा किसी न किसी जन्म में अपने अभीष्ट लक्ष्य मुक्ति को अवश्य हासिल कर लेता है।

यह ठीक उसी प्रकार होता है, जिस प्रकार आकाश में दूर-दूर और बहुत ऊँचाई पर उड़ता हुआ पतंग भी हाथ में डोरी के रहने पर खींच लिया जाता है, अन्तर्मानस में श्रद्धा रहने पर इन्द्रियों के वशीभूत हुआ मन कहीं भी भटक जाए, उसे स्व-स्वभाव की ओर ले आया जाता है। आवश्यकता केवल यही है कि आत्मा में सम्यक्त्व की ज्योति भले ही क्षीण हो किन्तु सदा जलती रहे। ध्यान में रखने की बात यह है कि सन्त मानव के मानस में रहने वाली इस ज्योति की रक्षा करते हैं तथा अनवरत प्रयत्न करते हैं कि वह अधिकाधिक प्रकाशमान हो।

इतिहास साक्षी है

अगर हम प्राचीन इतिहास का अवलोकन करते हैं तो सहज ही पता चल जाता है कि अनेक महान् सन्तों ने जीवन पर्यंत लोगों को बोध दिया है, जिनमें साधारण मानव तो रहे ही हैं, बड़े-बड़े राजा-महाराजा भी थे। उदाहरणस्वरूप— आर्य सुहस्ती

ने राजा सम्प्रति को, वप्पभट्टी ने अनेक राजाओं को, वासुदेवाचार्य ने हस्तिकुण्डी के नरेशों को, शीलगुणसूरि ने वनराज को तथा कलिकालसर्वज्ञ आचार्य हेमचन्द्र ने सिद्धराज कुमारपाल को प्रतिबोध देकर सन्मार्गगामी बनाया।

इनके अलावा और भी अनेक जैनाचार्य हुए हैं जैसे—जिनसिंह सूरि, जिनदेव सूरि, रत्नशेखर सूरि आदि, जिन्होंने मुहम्मद तुगलक, फीरोजशाह, अलाउद्दीन एवं औरंगजेब जैसे क्रूर व निष्ठुर बादशाहों का अपने सदुपदेशों के द्वारा हृदय-परिवर्तन किया। साथ ही उन्होंने यह बताया कि कोई भी व्यक्ति जाति या कुल से ऊँचा या नीचा नहीं होता अपितु अपने कर्मों के द्वारा ही उच्च और नीच की श्रेणी में आता है।

ब्राह्मण कौन कहला सकता है इस सम्बन्ध में उन्होंने कहा है—

जो निश्चय मारग गहे, रहे ब्रह्म में लीन।
ब्रह्म दृष्टि सुख अनुभवे, सो ब्राह्मण परवीन॥

क्षत्रिय कौन कहलाते हैं—

जो निश्चय गुण जानके, करे शुद्ध व्यवहार।
जीते सेना मोह की, सो क्षत्री भुज चार॥

वैश्यों के विषय में भी कहा गया है—

जो जाणे व्यवहार को, दृढ़ व्यवहारी होय।
शुभ करणी सों रमि रहे, वैश्य कहावे सोय॥

शूद्र कौन कहलायेगा—

जो मिथ्यामत आदरे, रागद्वेष की खान।
बिन विवेक करनी करे, शूद्र वर्ण सो जान॥

बंधुओ ! यह सब बताने से मेरा अभिप्राय यही है कि सन्त बड़े दयार्द्र होते हैं तथा निम्न कुल में जन्म लेने मात्र से ही किसी को हेय समझा जाने से कष्ट का अनुभव करते हैं। वे सन्त ही होते हैं जो सामाजिक विषमता मिटाने की कोशिश करते हैं तथा प्रत्येक व्यक्ति को उत्तम कर्म करने की प्रेरणा देते हुए उसके जीवन को निष्कलंक, निर्मल और पवित्र बनाते हैं। एक छोटा सा उदाहरण है—

किसी भक्त ने एक सन्त से पूछा—"भगवन् ! मैं बत्तीस वर्षों से भगवान की भक्ति कर रहा हूँ फिर भी मुझे ज्ञान क्यों नहीं होता ?"

सन्त ने उत्तर दिया—"भाई तुम ऐसा करो कि अपना धन-वैभव छोड़ दो, शरीर-सज्जा का त्याग कर दो और मस्तक मुँड़ाकर किसी भी व्यक्ति से, चाहे वह तुम्हारा सम्बन्धी ही क्यों न हो, भिक्षा माँगकर खाया करो।"

भक्त हैरान होकर कहने लगा—"महाराज ! यह कैसे हो सकता है ? अनेक

लोगों को पालने की क्षमता रखने वाला मैं भीख मांगूं और वह भी अपने सम्बन्धियों से ?"

सन्त मुस्कुरा दिये और बोले—"तो बंधु ! अभिमान छोड़े बिना भला ज्ञान कैसे प्राप्त हो सकता है ?"

सन्तों की सीख इसी प्रकार की होती है और वे विभिन्न तरीकों से लोगों को समझा सकने में सक्षम बने हैं। यही कारण है कि सज्जन एवं धर्मप्रिय व्यक्ति उन्हें अपने सर्वस्व से भी अधिक चाहते हैं।

राज्य चला जाए, पर सन्त नहीं

एक बार ईरान और टर्की में भारी युद्ध हुआ। युद्ध के दौरान टर्की ने ईरान के एक सन्त फरीदुद्दीन अन्सार को पकड़वा मंगाया और उस पर जासूसी का आरोप लगाकर फांसी की सजा सुना दी।

ईरानियों को जब यह मालूम हुआ तो वे बड़े व्याकुल हुए और एक धनाढ्य व्यक्ति ने टर्की के सुलतान से प्रार्थना की कि हमारे सन्त के वजन का सोना मुझसे लेकर उन्हें हिरासत से मुक्त कर दें तथा फांसी की सजा का आदेश वापिस ले लें।

टर्की के सुलतान ने इस प्रार्थना को नहीं माना और निषेधात्मक उत्तर दे दिया। किन्तु कुछ समय पश्चात् ही उनके पास ईरान के बादशाह का सन्देश आया—"आप हमारा सम्पूर्ण राज्य लेकर सन्त फरीदुद्दीन अन्सार को छोड़ दें।"

यह सन्देश पाकर टर्की के सुलतान को घोर आश्चर्य हुआ। वह सोचने लगा—'जिस राज्य के लिये टर्की और ईरान में लम्बे काल से युद्ध हो रहा है तथा इतने दिन लड़कर भी हम उसे हासिल नहीं कर पाये हैं, उसी राज्य को एक फकीर के बदले क्योंकर दिया जा रहा है ?' उत्सुकता शान्त न होने पर यही बात टर्की के सुलतान ने ईरान के बादशाह से पुछवाई।

समय पर बादशाह का उत्तर आ गया। उन्होंने कहलवाया था—"सुलतान ! राज तो नष्ट हो जाने वाला है पर सन्त अविनाशी हैं। राज्य के खो जाने पर तो हम पुनः कभी उसे प्राप्त कर सकते हैं, किन्तु सन्त अगर हमने खो दिया तो सदा के लिये दरिद्र और कलंकित हो जायेंगे।"

ईरान के बादशाह के इस उत्तर से टर्की के सुलतान ने समझ लिया कि जिस देश में सन्त का इतना आदर होता है तथा उसका इतना मूल्य समझा जाता है उसे कोई भी देश कभी पराजित नहीं कर सकता। यह विचार आते ही उसने सन्त को तो ससम्मान मुक्त किया ही, साथ ही युद्ध भी बन्द कर दिया।

सन्त की महत्ता और उसके प्रभाव का कैसा सच्चा और अद्भुत उदाहरण है ? वास्तव में ही इस पृथ्वी पर अगर सन्त न हों तो न जाने कितना अधर्म, कितना अन्याय और कितना अत्याचार फैला रहे। लोगों के हृदयों में न प्रेम की भावना

ने राजा सम्प्रति को, बप्पभट्टी ने अनेक राजाओं को, वासुदेवाचार्य ने हस्तिकुण्डी के नरेशों को, शीलगुणसूरि ने वनराज को तथा कलिकालसर्वज्ञ आचार्य हेमचन्द्र ने सिद्धराज कुमारपाल को प्रतिबोध देकर सन्मार्गगामी बनाया।

इनके अलावा और भी अनेक जैनाचार्य हुए हैं जैसे—जिनसिंह सूरि, जिनदेव सूरि, रत्नशेखर सूरि आदि, जिन्होंने मुहम्मद तुगलक, फीरोजशाह, अलाउद्दीन एवं औरंगजेब जैसे क्रूर व निष्ठुर बादशाहों का अपने सदुपदेशों के द्वारा हृदय-परिवर्तन किया। साथ ही उन्होंने यह बताया कि कोई भी व्यक्ति जाति या कुल से ऊँचा या नीचा नहीं होता अपितु अपने कर्मों के द्वारा ही उच्च और नीच की श्रेणी में आता है।

ब्राह्मण कौन कहला सकता है इस सम्बन्ध में उन्होंने कहा है—

जो निश्चय मारग गहे, रहे ब्रह्म में लीन।
ब्रह्म दृष्टि सुख अनुभवे, सो ब्राह्मण परवीन॥

क्षत्रिय कौन कहलाते हैं—

जो निश्चय गुण जानके, करे शुद्ध व्यवहार।
जीते सेना मोह की, सो क्षत्री भुज चार॥

वैश्यों के विषय में भी कहा गया है—

जो जाणे व्यवहार को, दृढ़ व्यवहारी होय।
शुभ करणी सों रमि रहे, वैश्य कहावे सोय॥

शूद्र कौन कहलायेगा—

जो मिथ्यामत आदरे, रागद्वेष की खान।
बिन विवेक करनी करे, शूद्र वर्ण सो जान॥

बंधुओ! यह सब बताने से मेरा अभिप्राय यही है कि सन्त बड़े दयार्द्र होते हैं तथा निम्न कुल में जन्म लेने मात्र से ही किसी को हेय समझा जाने से कष्ट का अनुभव करते हैं। वे सन्त ही होते हैं जो सामाजिक विषमता मिटाने की कोशिश करते हैं तथा प्रत्येक व्यक्ति को उत्तम कर्म करने की प्रेरणा देते हुए उसके जीवन को निष्कलंक, निर्मल और पवित्र बनाते हैं। एक छोटा सा उदाहरण है—

किसी भक्त ने एक सन्त से पूछा—"भगवन्! मैं बत्तीस वर्षों से भगवान की भक्ति कर रहा हूँ फिर भी मुझे ज्ञान क्यों नहीं होता?"

सन्त ने उत्तर दिया—"भाई तुम ऐसा करो कि अपना धन-वैभव छोड़ दो, शरीर-सज्जा का त्याग कर दो और मस्तक मुँड़ाकर किसी भी व्यक्ति से, चाहे वह तुम्हारा सम्बन्धी ही क्यों न हो, भिक्षा माँगकर खाया करो।"

भक्त हैरान होकर कहने लगा—"महाराज! यह कैसे हो सकता है? अनेक

लोगों को पालने की क्षमता रखने वाला मैं भीख मांगूं और वह भी अपने सम्बन्धियों से ?"

सन्त मुस्कुरा दिये और बोले—"तो बंधु ! अभिमान छोड़े बिना भला ज्ञान कैसे प्राप्त हो सकता है ?"

सन्तों की सीख इसी प्रकार की होती है और वे विभिन्न तरीकों से लोगों को समझा सकने में सक्षम बने हैं। यही कारण है कि सज्जन एवं धर्मप्रिय व्यक्ति उन्हें अपने सर्वस्व से भी अधिक चाहते हैं।

राज्य चला जाए, पर सन्त नहीं

एक बार ईरान और टर्की में भारी युद्ध हुआ। युद्ध के दौरान टर्की ने ईरान के एक सन्त फरीदुद्दीन अन्सार को पकड़वा मंगाया और उस पर जासूसी का आरोप लगाकर फांसी की सजा सुना दी।

ईरानियों को जब यह मालूम हुआ तो वे बड़े व्याकुल हुए और एक धनाढ्य व्यक्ति ने टर्की के सुलतान से प्रार्थना की कि हमारे सन्त के वजन का सोना मुझसे लेकर उन्हें हिरासत से मुक्त कर दें तथा फांसी की सजा का आदेश वापिस ले लें।

टर्की के सुलतान ने इस प्रार्थना को नहीं माना और निषेधात्मक उत्तर दे दिया। किन्तु कुछ समय पश्चात् ही उनके पास ईरान के बादशाह का सन्देश आया—"आप हमारा सम्पूर्ण राज्य लेकर सन्त फरीदुद्दीन अन्सार को छोड़ दें।"

यह सन्देश पाकर टर्की के सुलतान को घोर आश्चर्य हुआ। वह सोचने लगा—'जिस राज्य के लिये टर्की और ईरान में लम्बे काल से युद्ध हो रहा है तथा इतने दिन लड़कर भी हम उसे हासिल नहीं कर पाये हैं, उसी राज्य को एक फकीर के बदले क्योंकर दिया जा रहा है ?' उत्सुकता शान्त न होने पर यही बात टर्की के सुलतान ने ईरान के बादशाह से पुछवाई।

समय पर बादशाह का उत्तर आ गया। उन्होंने कहलवाया था—"सुलतान ! राज तो नष्ट हो जाने वाला है पर सन्त अविनाशी हैं। राज्य के खो जाने पर तो हम पुनः कभी उसे प्राप्त कर सकते हैं, किन्तु सन्त अगर हमने खो दिया तो सदा के लिये दरिद्र और कलंकित हो जायेंगे।"

ईरान के बादशाह के इस उत्तर से टर्की के सुलतान ने समझ लिया कि जिस देश में सन्त का इतना आदर होता है तथा उसका इतना मूल्य समझा जाता है उसे कोई भी देश कभी पराजित नहीं कर सकता। यह विचार आते ही उसने सन्त को तो ससम्मान मुक्त किया ही, साथ ही युद्ध भी बन्द कर दिया।

सन्त की महत्ता और उसके प्रभाव का कैसा सच्चा और अद्भुत उदाहरण है ? वास्तव में ही इस पृथ्वी पर अगर सन्त न हों तो न जाने कितना अधर्म, कितना अन्याय और कितना अत्याचार फैला रहे। लोगों के हृदयों में न प्रेम की भावना

दिखाई दे और न ही करुणा, दया, मैत्री तथा सद्भावना आदि मन के कोमल व आत्म-कल्याणकारी उत्तम गुणों की। सन्तों के अभाव में धार्मिक और सामाजिक संघर्ष सदैव बने रहें और लोगों के हृदयों में शान्ति का चिह्न भी कहीं दिखाई न दे। सन्त ही विभिन्न जाति के लोगों में, विभिन्न सम्प्रदायों में तथा अमीरों और गरीबों में सहिष्णुता की, स्नेह की अथवा मैत्री-भावना का प्रसार करते हैं। वे कहते भी हैं—

जाति पांति पूछे नहीं कोई।
हरि को भजै सो हरि का होई॥

वस्तुतः सन्त साधक होते हैं और उनका उद्देश्य संसार को मैत्री का पाठ पढ़ाना, वर्गभेद की विषमताओं को मिटाना तथा जन-मानस में सद्गुणों को पनपाकर उन्हें आत्म-मुक्ति के पथ पर अग्रसर करना होता है। उनकी शिक्षा देने का और समझाने का ढंग भी निराला ही होता है। वे जैसा पात्र देखते हैं, उसी के अनुसार सुन्दर ढंग से मार्ग पर लाते हैं।

सुधार का सुन्दर तरीका

कहा जाता है कि दार्शनिक हिक्री बड़े सन्त पुरुष थे। वे एक बार किसी नगर में आए और कुछ दिन वहाँ रहने पर उनकी ख्याति चारों ओर फैल गई। अनेक व्यक्ति उनके पास अपनी विभिन्न समस्याओं को सुलझाने के लिये आने लगे।

एक दिन एक व्यक्ति अपनी पत्नी सहित उनके पास आया और बोला—"महाराज! मेरी पत्नी बहुत कंजूस है और आलसी भी। किसी प्रकार आप इसके इन दोनों दुर्गुणों को दूर कीजिए।"

संत हिक्री ने पुरुष की यह बात सुनी तो कुछ ही दूर खड़ी हुई उसकी पत्नी को अपने समीप बुलाया और अपने हाथ की मुट्ठी बाँधकर उससे पूछा—"बहन! अगर मेरे हाथ की यह मुट्ठी सदा ऐसी ही बँधी रहे तो हाथ का क्या होगा?"

हिक्री के ऐसे प्रश्न से वह स्त्री तनिक चकित हुई किन्तु कुछ विचार कर बोली—"गुरुदेव! मुट्ठी सदा बँधी रहेगी तो हाथ अकड़ जाएगा और किसी भी कार्य करने के योग्य नहीं रहेगा।"

हिक्री ने यह सुनकर कहा—"बहन! तुम बहुत ही बुद्धिमान हो, अब यह बताओ कि अगर मेरी हथेली सदा खुली रहे तो फिर हाथ का क्या होगा?"

स्त्री उनका यह प्रश्न सुनकर और भी चकराई पर अपने आपको सम्हाल कर बोली—"सदा हथेली खुली रहने पर भी हाथ अकड़ जाएगा।"

अब संत ने कहा—"तो तुम यह ध्यान रखना कि समयानुसार मुट्ठी बांधनी चाहिए और समयानुसार उसे खोलना भी चाहिए।"

इस वार्तालाप के पश्चात् वे दोनों पति-पत्नी संत हिक्री को प्रणाम करके वहाँ से रवाना हो गये। स्त्री रास्ते भर सन्त के प्रश्नों पर विचार करती रही और उनके

रहस्य को समझ कर उसने प्रमाद का त्याग करते हुए अपने पति के कार्यों में हाथ बटाना तथा समय-समय पर खुले हाथों से दान देना प्रारम्भ कर दिया।

इस उदाहरण को बताने का अभिप्राय यही है कि संत बिना किसी का मन दुखाये सुन्दर तरीकों से भी मनुष्यों को सीख दे देते हैं और वह सीख उनके मन पर अपनी छाप डाले बिना नहीं रहती। इसलिए प्रत्येक मुमुक्षु को पूर्ण आस्था एवं विश्वास के साथ उनके समक्ष जाना चाहिए तथा हृदय की निर्मलता के साथ उनसे यथाशक्य प्रतिबोध लेने का प्रयत्न करना चाहिए। संतों के समक्ष आने वाला व्यक्ति कितना भी अधम, पापी, नीच और आततायी क्यों न हो, अगर वह कुछ काल भी उनका समागम कर ले तो निश्चय ही एक दिन दुर्जन के स्थान पर सज्जन के रूप में बदल जाता है। इसका कारण यही है कि संत के हृदय में किसी प्रकार का स्वार्थ नहीं होता, राग-द्वेष की भावना नहीं होती अतः वह अतीव स्नेह एवं करुणा से ओत-प्रोत होने के कारण इतनी विशालता एवं प्रभावोत्पादकता को प्राप्त कर लेता है कि उसका कोई अनुमान नहीं लगा सकता।

संत की महिमा बताते हुए एक पद्य में कहा भी है—

अम्बरमनुरुल्लंध्यं वसुन्धरा सापि वामनैकपदा।
अब्धिरपि पोतलंध्यः सतां मनः केन तुल्यं स्यात् ?

अर्थात्—आकाश चरणरहित सूर्य के सारथी द्वारा लांघा जा सकता है, पृथ्वी वामन अवतार के एक पग में समा जाती है, और समुद्र जहाज से पार किया जा सकता है, किन्तु संतों के विशाल मन की तुलना किससे की जाय ?

वास्तव में ही संतों की महत्ता, उनके मानस की विशालता एवं ज्ञान की गूढ़ता का कोई पार नहीं पा सकता। अतएव अगर आत्मार्थी को अपने लक्ष्य की प्राप्ति करनी है तो उसे पूर्ण आस्था, भक्ति एवं जिज्ञासा लेकर उनके सम्मुख पहुँचना चाहिए तथा उन्हें साधारण व्यक्ति न समझकर यही मानना चाहिए कि उनके मस्तक में स्वयं जगदीश का निवास है तथा वाणी पर सरस्वती का। ऐसा भाव रखने वाले भव्य प्राणी ही संत-समागम का लाभ उठा सकते हैं तथा उनकी कृपा एवं स्नेह के सहारे से आत्मा को उन्नत बनाने में सफल हो सकते हैं। □

11

अपराध और आत्म-शुद्धि

मन भावनाओं का भण्डार है। इसमें अनेकानेक शुभ और अशुभ भावनाएँ प्रत्येक समय विद्यमान रहती हैं तथा इन शुभाशुभ भावनाओं के कारण प्रतिपल अनन्तानन्त कर्म-परमाणुओं का बंध होता रहता है। भावना अशुभ हुई तो अशुभ परमाणुओं का और यदि शुभ हुई तो शुभ परमाणुओं का बंध होता है।

मनोगत भावनाओं के कारण ही मन को महान शक्तिशाली और वेगवान माना जाता है। किसी गुजराती कवि का कथन है—

अजब छे वेग आ मन नो,
गजब छे शक्ति पण भारी।
घणा ज्ञानी अने ध्यानी,
गया मन शत्रु थी हारी।

बड़े-बड़े त्यागी, तपस्वी और योगी भी मन की शक्ति से लोहा लेने में असमर्थ साबित हुए हैं। घोर तपस्वी विश्वामित्र, जिन्होंने वर्षों तक अखण्ड तप करके अपने मन को काबू में कर लेने का दावा किया था, अप्सरा मेनका के मनोहारी नृत्य और हाव-भाव को देखकर अपने आपको खो दिया। परिणामस्वरूप शकुन्तला का जन्म हुआ। कहने का अभिप्राय यही है कि क्षण-क्षण में परिवर्तित होने वाला मनोगत भावनाओं का वेग कभी-कभी बड़े दुष्परिणाम का कारण बनता है। कहते भी हैं—

ज्ञानी हू को ज्ञान जाय, ध्यानी हू को ध्यान जाय,
मानी हू को मान जाय, सूरा जाय जंग ते।
जोगी की कमाई जाय, सिद्ध की सिधाई जाय,
बड़े की बड़ाई जाय, रूप जाय अंग ते॥

अशुभ भावनाओं के द्वारा पुष्ट होने वाला पिशाच ज्ञानी के ज्ञान को, ध्यानी के ध्यान को तथा सम्मानित पुरुष के सम्मान को नष्ट-भ्रष्ट कर डालता है। योद्धाओं को युद्ध से विरत कर देता है, योगी की जीवन भर की कमाई पर पानी फेर देता है, सिद्ध पुरुष की सिद्धता को समाप्त करता है और बड़ों के बड़प्पन को धूल में मिलाता हुआ शारीरिक सौन्दर्य के नाश का कारण बनता है।

इस प्रकार मन जहाँ अपने उच्च विचारों के कारण जीवन का रास्ता बनाता है वहीं अपने अशुभ विचारों के कारण मृत्यु का रास्ता भी तैयार कर लेता है। कहा भी है—

मनोयोगो बलीयांश्च, भाषितो भगवन्मते।
यः सप्तमी क्षणार्धेन, नयेद्वा मोक्षमेव च ॥

—वीतराग सर्वज्ञ प्रभु के मत में मनोयोग को इतना बलशाली बतलाया गया है कि वह क्षण में सातवें नरक में अथवा आधे क्षण में ही मोक्ष में पहुँचा देता है।

इस कथन से स्पष्ट हो जाता है कि मन कितना भी बलशाली क्यों न हो, इसका निग्रह करना असम्भव नहीं है। अगर असम्भव होता तो शास्त्रों में निग्रह करने के उपायों का वर्णन ही न किया जाता। हमारे तीर्थंकरों तथा अनेक अवतारी पुरुषों ने अपने मन का निग्रह किया है और शास्त्रोक्त उपायों का अवलम्बन करने से आज भी उसका निग्रह हो सकता है। किन्तु उसके लिए सच्ची साधना की आवश्यकता है। मन का स्वभाव है प्रतिपल किसी न किसी प्रकार का चिन्तन करना। क्षणमात्र के लिए भी वह खाली नहीं रह सकता। ऐसी स्थिति में यदि उसे विचार करने से रोकने की चेष्टा की गई तो वह चेष्टा व्यर्थ हो जायगी। अतएव उसे स्वाध्याय आदि प्रशस्त क्रियाओं में लगाए रखना चाहिए। ऐसा करने से उसे किसी अन्य दिशा में जाने का अव[illegible] नहीं मिलेगा।

अपराध सृजन

अपनी आत्मा के अभ्युदय की दृढ़ आकांक्षा रखने वाले महापुरुष निश्चय ही मन को संयत बनाने में समर्थ होते हैं। भोगों के प्रलोभन उन्हें आकर्षित नहीं कर सकते, लालसाएँ उन्हें प्रवाहित नहीं कर पातीं तथा भीषण विपत्तियाँ और संकट उन्हें व्याकुल नहीं कर सकते। संयमित व्यक्ति के लौह-सदृश हृदय पर लोभ के आक्रमण प्रहार नहीं कर पाते तथा क्रोध की अग्नि उसके शान्ति सागर में आकर समाप्त हो जाती है। ऐसा पुरुष शारीरिक, मानसिक, नैतिक तथा आध्यात्मिक सिद्धान्तों का समन्वय करके ईश्वरीय नियमों के अनुसार जीवन व्यतीत करता है। कैसी भी आधि, व्याधि, विपत्ति या मन को विचलित करने वाले अन्य उद्वेग उसे उत्तेजित या चलायमान क्यों न करें, वह अडोल और अविचलित भाव से अपनी जीवन-यात्रा पर बढ़ता चला जाता है। ऐसे महापुरुषों के लिए ही कहा जाता है—

उदेति सविता ताम्रस्ताम्र एवास्तमेति च।
सम्पत्तौ च विपत्तौ च महतामेकरूपता ॥

—उदय होते समय सूर्य लाल होता है और अस्त होते समय भी; इसी प्रकार सम्पत्ति के समय तथा विपत्ति के समय भी महान् पुरुषों में एकरूपता देखी जाती है।

किन्तु इसके विपरीत जो व्यक्ति मन की निर्बलता पर विजय प्राप्त नहीं कर

पाता, वह कुप्रवृत्तियों का शिकार बन जाता है। उसके अन्दर आसुरी भावना और दुष्ट प्रकृति जाग्रत हो उठती है। भावोद्वेग में बह जाने के कारण मन की बागडोर पर उसका नियन्त्रण नहीं रहता और अपने विचारों तथा भावनाओं पर अधिकार न रख पाने के कारण वह अपना हित-अहित, इष्ट-अनिष्ट कुछ नहीं सोच सकता।

असंयत मन वाला व्यक्ति भावोद्वेग में बहकर बुद्धि का नाश कर बैठता है तथा अपनी विकारयुक्त वृत्ति के कारण किसी भी अवस्था में सुखी नहीं रह पाता। यदि उसे धन, वैभव, श्री और सम्पत्ति प्राप्त भी हो जाए तो प्रथम तो उसमें मद और मान का अविर्भाव हो जाता है, दूसरे अपने धन का दुरुपयोग करके वह अनेक प्रकार के पापों का भागी बन जाता है। कहा भी है—

Money is a bottomless sea, in which honour, conscience and truth may be drowned. —कोजले

—धन अथाह समुद्र है जिसमें इज्जत, अन्तःकरण और सत्य डूब सकते हैं।

धन के लिए पागल बना हुआ अविवेकी पुरुष अपने प्रिय से प्रिय सम्बन्धी को भी हानि पहुँचाने में संकोच नहीं करता। इसीलिए वे कहते हैं—

मातरं पितरं पुत्रं, भ्रातरं वा सुहृत्तमम्।
लोभाविष्टो नरो हन्ति, स्वामिनं वा सहोदरम्॥

—लोभी मनुष्य माता, पिता, पुत्र, भाई, स्वामी और मित्र आदि भी मार डालता है।

इसमें आश्चर्य की कोई बात नहीं है, क्योंकि मन पर संयम और विवेक का अंकुश न रखने वाले धन के लोभी व्यक्ति को कर्तव्य और अकर्तव्य का भान नहीं रहता। न उसे लोक-लज्जा की परवाह रहती है और न ही अपने कल्याण-अकल्याण का विचार रहता है। वह भूल जाता है कि मेरा यथार्थ स्वभाव क्या है? मैं नाशवान हूँ या अविनाशी? अपने सच्चिदानन्दमय स्वरूप और धन वैभव की जड़ता में वह अन्तर नहीं कर पाता तथा समझ नहीं पाता कि चैतन्य के साथ जड़ पदार्थों का क्या सरोकार है? और तो और उसका अपना शरीर भी उसका नहीं है जिसकी रक्षा के लिए वह नाना प्रकार के पाप करता है।

कहते हैं कि एक बार यूनान के बादशाह बीमार पड़ गये। अनेकों प्रकार के इलाज करवाए गये किन्तु किसी से भी लाभ नहीं हुआ। अन्त में हकीमों ने कहा कि अमुक लक्षणों वाले व्यक्ति का कलेजा मिले तो कुछ उम्मीद हो सकती है।

चारों तरफ राज्य कर्मचारी दौड़ाए गये। आखिर वे एक लड़के को ले ही आए। लड़के के गरीब माँ-बाप ने बहुत सारे धन के लोभ में आकर अपने जिगर के टुकड़े को वध के लिए दे दिया था।

नगर के काजी ने भी फतवा दे दिया कि 'बादशाह की जान बचाने के लिए किसी की जान लेना गुनाह नहीं है।'

लड़का बादशाह के सामने लाया गया। हकीम लोग अपनी तैयारी करके बैठ गये और जल्लाद ने भी अपनी तलवार उठायी। ठीक उसी समय निर्दोष बालक आसमान की ओर देखकर हँस पड़ा। बादशाह यह देखकर चकित हुआ और इशारे से जल्लाद को रोककर लड़के से पूछ बैठा—"लड़के तू हँसा क्यों ?"

लड़का गम्भीरता से बोला—"माता-पिता जो कि सन्तान की रक्षा के लिए प्राण देते हैं, उन्हीं ने मारे जाने के लिए बेच दिया; काजी जो न्यायमूर्ति कहलाता है उसने एक बेकसूर की हत्या के लिए आज्ञा दे दी। प्रजा का रक्षक बादशाह एक बेकसूर बालक की हत्या करवा रहा है। नितान्त असहाय अवस्था को पहुँचा मैं दीन-दुनिया के मालिक की ओर देखकर हँसा कि 'प्रभो ! संसार की लीला तो देख ली, अब तेरी लीला देखनी है। देखें तू जल्लाद की उठी तलवार का क्या करता है' ?"

बादशाह यह सुनकर अपने कुकृत्य के लिए पश्चात्ताप करता हुआ बोला—"मुझे माफ कर बेटा ! यह तलवार अब पुनः नहीं उठेगी।"

पश्चात्ताप

मनुष्य के द्वारा पापों का किया जाना उतना बुरा नहीं है जितना बुरा है उनके लिए पश्चात्ताप न करना। पाश्चात्य विद्वान लाँगफैलो ने कहा है—

Man-like it is to fall into sin;
Fiendlike it is to dwell therein;
Christlike it is, for sin to grieve,
Godlike it is, all s in to leave.

—पाप में पड़ना मानव स्वभाव है, उसमें डूबे रहना शैतान-स्वभाव है, उस पर दुखित होना संत-स्वभाव है और सब पापों से मुक्त होना ईश्वर स्वभाव है।

कुछ लोगों का ख्याल है कि जो पाप किया जा चुका है उसके लिए पश्चात्ताप करने से कोई लाभ नहीं, यही नहीं बल्कि उनके विचारानुसार पश्चात्ताप करना अपनी आत्मा को गिराना है। किन्तु ऐसा सोचने और समझने वालों की दृष्टि ही दूषित है। इस प्रकार के विचार वही व्यक्ति रख सकते हैं जिनके सामने कोई ऊँचा लक्ष्य नहीं है और जिन्हें आत्मशुद्धि की महत्ता का ज्ञान नहीं है।

पापियों में भी आत्मा का प्रकाश रहता है जो पश्चात्ताप करते ही प्रकाशित हो उठता है। कहा भी है—

The recognition of sin is the beginning of salvation. —लूथर

—पाप की स्वीकृति मुक्ति का श्रीगणेश है।

इस कथन से स्पष्ट हो जाता है कि पाप को स्वीकार करना तथा उसके लिए प्रायश्चित्त करना आत्मा को बंधन-मुक्त करने का प्रथम प्रयास है। पश्चात्ताप हृदय में प्रज्ज्वलित की हुई वह अग्नि है, जिसमें भूतकाल के पाप भस्म हो जाते हैं और जिसके कारण मन की भूमि भविष्य में पापों का प्रसव करने से रुक जाती है।

यह ठीक है कि निरर्थक उदासीनता या पश्चात्ताप करके भविष्य को गँवाना उचित नहीं है, किन्तु जो अनुभव प्राप्त हुए हैं उनसे लाभ उठाते हुए शेष जीवन को उपयोगी और निर्दोष बनाना चाहिए। भूतकाल में गँवाया हुआ समय तो लौट नहीं सकता किन्तु भविष्य को बनाना तो मनुष्य के हाथ की बात है। अगर हमारी आत्म-चेतना तनिक भी जाग्रत हो जाती है तो उसके पश्चात् हमें अपने जीवन का प्रत्येक क्षण प्रमादरहित और सावधानीपूर्वक बिताने का प्रयत्न करना चाहिए। हमें कभी नहीं भूलना चाहिए कि—

जिन्दगी इक तीर है जाने न पाये रायगां।
देख लो पहले निशाना बाद में खींचो कमां॥

उर्दू-कवि के कथनानुसार मनुष्य के लिए उचित है कि वह अपने जीवन के उद्देश्य और रहस्य को वीतरागों की वाणी के प्रकाश में भली-भाँति समझे और फिर कल्याण के राजपथ पर अपनी जीवन यात्रा प्रारम्भ करे। अन्यथा जैसे लक्ष्य स्थिर किये बिना छोड़ा हुआ तीर व्यर्थ जाता है, उसी प्रकार जीवन के लक्ष्य को बिना जाने जीवन भी व्यर्थ हो जाता है।

जो व्यक्ति जीवन का लक्ष्य निर्धारित कर लेता है उसके कदम स्वयं ही सन्मार्ग पर बढ़ने लगते हैं। अपने दुष्कृत्यों पर सच्चे हृदय से पश्चात्ताप करने वाला व्यक्ति जो हानि हो चुकी है उसकी पूर्ति के साधन जुटाते हुए अपने शेष समय का अधिक से अधिक लाभ उठा लेता है। महात्मा गांधी का कथन है—

"गलतियाँ करके, उनको मंजूर करके और उन्हें सुधार करके ही मैं आगे बढ़ सकता हूँ। पता नहीं क्यों? किसी के बरजने से या किसी की चेतावनी से मैं उन्नति कर ही नहीं सकता। ठोकर लगे और दर्द उठे तभी मैं सीख पाता हूँ।"

—गांधीजी

एक कवि ने भी यही भावनाएँ बड़े सुन्दर ढंग से व्यक्त की हैं—

यह रक्त चूसती धरा, शीश पर लदा व्योम,
तू क्यों जीवन को व्यर्थ समझ कर रोता है।
हर नई पीर, हर नई टीस, हर नई कसक,
हर ठोकर का भी तो कुछ मतलब होता है॥

प्रत्येक पाप, अपराध और गलती मानव को शिक्षा देती है कि वह अपने भविष्य को सुधारे। भूत बदला नहीं जा सकता किन्तु भविष्य बनाया जा सकता है। गलती वह शक्ति है जो मनुष्य को ठोकर दिलाकर सही दिशा का ज्ञान कराती है। एक प्राचीन विद्वान ने कहा है—

"हमारा गौरव कभी न गिरने में नहीं है बल्कि प्रत्येक बार उठने में है जब कभी हम गिरें।"

—कन्फ्यूसियस

एक कहावत भी है—

Error, though blind herself, sometimes bringeth forth children that can see.

—गलती स्वयं अंधी है तथापि वह ऐसी संतान उत्पन्न करती है जो देख सकती है।

इस सुन्दर और सच्चाई पूर्ण कहावत से स्पष्ट हो जाता है कि की हुई गलतियों और भूलों के द्वारा ही मनुष्य को दिशा-निर्देश होता है तथा पश्चात्ताप के प्रकाश में वह अपने इच्छित मार्ग पर सरल और सहज बनकर चल सकता है। बुद्धिमान वही है, जो अपनी भूल को भूल न मानकर उसे शिक्षा का सबक समझे। भूल किसी भी मनुष्य से हो सकती है किन्तु उसे पुनः-पुनः दुहराने वाला मूर्ख के अतिरिक्त और कोई नहीं हो सकता। जो व्यक्ति अनेक बार गलती करता है, किन्तु कभी हार मानकर नहीं बैठता और हर बार अपेक्षाकृत अधिक सावधान होकर अपनी भूल को सुधारने का प्रयत्न करता है; वह निश्चित ही उस व्यक्ति से कहीं अधिक श्रेष्ठ होता है, जो केवल एक बार गलती करके हार मान लेता है अथवा हारने के भय से पुनः कार्य प्रारम्भ ही नहीं करता। भूल का सच्चा पश्चात्ताप तभी माना जा सकता है, जिसके करने के साथ ही साथ मनुष्य अपने मन को सच्चाई की ओर मोड़ दे। महाकवि टैगोर का कथन है—

'The stream of truth flows through channels of mistakes.'

—सत्य का स्रोत भूलों के बीच से होकर बहता है।

जीवन को निष्कलुष और निर्मल बनाने के लिए विगत भूलों पर पश्चात्ताप करना आवश्यक हैं, किन्तु पश्चात्ताप यदि कोरा पश्चात्ताप ही रहे तो उससे कुछ भी लाभ नहीं होता। पश्चात्ताप होने पर उस भूल को सुधारने का मन में ध्रुव संकल्प भी होना चाहिए और जो भूलें पहले हो चुकी हैं, उन्हें फिर से न दोहराने का प्रयत्न करना चाहिए।

आलोचना

भविष्य में पुनः भूल न हो ऐसी सावधानी रखने का सबसे उत्तम उपाय आलोचना करना है। आलोचना का अर्थ है—अपने दोषों की मीमांसा करना। सरल और शुद्ध भाव से प्रातः सायं अपने दोषों का विचार करने वाला भविष्य के दोषों से बच सकता है। यही कारण है कि भगवान महावीर ने आलोचना को आत्मसुधार के लिए अत्यन्त कल्याणकारी बतलाया है—

कयपावो वि मणूसो, आलोइय निन्दियं गुरुसगासे।
होइ अइरेग लहुओ, ओहरिय भरोव्व भारवाहो॥

—जिस प्रकार भारवाही भार उतार कर अत्यन्त हलकापन महसूस करता है, इसी प्रकार पापी मनुष्य भी गुरु के समक्ष अपने दुष्कर्मों की आलोचना निन्दा करके पाप के भार से हलका हो जाता है।

एक पश्चिमी विद्वान ने भी कहा है—

"Confess thy guilts and sins, thus shalt thou get light."

—अपने दोषों को प्रकट करो, इससे तुम्हें प्रकाश की प्राप्ति होगी।

प्रायः व्यक्ति विविध प्रकार से अपने अपराधों को छिपाने का प्रयत्न करते हैं। धूर्त, धनी और अधिकारसम्पन्न पुरुष अपने दुराचारों पर धन का परदा डालकर समझते हैं कि हमने संसार को मूर्ख बना दिया। ऐसे व्यक्ति यह नहीं समझ पाते कि लोगों की आँखों में धूल झोंककर हमने जितना उन्हें ठगा है उसकी अपेक्षा अनेक गुना अधिक अपनी आत्मा को ठगा है, उसे कलंकित किया है। एक कहावत है—

खाइ के परि रहु, मारि के टरि रहु।

—अर्थात् भोजन पचाने के लिए लेट जाना और कुकर्मों को पचाने के लिए घटनास्थल से हट जाना चाहिए।

इसी वजह से नित्यप्रति असंख्य दुष्कृत्य ऐसे होते हैं जिनके करने वालों का पता नहीं चलता। परिणाम यह है कि गुप्त अपराधों की संख्या बढ़ती जाती है। इससे व्यक्ति और समाज दोनों की हानि होती है। व्यक्तिगत हानि तो यह होती है कि अपराधी की आत्मा पतित हो जाती है और उसके सिर पर पाप सवार हो जाता है। यद्यपि अपने दोष को छिपाकर वह लोक-निन्दा से बच जाता है, किन्तु आत्मा को धोखा न दे पाने के कारण घोर मानसिक यन्त्रणा का अनभुव करता रहता है। कहा भी है—

किं मरणं ? मूर्खत्वं, किंचानर्घ्यं ? यदवसरे दत्तम्
आमरणात् किं शल्यं ? प्रच्छन्नं यत्कृतमकार्यम् ॥

—मृत्यु क्या है ? मूर्खता। अमूल्य क्या है ? जो समय पर दिया जाए। जीवन-पर्यंत हृदय में काँटे की तरह क्या चुभता है ? छिपकर किया गया अपराध।

अपराधी का मनस्ताप उसे लम्बे समय तक दग्ध करता रहता है। प्रत्येक पाप चाहे वह छोटा हो या बड़ा, मनुष्य की आत्मा पर अपना काला धब्बा अवश्य छोड़ता है तथा मानसिक रोग बनकर पीड़ित करता रहता है। गुप्त अपराधों के कारण समाज का समस्त वातावरण भीतर ही भीतर दूषित हो जाता है। जिस प्रकार एक मछली सारे तालाब को गन्दा कर देती है, उसी प्रकार एक दुष्ट व्यक्ति सम्पूर्ण समाज को। गुप्त पापों का कुप्रभाव क्षयरोग के कीटाणु के समान समाज में भ्रष्टाचार फैलाता रहता है। एकान्त में किया गया छोटे से छोटा पाप भी शनैः-शनैः लोक में फलने-फूलने लगता है। और उसका दण्ड अन्य सामाजिक प्राणी भोगते हैं। अनाचार

या दुर्विचार को छिपाने वाले न तो अपने आप का भला करते हैं और न समाज का। वास्तव में वे दोनों का अहित करते हैं।

अब प्रश्न यह उठता है कि मानव भोगेच्छा, भय या लोभ आदि विभिन्न कारणों से अपराधों का सृजन तो कर बैठता है, किन्तु उनसे मुक्त होने का क्या उपाय है ? हमारे शास्त्रकारों ने इसका एक सरल उपाय बताया है। वह यह है कि अपने पाप को प्रकट कर देना चाहिए। अगर व्यक्ति अपने पापों पर पश्चात्ताप करते हुए उन्हें प्रकट कर दे, तो वह पाप से मुक्त हो सकता है। पापों को प्रकट कर देना ही आलोचना कहलाता है। आलोचना का बहुत बड़ा महत्त्व है। यह जीवन को उच्च और पवित्र बनाने की एक सर्वोत्तम कला है। शास्त्र में इसे दैनिक कर्तव्य का रूप दिया गया है। उत्तराध्ययन सूत्र में बताया है कि गौतम गणधर ने भगवान महावीर से पूछा—

'आलोयणाए णं भंते ! जीवे किं जणयई ?'

—हे भगवन् ! आलोचना करने से जीव को क्या लाभ होता है ?

भगवान् ने उत्तर दिया—

'आलोयणाए णं माया-नियाण-मिच्छादंसणसल्लाणं मोक्खमग्गविग्घाणं, अणंत-संसारबंधणाणं उद्धरणं करेई, उज्जुभावं जणयइ, उज्जुभावपडिवन्ने य णं जीवे अमाई, इत्थीवेयनपुंसकवेयं च न बंधइ। पुव्वबद्धं च णं निज्जरेइ।'

अर्थात् गुरु के समक्ष आलोचना करने से मोक्षमार्ग में विघ्न डालने वाले और अनन्त संसार की वृद्धि करने वाले, माया, मिथ्यात्व तथा निदान रूप तीनों शल्यों को जीव हृदय से बाहर निकाल देता है। उसके तीनों शल्य नष्ट हो जाते हैं। इस कारण जीव का हृदय सरल बन जाता है। जब सरल बन जाता है तो निष्कपट भी हो जाता है और स्त्रीवेद तथा नपुंसकवेद का बन्ध नहीं करता। अगर स्त्रीवेद तथा नपुंसकवेद का पहले बंध हो चुका हो तो उसकी निर्जरा हो जाती है।

तात्पर्य यही है कि आत्मा को कर्म-बन्धनों से मुक्त करने की इच्छा रखने वाले साधक पुरुष को प्रथम तो इस बात की पूर्ण सावधानी रखनी चाहिए कि उससे कोई दुष्कर्म होने ही न पाए। फिर भी यह सम्भव नहीं कि मन की सहज दुर्बलता के कारण कभी कोई दोष न हो। मन की अस्थिरता के कारण व्यक्ति न चाहता हुआ भी कभी मन से, कभी तन से और कभी वचन से भी गिर जाता है। ऐसी स्थिति में उसका कर्तव्य है कि वह सर्वथा निष्कपट भाव से अपने दोषों को अपने गुरु के समक्ष प्रकट कर दे। लोक-निन्दा अथवा अन्य किसी भी भय के कारण उन्हें छिपाने का प्रयत्न न करे। जो व्यक्ति अपनी निन्दा सह लेता है वह मानों सम्पूर्ण जगत पर विजय प्राप्त कर लेता हैं। अकर्तव्यों की निन्दा किये जाने पर ही मनुष्य कर्तव्य को समझ सकता है। इसीलिये कबीर ने कहा है :—

निन्दक नियरे राखिये, आँगन कुटी छवाय।
बिन पानी साबुन बिना, निर्मल करे सुभाय॥

संसार में अगर निन्दक न हों तो चंद महापुरुषों के अलावा कोई भी मनुष्य अपने को दोषी न ठहराए, चाहे उसकी कितनी भी बड़ी भूल क्यों न हो। लोक-निन्दा और लोकापवाद का भय भी मनुष्य को कुमार्गगामी होने से रोकता है।

यों तो प्रत्येक जीव को सावधान करने के लिये प्रकृति ने उसके अन्दर आत्म-ध्वनि का सृजन किया है। जब कोई मनुष्य किसी प्रकार की वासना के वश में होकर अनीति और अधर्म के मार्ग पर चलने का विचार करता है, तो उस समय उसके अन्तःकरण से उस कार्य का निषेध करने की आत्मिक ध्वनि निकलती है, किन्तु वासना की प्रबलता मनुष्य को अपने इच्छित मार्ग पर चलने का निमन्त्रण देती है। वासना की पुकार के सामने मानव आत्मा की आवाज को सुनकर भी अनसुनी कर देता है। अथवा अपने आप को इस प्रकार समझाकर कि बस इस बार अन्तिम रूप से यह कार्य करता हूँ, वह अनीति के गर्त में गिर पड़ता है।

फिर क्या है? एक बार सवार हुआ वासना का भूत अन्तर्मन से उठने वाले नाद को 'बस एक बार और, फिर कभी नहीं' का आश्वासन देकर मनुष्य को पुनः-पुनः अपराध करने में प्रवृत्त करता है। इन्द्रियाँ बड़ी बलवान हैं और मन उनसे भी ज्यादा बलवान है। आत्मा चिरकाल से वासना के प्रवाह में बह रहा है। अतएव बहुत सावधानी रखने पर भी मानव का पैर फिसल ही जाता है और वह अकार्य कर बैठता है।

किन्तु ऐसे व्यक्ति को भी निराश होने का कोई कारण नहीं है। अगर उसमें इतना साहस है कि वह अज्ञानजनित एवं वासनाप्रसूत दोषों को अपने गुरु के सम्मुख सरल भाव से प्रकट कर सके तो उसके सुधार की पूरी आशा है। भगवान महावीर का उपदेश है :—

जह बालो जंपंतो, कज्जमकज्जं च उज्जुयं भणइ।
तं तह आलोएज्जा, मायामय विप्पुक्को य॥

—मरणसमाधि प्र. गा. १०

—जैसे बालक बोलता हुआ सरल भाव से कार्य-अकार्य सभी कुछ कह देता है—किसी बात को छिपाता नहीं, उसी प्रकार आत्मार्थी पुरुष को भी कपट एवं अभिमान का त्याग करके सरल-भाव से अपने दोषों की आलोचना करनी चाहिए।

भगवान महावीर के इस उपदेश का नियमित रूप से पालन करने वाले साधक का जीवन निरन्तर उच्च और निर्दोष बनता जाएगा। आलोचना जीवन-शुद्धि का राजमार्ग है और यह मार्ग मुक्ति के आकांक्षी को अपने अभीष्ट लक्ष्य पर पहुँचा देगा।

बंधुओ ! अगर आपके अन्तःकरण में भी अपनी आत्मा को पवित्र, विशुद्ध, निशल्य और निर्दोष बनाने की सच्ची आकांक्षा है तो आपको आलोचना का आश्रय लेना चाहिए। आत्मा में उत्पन्न हुई अशुचि को दबाने की चेष्टा करने से वह अनेक गुनी होकर फैल जाती है और तब उसे नष्ट करने की समस्त चेष्टाएँ निरर्थक सिद्ध होती हैं। इसलिये प्रमाद अथवा अज्ञानवश जो भी भूल हो जाय उसको तत्काल ही आलोचना के रूप में बाहर निकालना उचित है। आलोचना की विधि बतलाते हुए कहा गया है :—

जं पुव्वं तं पुव्वं, जहाणुपुव्वि जहक्कमं सव्वं।
आलोइज्ज सुविहिओ, कमकालविधिं अभिन्दतो ॥

अर्थात्—श्रेष्ठ आचार वाले पुरुष को क्रम और काल का उल्लंघन न करते हुए, दोषों की क्रमशः आलोचना करनी चाहिए। जो दोष पहले लगा हो उसकी आलोचना पहले और बाद में लगे दोष की बाद में करनी चाहिए।

क्रमानुसार दोषों की आलोचना करने का विधान इसलिये है कि कोई भी दोष बिना आलोचना किये न रह जाय। क्योंकि छोटी-सी आग की चिनगारी जिस प्रकार कभी-कभी बड़े-बड़े नगरों को भस्म कर देती है, इसी प्रकार आत्मा में गुप्त रहा हुआ छोटे से छोटा दोष भी कालान्तर में आत्मा के पतन का कारण बन सकता है। दोषों की क्रमशः आलोचना करने वाली पद्धति के कारण कोई भी दोष अप्रकट नहीं रह पाता और पश्चात्ताप की अग्नि में तपकर आत्मा कुन्दन की भाँति दमकने लगती है। यही कारण है कि सभी धर्मों में आलोचना को बड़ा महत्त्वपूर्ण माना गया है। महाराज मनु ने कहा है :—

यथा यथा निरोऽधर्मं, स्वयं कृत्वाऽनुभाषते।
तथा तथा त्वचेवाहिस्तेनाधर्मेण मुच्यते ॥

—जैसे-जैसे मनुष्य अपना किया अधर्म लोगों में ज्यों का त्यों प्रकट करता है, वैसे-वैसे वह अधर्म से उसी प्रकार मुक्त होता है जैसे केंचुली से साँप।

ईसाइयों के युगान्तरकारी गुरु का मत है :—

"मनुष्य अपने को दोषी न माने यही महापाप है। अपने दोष को स्वीकार करके उसके लिये पश्चात्ताप करना पुण्यप्रद है, इसी से आत्मशुद्धि हो सकती है।"

—लूथर

महात्मा गांधी ने भी अपनी आत्मकथा में एक स्थान पर लिखा है—

"जो मनुष्य अधिकारी व्यक्ति के सामने स्वेच्छापूर्वक अपने दोष शुद्ध हृदय से कह देता है और फिर कभी न करने की प्रतिज्ञा करता है वह मानो शुद्धतम प्रायश्चित्त करता है।"

—गांधीजी

कुछ व्यक्ति प्रश्न करते हैं कि जिस प्रकार दुष्कृत्य की आलोचना करना

आवश्यक है उसी प्रकार अपने सुकृत्य की आलोचना करना आवश्यक क्यों नहीं है ? शास्त्रों में दोषों की ही आलोचना करने का विधान क्यों है ?

इस प्रश्न का यही उत्तर है कि आलोचना आत्म-शुद्धि का एक साधन है। शुद्धि का अर्थ है—अशुद्धि को दूर करना। अशुद्धि दोषों से होती है सुकृत्यों से नहीं। सुकृत्य करना तो शास्त्र और गुरु की आज्ञा है, अतः साधक को निर्दोष कृत्य करना ही चाहिए। किन्तु जब आज्ञा का भंग हो, अर्थात् कुकृत्य हो जायँ तभी गुरु से कहने की आवश्यकता होती है। इसी अभिप्राय से दोषों की आलोचना करने का विधान है।

हनुमान के सम्बन्ध में एक लोककथा है कि लंका-विजय के बाद वे अपनी माता अंजना से मिलने गये। चिरकाल के बाद आए हुए पुत्र से माँ ने कुशल समाचार पूछा।

हनुमान ने अपने शौर्य-पराक्रम का बारम्बार वर्णन करते हुए कहा—"माँ ! मैंने राम के लिये दुर्गम समुद्र को पार किया, अकेले रावण की लंका को तहस-नहस कर दिया, रावण, कुम्भकर्ण, मेघनाद जैसे शूरवीरों से घोर संग्राम किया, मेरी सहायता से ही राक्षसों का नाश हुआ है अतः राम स्वयं मेरे बल-विक्रम की सराहना करते हैं।"

अंजना ने रुष्ट होकर कहा—"तुम बार-बार कहते हो कि मैंने यह किया, वह किया, परन्तु यह नहीं देखते कि तुमने क्या नहीं किया ? इसका प्रमाण यही है कि तुम्हारे रहते हुए भी राम को सेतु बाँधकर लंका में जाना पड़ा तथा घोर कष्ट सहकर राक्षसों से लड़ना पड़ा। क्या तुममें इतनी शक्ति नहीं थी कि तुम अकेले ही जाकर अन्यायी रावण को मार डालते तथा सीता को ले आते ? जब तुम ऐसा नहीं कर सके तो व्यर्थ अपने बल पौरुष की बड़ाई क्यों करते हो ? तुम्हारे पुरुषार्थ को धिक्कार है कि तुम अपने स्वामी के सम्मान की रक्षा पूर्णरूप से नहीं कर सके। अब अपनी प्रशंसा मत करो।"

हनुमान परम बुद्धिमान थे। उन्होंने माता के अभिप्राय को समझ लिया कि कृती को न तो अपने मन में कर्तव्य का अभिमान रखना चाहिए और न ही स्वमुख से अपने शुभ कृत्यों का उल्लेख करना चाहिए। अपना गुणगान करने से अहंकार का पोषण होता है और अहंकार भविष्य में अनेकानेक कुकृत्यों का कारण बनता है। कहा भी है—

Pride is as the bottom of all great mistakes.

—रस्किन

—अहंकार समस्त महान गलतियों की तह में होता है।

इसलिये मुमुक्षु साधक को अपने सुकर्मों का मन में स्मरण भी न रखते हुए किये गए दुष्कर्मों की ही आलोचना सरल भाव से गुरु के समक्ष करनी चाहिये। सरल भाव से दोषों को प्रकट कर देने का अर्थ है—जो दोष जिस रूप में सेवन किया

गया है उसको उसी रूप में प्रकट करना, न्यूनाधिक रूप में नहीं। क्योंकि उत्कृष्टता प्रकट करने के लिये अगर कोई व्यक्ति अपने दोषों को अधिक रूप में प्रकट करता है तो वह उसी प्रकार मायाचार है जैसे कि किसी गुरुतर दोष को हल्के रूप में प्रकट करना या प्रकट ही न करना।

आत्म-शुद्धि

आत्मा अपने निज स्वभाव से चिदानन्दमय है। वह अनन्त और अखंड चेतना का पुंज है तथा अव्याबाध आनन्द उसका स्वरूप है। किन्तु संसारी जीव की स्थिति पर ध्यान देने से प्रतीत होता है आत्मा अपने स्वरूप से च्युत हो रहा है। उसकी ज्ञान शक्ति असीम के स्थान पर सीमित हो रही है। उसका वास्तविक सुख-गुण विकृत होकर सुखाभास बन गया है। वह अमृत के बदले मरणशील बना हुआ है तथा जन्म और जरा का पात्र बनकर नाना प्रकार के संकटों में ग्रस्त है।

सहज ही जिज्ञासा होती है कि आखिर ऐसे घोर परिवर्तन का कारण क्या है? सिद्धों के समान स्वभाव से समृद्ध होने पर भी प्राणी ऐसी निकृष्ट स्थिति को क्यों प्राप्त हो गया है? भगवान महावीर की वाणी में इसका कारण बताया गया है—

रागो य दोसोऽवि य कम्मबीयं।

—उत्तराध्ययन

—राग-द्वेष ही समस्त कर्मों के बीज हैं।

यही जोड़ी समस्त दुःखों और संकटों का कारण है तथा आत्मा को अशुद्ध बनाने वाली है! और सबसे बड़ी मक्कारी इनकी यह है कि आत्मा के सबसे बड़े वैरी होने पर भी ये आत्मा को यह तथ्य नहीं समझने देते कि वे वैरी हैं। राग और द्वेष आत्मा के विवेक पर पर्दा डाल देते हैं और मनुष्य की बुद्धि को भ्रष्ट कर देते हैं। अतएव जो भव्य पुरुष अपनी आत्मा को निष्कलुष और शुद्ध बनाना चाहते हैं तथा इसे सम्पूर्ण विकारों से और सब उपाधियों से मुक्त करना चाहते हैं, उन्हें इन दोनों को क्षीण करने का प्रयत्न करना चाहिये। आत्मशुद्धि का यही एकमात्र उपाय है। इस उपाय के बिना आत्मा का कल्याण न कभी हुआ है और न होगा ही। होगा यही कि राग और द्वेष को जीतने में असमर्थ रहकर मनुष्य अपनी यह दुर्लभ मानव पर्याय व्यर्थ खो बैठेगा। कवि वाजिन्द ने बड़े सरल शब्दों में कहा है:—

बार-बार नर देह कहो कित पाइये?
औ' प्रभु के गुण-गान कहो कब गाइये?
मत चूके औसान अबै तन माँ धरे। पण हाँ वाजिन्द
पानी पहली पाल अज्ञानी बाँध रे!

कवि ने सत्य कहा है कि अनन्त पुण्य कर्मों के फलस्वरूप यह मानव-रूपी सुअवसर मिल गया है तो इसे चूको मत, अन्यथा पुनः ऐसा स्वर्णावसर

मिलेगा ? राग और द्वेष की विद्यमानता में मनुष्य किसी को मित्र और किसी को अपना शत्रु समझता है। मित्र के प्रति राग होने से भी वह कर्म बन्धन करता है और शत्रु के प्रति द्वेष होने के कारण भी। अपने शत्रु का अहित-चिन्तन करता हुआ भोला जीव नाना प्रकार के अपराधों की सृष्टि कर बैठता है तथा पापकर्मों की शृंखला बढ़ाता चला जाता है।

किन्तु मन की गति सदा एकसी नहीं रहती। कभी न कभी ऐसे क्षण मनुष्य के जीवन में अवश्य आते हैं, जब वह अपने कृत पापों के लिये पश्चात्ताप करता है। और पश्चात्ताप जब सच्चे मन से किया जाता है तो आत्मा पापों से मुक्त होने के लिये छटपटाने लगती है। परिणाम यह होता है कि मानव निष्कपट भाव से अपने समस्त पापों की गुरु के समक्ष आलोचना करता है और पुनः पाप में प्रवृत्त न होने का संकल्प करता है। आत्म-शुद्धि का यही प्रथम चरण है।

मानव का सच्चा परामर्शक उसका अन्तर्मन है। इसके इंगित के बिना किसी भी क्षेत्र में चरण-विन्यास करना खतरे से खाली नहीं है। अगर अन्तर्मन सहयोग प्रदान करे तो असाध्य कार्य भी सुसाध्य हो जाते हैं, और न करे तो सुसाध्य कार्य भी दुःसाध्य बन जाते हैं। मन की स्वीकृति के बिना प्रारम्भ किया हुआ कार्य कभी पूर्णता को प्राप्त नहीं हो सकता। जिस प्रकार आधार स्तम्भ के टूट जाने से सम्पूर्ण भवन ढह जाता है, उसी प्रकार अन्तर्मन का सहारा न मिलने से प्रारम्भ किया जाने वाला महान से महान कार्य भी अल्पकाल में ही निष्क्रियता को प्राप्त हो जाता है।

पश्चात्ताप और आलोचना मन की वही स्वीकृति है, जिसकी सहायता से साधक आत्मशुद्धि का प्रयास करता है। कोरे शब्दज्ञान और भाषाओं के पाण्डित्य से आत्मा शुद्ध नहीं हो सकती। पुण्य और पाप की जननी मनुष्य की मनोवृत्ति है। प्रशस्त मनोवृत्ति कल्याणकारिणी और अप्रशस्त मनोवृत्ति अकल्याणकारिणी होती है। मनुष्य अपने अन्तःकरण के विचारों से ही देवता और अन्तःकरण के विचारों से ही दानव बनता है।

राजा जनक के यहाँ विद्वानों की सभा हो रही थी। अष्टावक्र भी उस सभा में सम्मिलित होने के लिये आए। अष्टावक्र के टेढ़े-मेढ़े शरीर की बेढंगी आकृति देखकर सभा में बैठे हुए व्यक्ति हँसने लगे। अष्टावक्र की विचक्षण बुद्धि ने क्षणभर में ही उनके हँसने का कारण समझ लिया। लोगों की हँसी का बुरा न मानकर वे स्वयं भी जोर से हँस पड़े।

चकित होकर लोगों ने पूछा—"महाराज आप हँस क्यों रहे हैं ?"

"तुम लोग क्यों हँस रहे हो ?" अष्टावक्र ने उत्तर देने की बजाय प्रश्न किया।

"हम तो आपकी इस अटपटी आकृति को देखकर हँस रहे हैं।"

"और मैं यह सोचकर हँस रहा हूँ कि बुलाया तो गया था विद्वानों की सभा में और आ पहुँचा चमारों की सभा में।"

सभा में उपस्थित विद्वान क्रुद्ध होकर बोले—"आप विद्वानों को चमार कहते हैं ?"

"जो हड्डी और चमड़े की भावना से ही मनुष्य को देखे वह चमार नहीं तो और क्या है ?" अष्टावक्र ने शांति से उत्तर दिया।

वस्तुतः सच्चा सौन्दर्य मन की पवित्रता और विशालता में होता है, जिसकी सहायता से मानव शुभ की ओर बढ़ता है। मन के सौन्दर्य के बिना शरीर, वस्त्र अथवा अन्य बाह्य पदार्थों के नश्वर सौन्दर्य का कोई मूल्य नहीं है। बाह्य सौन्दर्य अपनी क्षणिक चकाचौंध से आत्मा को गुमराह करता हुआ पानी के बुलबुलों के समान शीघ्र ही नष्ट हो जाता है। कहा भी है—

माणिक हीरा लाल खजाना मोतियाँ,
सज राणी सिंगार सोलहो जोतियाँ,
दिन दिन अधिक सुगंध लगाते देह में, पण हाँ वाजिन्द,
ऐसे भोगी भूप मिले सब खेह में।
इन्द्रपुरी सी मान बसंती नगरियाँ,
भरती जल पनिहारि कनक सिर गगरियाँ,
हीरा, लाल, झवेर जड़ी सुवरन मयी, पण हाँ वाजिन्द—
ऐसी पुरी उजाड़ भयंकर हो गई।

कहने का अभिप्राय यही है कि मानव को क्षणभंगुर बाह्य सौन्दर्य की किंचित्-मात्र भी परवाह न करते हुए आत्मिक सौन्दर्य को बढ़ाने का प्रयत्न करना चाहिये। जिस क्षण आत्मा में करुणा, दया, समता, सहानुभूति, संवेदना और निरासक्ति का अजस्र स्रोत उमड़ पड़ेगा, वह ईर्ष्या, द्वेष, काम, क्रोध, मोह, ममता, निर्दयता तथा लोभ-लालच रूप गंदगी को बहाकर बाहर निकाल देगा तथा आत्मा अपने शुद्ध स्वरूप को प्राप्त कर लेगी। शर्त केवल यही है कि मनुष्य किसी भी स्थिति में निराश न हो। निराशा वह राक्षसी है जो उत्थान के समस्त मार्ग अवरुद्ध कर देती है तथा आत्मा की अनन्त शक्ति का भान नहीं होने देती। इसी के द्वारा निष्क्रियता का जन्म होता है तथा निष्क्रियता असफलता को आमंत्रण देती है। निराश व्यक्ति पुरुषार्थ रहित होकर केवल कल्पना ही किया करता है:—

कल जो सोचा था वह सचमुच आज हुआ क्या ?
कभी लक्ष्य तक पहुँचेगा यह जीवन-कछुआ क्या ?
कितनी इच्छाएँ ये प्रतिदिन डूब रही हैं,
किन्तु भरेगा जीवन का यह अंध-कुआँ क्या ?

मनुष्य की यह उधेड़बुन उसे कहीं का नहीं रखती। अपने को अभागा समझने वाला इन्सान अपने साथ बहुत बड़ी गद्दारी करता है। उसे चाहिये कि भाग्य को कोसने वाली इस मनोवृत्ति का त्याग करे तथा आन्तरिक सामर्थ्य को जगाए। उसके

सामने अनन्त कार्य-क्षेत्र विशाल सागर के समान फैला हुआ है। अकिंचन बनकर तट पर बैठे रहने से काम नहीं चल सकता।

समय का प्रवाह अनवरत बहता रहता है, एक क्षण के लिए भी नहीं रुकता। उसे नष्ट कर देने का अर्थ है जीवन को नष्ट कर देना। आत्म-शुद्धि और आत्म-उत्थान का इष्ट कार्य इसी क्षण से, जो कि वर्तमान है, प्रारम्भ कर देना चाहिये। न तो व्यक्ति को बीते हुए निष्फल क्षणों के लिये पश्चात्ताप करते रहना चाहिये और न ही भविष्य की चिन्ता में घुलना चाहिये। किसी कवि ने कहा भी है—

त्याज्या भविष्यताश्चिन्ता नैव सा कार्यसाधिका।
क्रियते चेत् तदा कार्या, चारित्रस्य समुन्नते॥

—भविष्य की चिन्ता छोड़ देनी चाहिए, उससे कोई कार्य सिद्ध नहीं होता। यदि चिन्ता की ही जाय तो चरित्र की उन्नति की करनी चाहिए।

जिस व्यक्ति को अपने चारों ओर विघ्न-बाधाएँ ही दिखाई देती हैं, उसका आत्म-बल क्षीण हो जाता है। फलस्वरूप नाना प्रकार की कुवृत्तियाँ उसे घेर लेती हैं। 'मैं' और 'मेरी' के संकल्प-विकल्प में पड़कर वह अपनी वास्तविकता को भूल जाता है। उन संकल्प-विकल्पों का कभी अन्त नहीं आता, कदाचित् पुण्ययोग से एक संकल्प पूर्ण हो जाता है तो अन्य अनेक नवीन संकल्प उत्पन्न होकर उसे चुनौती देते हैं। इस प्रकार संकल्पों की यह श्रृंखला जीव को कभी चिन्ताहीन नहीं होने देती।

इसलिए विवेकशील पुरुष राग और द्वेष का सर्वथा परित्याग करके समभाव को अपना लेता है। समभाव प्राप्त कर लेने पर आत्मा में ऐसी अपूर्व और अनिर्वचनीय शीतलता आ जाती है जो केवल अनुभवगोचर है। आत्मा समस्त प्रकार के संतापों से मुक्त हो जाती है और अपने ही स्वरूप में रमण करने लगती है। समभाव से विशुद्ध आत्म-परिणति होती है और आत्मा मुक्तावस्था को प्राप्त होती है। कहा गया है—

समभावभावियप्पा, लहेइ मुक्खं न सन्देहो।

—जो आत्मा समभाव से भावित है, उसे मोक्ष की प्राप्ति होती है, इसमें लेशमात्र भी सन्देह नहीं है।

बन्धुओ! समय हो चुका है, किन्तु आशा है आपने मेरे विचारों को समझ लिया होगा तथा जान लिया होगा कि किस प्रकार पापी से पापी व्यक्ति भी पश्चात्ताप और आलोचना के द्वारा अपनी आत्मा को हलकी बनाता हुआ उसे शुद्धता की ओर ले जा सकता है तथा सदा के लिए जन्म-मरण के चक्र से छूट सकता है। □